अनुभूति और चिन्तन

(आधुनिक साहित्य पर आलोचनात्मक निबंध)

लेखक

कमलेश गौड़

हिन्दी-प्रवक्ता

नेशनल कालेज, लखनऊ

प्रकाशक

नवयुग ग्रन्थागार

सी० ७४७ महानगर

लखनऊ

प्रकाशक
नवयुग ग्रन्थागार
सी. ७४७, महानगर
लखनऊ ६

प्रथम संस्करण—१९६६
मूल्य ७·५० रुपये

मुद्रक
विद्या मुद्रणालय
११७ ड्योढ़ी आगामीर,
लखनऊ

अनुभूति और चिन्तन

अपनी बात

'अनुभूति और चिन्तन' मेरे विचारों का संग्रह है। किसी साहित्यकार की कृति को पढ़ने के बाद मैं स्वाभाविक रूप से उस पर सोचने को बाध्य हो जाता हूं— उसी सोचने के दौरान में कुछ विचार आते हैं, उन्हीं को एकत्रित करते करते 'अनुभूति और चिन्तन' को रूप मिल गया।

साहित्य, धर्म और संस्कृति इन तीनों पर पढ़ने में आनन्द आता है। मानव की भाव-प्रधान अभिव्यक्ति, भाषा का कलेवर लेकर साहित्य का रूप ले लेती है, समाज के नियमन और अध्यात्म चिन्तन के फलस्वरूप धर्म आया और समाज की अभिरुचियों के परिपक्व होते होते, रुचियों के परिष्कार ने संस्कृति को जन्म दे दिया फल यह रहा कि, मानव समाज के विकास में इन तीनों का महत्व है, बल्कि तीनों सहायक हैं—साहित्य, धर्म तथा संस्कृति। इसीलिए इनका अध्ययन आवश्यक लगता है साहित्य का अध्ययन अधूरा लगता है जब तक इनका समावेश भी अध्ययन में न हो। यही कारण है कि संस्कृति, साहित्य, तथा धर्म पर भी मैं सोचने को बाध्य हुआ हूं। यह जानता भी हूं कि अभी ककहरा ही इन विषयों का पढ़ पाया हूं–अभी पढ़ने के मार्ग में हूं–यह दृष्टि मुझे मिली है मेरे विद्वान गुरू डॉ० केसरी नारायण जी शुक्ल के द्वारा। उनको धन्यवाद देकर मैं अपने इस गुरु ऋण को हल्का नहीं बनाना चाहता।

खेद इस बात का है कि प्रत्यक्ष रूप से वे मुझसे दूर हैं, परन्तु उनके द्वारा दिए गए गुरु मंत्र मेरे कानों में अब भी गूंज रहे हैं। इसीलिये उन्हें सदैव मैं अपने निकट ही पाता हूं। इस सम्बन्ध में डॉ० दीनदयालु जी गुप्त श्री अयोध्या नाथ जी शर्मा तथा डा० त्रिलोकी नारायण जी दीक्षित भी श्रद्धा के पात्र हैं जिनसे मुझे सदैव प्रेरणा ही मिलती रही है।

विशेष आभार मैं अपने मित्रों का प्रकट कर रहा हूं— भाई डा० पुत्तूलालजी शुक्ल तथा डा० कृष्ण बिहारी जी मिश्र तथा भारत के प्रसिद्ध वायलिन वादक श्री गोपीनाथ गोस्वामी एवम् श्री रमाशंकर शर्मा से भी बात करके, साहित्यिक चर्चा के बीच कुछ न कुछ सीखता ही रहा हूं। कहकहों के बीच किसी निष्कर्ष पर पहुंच जाना, बात बात में ही एक निश्चित धारणा पर आ जाना, इनके ही मध्य हुआ है।

इन लेखों के विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है, जैसे हैं आपके सामने हैं। बहुत सतर्क रहने पर भी प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धिया रह ही गई है।

अन्त में भाई रामेश्वर तिवारी को भी धन्यवाद दे दूं, जिनके कि सतत प्रयत्न ने मेरे इन विचारों को आपके समक्ष ला दिया। मेरे निकट के सम्बन्धियों ने भी इसमें योगदान दिया, श्रीमती रमा गौड़ ने कभी कभी प्रूफ संशोधन और कभी-लेखों को देखा, आदरणीय चाचा जी श्री राधेश्याम गौड़ भी अपनी सम्मति देते रहे। बहिन सुधा की पढ़ाकू प्रवृत्ति से भी कुछ सीखा ही है, जो सवेरे एक पुस्तक लेकर बैठ जाती तो शाम को समाप्त करके ही उठती।

सी/ए ३१, महानगर,
लखनऊ
२० नवम्बर, १९६५

——कमलेश गौड़

विषय-सूची

साहित्य के सृजनात्मक तत्व — १–१५

द्विवेदी युग और निबन्ध — १६–२२

काव्य की मनोभूमि में होली — २३–२६

उर्दू काव्य में चेतना और जीवन के व्यापक स्वर — २७–३२

वर्तमान साहित्य की रूपरेखा — ३३–४६

यथार्थ प्रतीक और आदर्श — ४७–६५

साहित्य और सामंजस्य की धारणा — ६६–७९

आदर्शवाद — ८०–८३

भक्ति के दार्शनिक स्रोत — ८४–९३

दिनकर का व्यक्तित्व और उनका काव्य — ९४–१२०

सन्त और प्रेम काव्य का धरातल — १२१–१३३

भारतेंदु साहित्य का स्वरूप एवम् आधार भूमि — १३४–१५०

काव्य में अभिव्यक्ति और सौन्दर्य — १५१–१६२

इधर का कथा साहित्य — १६३–१७२

सांस्कृतिक विकास — १७३–१८४

भारतेन्दु युगीन काव्य एवम् निबन्ध की रूपरेखा — १८५–

प्रकाशक की ओर से

श्री कमलेश गौड़ की कृति 'अनुभूति और चिन्तन' का प्रकाशन करके मुझे हर्ष हुआ। लेख तो आपके समक्ष हैं, उसके मर्मज्ञ तो पाठक ही हैं, उसके विषय में मैं क्या कहूं, नहीं जानता। हां. लेखक को बहुत निकट मैं जानता हूं—उठते, बैठते उन्हें देखा है, परखा है। अपने चिन्तन और विश्लेपण मे वे सदा ईमानदार और निष्पक्ष हैं—निष्पक्ष रहना उनकी प्रवृत्ति बन गई है। इसलिए मुझे विश्वास है कि अपने दृष्टिकोण में भी उनकी वही प्रवृत्ति अधिक सक्रिय होगी।

मैंने निवेदन किया कि मैंने उन्हें जीवन में बहुत निकट से देखा है—अपनी मस्ती और स्वाभाविक-हंसी में वे जीवन की विषमताओं को कुछ क्षणों के लिए भूल जांय परन्तु उसके प्रति जागरूक तो रहते ही है। यही जागरूक रहना उन्हें यथार्थ के अधिक निकट रखता है। आदर्श उनके जीवन में है, परन्तु वे आदर्श यथार्थ के आधार पर ही आधारित हैं। मानव के से अभाव उनमें भी हैं, भुलक्कड़ बहुत—कभी कभी मन उस भूल पर ऊबा और बिगड़ा भी है परन्तु उन्हें समक्ष देखते ही और उनसे उन भूलों का कारण सुनते ही गुस्सा कहीं ऐसा लगता है काफूर हो गया। कहने का तात्पर्य यही कि ज्वलन्त और ईमानदार व्यक्तित्व—सरल और स्पष्ट हंसी में मन भाव सर्वदा उमड़ कर स्पष्ट मुखाकृति पर आ जाते हैं कहीं दुराव नहीं, छिपाव नहीं इसी लिए मैंने प्रकाशन के लिए उनकी कृति चुनी, क्योंकि मुझे लेखक और उनकी प्रवृत्तियों में साम्य मिला यह नहीं कि सोचना कुछ और कहना कुछ। नेताओं के निकट रहते हुए भी उन पर नेताओं की यह छाप नहीं। जो पहिली बार मिला वह प्रभावित हुआ, और जीवन भर मित्र बना रहा। थोड़ा सा इनकी प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डाल दूं, कि सामने लम्बी बहुत दूर तक जाती हुई सड़क हो, उस पर वृक्ष हों, न हों, उस पर चलने में इन्हें आनन्द आता है। अधिक वृक्ष तथा उनका तनोंवा आकाश की स्वाभाविक सुषमा को नष्ट कर देते हैं।

'मुझे मुस्कान में आनन्द नहीं आता, कवियों को मुस्कान अच्छी लगी हो परन्तु मुस्कान तो स्वाभाविक और उमड़ते हुए, आन्तरिक भावों को दबा लेती है। मुझे अल्हड़ और मुक्त हंसी अच्छी लगती है जिसके कहकहे आन्तरिक भावों की अन्तिम ध्वनि को भी अभिव्यक्त कर देते हैं।"

इस प्रकार से उनके विचार अपने, अलग हैं। जीवन और अपने रहन-सहन में भी उतने ही परिष्कृत जितना अपने विचारों में। सौन्दर्य दृष्टि निखरी हुई, परिपक्व, जिस पर कहीं मैलापन नहीं, और बनावट भी नहीं। मैं तरसता रहा यह देखने को कभी इनके कमरे में कागज फैले मिलते, अस्त-व्यस्त कमरा होता, यह सब कभी नहीं मिला। इसके ठीक विपरीत साफ रगड़ी हुई कमरे की फर्श—संयत ढंग से लगाई गई कुर्सियों की कतार—ताजे फूल—महक हो न हो—गुलदस्ते में रखे हुए। वह कमरा साहित्यिक का लगा ही नहीं—इनके व्यक्तित्व में जितनी परिपक्व अभिरुचि है उतनी ही चुस्ती कमरे में भी मिली, जिसका वातावरण सदा रोबदार मिला। प्रत्येक वस्तुएँ संयत कहीं फैली नहीं, बिखरी नहीं।

मैं इनकी प्रवृत्तियों का वर्णन इसलिए कर रहा हूं कि ये इनके विचारों की वाह्य आकृति हैं। कमलेश जी कविताएं भी लिखते हैं पहिले के लिखे हुये बहुत से गीत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये। 'सुकवि' में यह निरन्तर रूप से लिखते रहे परन्तु अब गीत कम अतुकान्त, चिन्तन प्रधान कविताएँ, अधिक जिसे सुनाते बहुत कम हैं।

'आकाश वाणी' से प्रायः आपके द्वारा लिखे स्केच और मीमांसाप्रधान लेख सुनने को मिलते है। अबतक तीन कृतियां इनकी प्रकाशित हो चुकी हैं। 'साहित्य-चिन्तन' लेखों की पुस्तक है। साहित्य-दर्शन और परीक्षण इनके द्वारा सम्पादित लेखों का संकलन है।

इन शब्दों के साथ 'अनुभूति और चिन्तन' आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूं। अब आप देखें कि लेखक ने अपनी रुचियों के साथ किस अंश तक वाह्य और आन्तरिक समन्वय किया हैं।

—रामेश्वर तिवारी

साहित्य के सृजनात्मक तत्व

मानव के हृदय मे भावनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है, अन्य आन्तरिक प्रवृत्तियों के साथ ही साथ मानव में भावना का भी जन्म हुआ होगा। आदि काल का मानव इतना ही संवेदन शील, स्पन्दन युक्त और भावुक भी रहा होगा, हो सकता है कि भावुकता के स्तर में अन्तर हो गया हो। बुद्धि के विकास के साथ ही साथ भावुकता में भी श्रेणी गत अन्तर होता गया हो, और यह भी सम्भव है कि वह अन्य विकास की ओर उन्मुख हो, परन्तु भावुकता का वीज जो कि मानव के अन्तस्थल में घंस गया है उसका मानव मन मे कभी कोई स्थान ही न रहा हो, यह सम्भव नही प्रतीत होता। अतएव यह स्पष्ट है कि मानव की आदि वृत्तियों के साथ ही साथ भावना का जन्म हुआ और यही भावना साहित्य के प्रेरक तत्व के रूप में है, क्योंकि मानव मन में यह आदि काल से व्याप्त रही है। भावुकता अथवा भावना में श्रेणी गत अन्तर होता है इसका तात्पर्य यही कि भावनाओं के ऊपर समाज का भी प्रभाव पड़ता है और उक्त प्रभाव के फलस्वरूप साहित्यकार की भावना एक मूर्त रूप धारण करती है। अव्यक्त भावनाएँ भी मूर्त रूप धारण करने के लिए कभी-कभी बहुत प्रवल हो जाती है और यह स्थल तव का होता है जव मनः स्थिति एक विन्दु पर केन्द्रित होकर रुक जाती है। मनः स्थिति का केन्द्रीकारण भी वाह्य वातावरण पर निर्भर रहता है। रात के सन्नाटे में वैठ कर सोचना अथवा दिन के कोलाहल और व्यस्त जीवन के वीच वैठकर सोचना की वाह्य अवस्था में अन्तर है। आंग्ल कवि वर्डसवर्थ की डेफोडिल्स की रचना[1] 'एकान्त के वरदान' में हुई परन्तु उस वर-

---

[1]

ह्वेएवर इन माइ कोच आइ लाइ,
इन वेकेन्ठ आर इन पेंसिव मूड,
दे वाक अपान दि इन वर्ड आइ,
विच इजद व्लिस आव सालिट्यूड,

(डेफाडिःस—वर्डसवर्थ)

दान का सूत्रपात्र बहुत पहले ही हो चुका था रचना और उसकी पृष्ठभूमि में अन्तर है परिस्थितियों का। सूत्रपात के समय कोलाहल और भावों का केन्द्रीकरण नहीं हो सका था, हाँ, स्वस्थ रूपरेखा साहित्यकार के उर्वर मस्तिष्क में अवश्य खिंच गयी थी, परन्तु इसी पर डेफोडिल्स का निर्माण हुआ। बाद में एक विशिष्ट वातावरण में भावना अपना संयत-रूप धारण कर लेती है उक्त समय के यदि किन्हीं गत बातों से सम्बन्ध हुआ तो एक-एक करके सभी बातें तारतम्य के साथ मानस पटल पर आती जाती हैं और इसी स्थल पर भावना का साथ हो जाने पर साहित्य सृष्टि हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि सभी भावनाएँ इस प्रकार से फल फूल क्यों नहीं पाती हैं, क्यों साहित्यकार के मस्तिष्क में आये हुए सभी विचार बढ़ नहीं पाते, और सभी भावनाएँ मुखर नहीं हो पाती। एक ही दृश्य को देखने के पूर्व संचारी भावों का एक साथ उदय होता है और उन्हीं के अनुसार भावनाएँ भी अपना प्रभाव छोड़ना चाहता है, यह प्रभाव रह नहीं पाता, उसमें स्थायित्व नहीं आता, स्थायित्व इसी विचार में आ पाता है जिसमें वातावरण के प्रति सूक्ष्म बनने की क्षमता होती है। एक विकलाँग, कुष्ट गलित व्यक्ति को देखकर दया, दबी हुई घृणा (उसके रूप पर जो दयनीय स्थिति को पार कर चुका है।) और ग्लानि होती है। इस प्रकार से एक ही केन्द्र से कई भावों की स्थितियों का उद्भव हुआ, परन्तु साहित्यकार जो इस दृश्य से प्रभावित होगा वह सर्व प्रथम दया और करुणा की ही बात करेगा और इस प्रकार उसकी कृति में करुण रस की प्रधानता होगी, ग्लानि और घृणा की भावना हटती सी प्रतीत होगी। इन दोनों तत्वों का स्थान रहेगा परन्तु प्राथमिक रूप में नहीं गौण रूप से। प्राथमिक रूप से कार्य करने वाला होता है, साहित्यकार का स्वभाव और उसका आन्तरिक पक्ष। यदि दूसरे शब्दों में कहे तो यही की साहित्यकार के आन्तरिक और बाह्य वातावरण का भी सम्बन्ध आवश्यक है। साहित्यकार का आन्तरिक पक्ष यदि बाह्य वातावरण से सामंजस्य नहीं कर पाया तो साहित्य सृष्टि उस दशा में संभव नहीं हो सकेगी। 'अज्ञेय' के शेखर और भुवन के सफल व्यक्तित्व का चित्रण साहित्यकार के मन के आन्तरिक और बाह्य समंजस्य के फलस्वरूप ही हो सका है। होरी में प्रेमचन्द का दबा और विप्लवी रूप, शेखर में अज्ञेय का बौद्धिक विकास, और भुवन में बौद्धिक विलास से दबी हुई एक भावना मुखरित हुई है। अब प्रश्न यह है कि प्रेमचन्द होरी के चित्रण में क्यों इतने सफल हो सके हैं। कारण यह है कि होरी में प्रेमचन्द्र की अनुमति और गाँवों की दरिद्रता का आँखों देखा और अनुभव किया हुआ चित्र है, और इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रेमचन्द अन्तर से विलासी नहीं हैं इसलिए विप्लवी और सच्चे

आदर्शवादी व्यक्तित्व का चित्रण कर पाये हैं। यदि विहारी के सामने एक क्या सैकड़ों होरी अपना पेट दबाए हीनावस्था लिये बैठे रहते, तब भी उनकी दृष्टि और अनुभूति उस तक केन्द्रित नहीं होती। होरी उनके काव्य का पात्र हो ही नहीं सकता था, आंख वहाँ गड़ न सकती, जाती और फिसल जाती, इसके ठीक विपरीत प्रेमचन्द का क्रांतिकारी पक्ष ऐसी बातों को ले उड़ा है और जहाँ ऐसी बातें आई हैं वहाँ उनके पौरुष को जमाने में सहायक सिद्ध हुई है। 'अज्ञेय' का 'शेखर' बौद्धिक हैं, ऐसा बौद्धिक जो जीवन की चट्टानों से टकरा कर कुछ सीखता है, वह अपने जीवन में पूर्ण है—प्रेमी है, कर्तव्यनिष्ट है और क्रान्तिकारी भी है—किसी भी सिद्धान्त को (सामाजिक अथवा राजनीतिक) वह यों ही नहीं मानता, अतएव अज्ञेय का व्यक्तित्व वातावरण से पूर्ण सामंजस्य करता सा प्रतीत होता है। तभी लेखक अपने व्यक्तित्व को भूल जाता है और और अपने नायक के स ाथ ही बोलने लगता है। साहित्यकार की कृति में व्यक्तित्व की यही सफलता है।

यह तो साहित्य सृष्टि का कारण रहा। अब हमें अध्ययन यह करना है कि ऐसा साहित्य जो इस माध्यम को लेकर आता है उसमें सार्वभौमिकता क्यों रहती है। यह हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि भावना की दृष्टिमानव में आन्तरिक चेतना के उदय के साथ ही साथ हुई अश्रु रुदन, हास चीत्कार विभिन्न मनः स्थितियों के वाह्य संकेत है। मानव अनुभव ने शरीर पर पड़े हुये वाह्य दुख की आन्तरिक अभिव्यंजना की। यही भावना का यह रूप साहित्य में प्रमुख स्थान रखता है। प्रत्येक का सुख दुख और सुख दुख में अनुभव की जाने वाली भावना सबकी एक सी हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति पीड़ा होने पर कराह उठता है और प्रसन्न होने पर नाच उठता है क्यों ? इसलिये कि भावनाओं में एक सी ही अनुभूतियाँ हैं। वाह्य पक्ष प्रबल है, अन्तर पक्ष एक सा है, अतएव एक कवि का सुख दुख और उसका स्थाई कारण सम्पूर्ग समाज के सुख दुख का स्पष्टीकरण कर देता है। सीता की अग्नि परीक्षा और शकुन्तला के आर्तनाद की कल्पना करके सभी दुखी हो जाते हैं सीता और शकुन्तला का सा ही धड़कता वक्ष सभी के पास है—यही भावों की समानता है। भावों की समानता यदि न हो-तो साहित्य सृष्टि न हो पाती। दुख या चीत्कार ही तो साहित्य नहीं, वह साहित्य का अवलम्ब है, उपकरण है। इसी अवलम्ब पर आधारित है, साहित्य। यदि ऐसा न होता तो शकुन्तला के विरह की कातर वाणी को पढ़कर पाठक दुख का अनुभव न करता और दुष्यन्त-शकुन्तला मिलन पर पाठकों के हृदय में एक रागात्मक प्रवृति पैदा न होती। अतएव मानव प्रकृति की एकरूपता भी साहित्य के रचनात्मक तत्वों में से एक है।

धीरे-धीरे यह भाव विकसित होता जा रहा है। मनुष्य की दृष्टि ज्यों-ज्यों विस्तृत होती जा रही है साहित्यकार का मानसिक स्तर उतना ही विकसित हो रहा है। प्रकृति को देखने के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हो रहा है। पहिले के हिन्दी साहित्य के वर्णन में कवि की मन प्रकृति के सुख दुख में साथ नहीं देता था न और उसके सुख दुख में प्रकृत्ति भी साथ नहीं देती थी। आज का साहित्य का प्रकृति के दुख में अपना दुख मानता है। अपने दुख में प्रकृति भी उसे दुखी होती दिखाई पड़ती है—यह उसके 'आत्म का विकास' है। जब साहित्यकार का 'आत्म' इतना ऊपर उठ जाता है, कि वह कुछ रह ही नहीं जाता तभी उसका आत्म - विकास हो पाता है और उसकी साहित्य सृष्टि का कारण बन जाता है इस सृष्टि में प्रधान रूप में ये तत्व कार्य करते हैं। १—ऐतिहासिक आधार, २—सौन्दर्य बोध की भावना और ३—वातावरण का प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया।"

साहित्य सृष्टि में साधारण भावों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। कालीदास के काल के शास्त्री अंगों पर विचार करके यह नहीं कह सकते, कि 'कुमार सम्भव' और 'रघुवंश' एक सफल रचना है। तुलसी के मानस की अलंकारिक चमक-दमक ही सब कुछ नहीं है, उसमें मानव का हृदय है हृदय की सम्वेदना तथा आदर्श है। हम उसी साहित्य को सफल साहित्य कह सकेंगे जिसमें व्यक्ति के सुख दुख और उसके आदर्शों की झाँकी मिल सकती है। अब हमें यह विचार करना है कि ऐसा साहित्य बनता किस प्रकार है। देश की साधारण जनता के मस्तिष्क में जो कहानियाँ किस्से आते हैं वे धीरे-धीरे प्रचलित होते रहते हैं इस प्रकार से कुछ छोटे-छोटे विश्रृंखलित भाव मस्तिष्क में चक्कर काटते रहते हैं किन्तु कवि के हाथों में पड़ कर यह भाव अत्यन्त विस्तृत रूप धारण कर लेते हैं। वे कुछ सास्कृतिक परम्पराओं से तथा राजनीतिक परिस्थितियों से होते हुए उनसे प्रभावित महाकाव्य हो जाते हैं। महादेव और पार्वती की कहानियाँ, राम सीता की कथा युधिष्ठिर के सत्यव्रती होने की कथा ही सूत्र में बंध कर महाकाव्य बन गई। यही कारण है कि भावना के मौलिक सूत्रों में तो कोई अन्तर नहीं मिलता परन्तु गौण सूत्रों में अन्तर मिल जाता है पहाड़ियों के बीच की प्रचलित रामायण में हम सीता को राम की बहन के रूप में जानते हैं। उनके यहाँ बहन (चचेरी) और भाई के बीच विवाह प्रथा प्रचलित थी। इस कारण सीता राम की बहिन मानी गई। यह उस स्थान की ऐतिहासिकता का प्रभाव है रामायण पर। यह तो कथावस्तु का अन्तर हुआ। टेकनिक का भी अन्तर पाया जाता है। गावों की टूटी फ़ूटी भाषा में कुछ ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जो पुराणों से सम्बन्धित होती हुई भी पुराणों से नहीं मिलती यही कहानियाँ हैं जिन्हें कवियों ने छन्द बद्ध कर डाला है। साधारण जनता के

बीच से उठकर जब अपनी कविताओं को उन्हें राज प्रासादों को सुनाना होता था तभी ऐसी प्रचलित कथावस्तु को सुगठित छन्दों में बांध दिया जाता था। प्राचीन को नवीन बनाना यह सदा ही से कवि को इष्ट रहा है। वाल्मीक की ऐतिहासिक रामायण को तुलसी ने नई तथा युगों की समस्या को हल करने के रूप में देखा। राम राज्य की कल्पना करके उन्हों ने अपने समय की प्रचलित राज्य व्यवस्था के प्रति शान्ति पूर्ण विद्रोह ही किया। यह विद्रोह काल्पनिक ही सही, परन्तु विचारों काही विद्रोह बढकर उग्र रूप ले लेता है। अन्त में एक सुगठित राज्य की रूपरेखा भी बताई गयी है। तुलसी के ऊपर पड़े हुए बाह्य प्रभाव का ही यह फल है। भाई-भाई का आदर्श बतलाया गया है। तुलसी का युग एक ऐसा युग था जब राज्य के मामलों में उसके उत्तराधिकारियों से झगड़ा होता था। कवि ने राम के त्याग की भावना दिखला कर एक आदर्श की स्थापना की है। मैथिलीशरण और आगे आये। उनकी दृष्टि उपेक्षिता उर्मिला पर पड़ी। उर्मिला में उन्होंने त्याग, बलिदान तथा सम्मान अधिक देखा, और वह युग दलितों को सहारा देने, गिरों को उठाने तथा अछूत उद्धार का युग रहा है। गांधीवादी विचारों का प्रभाव उत्त युग पर पूर्णरूप से रहा है। गुप्त जी की दृष्टि राजनीतिक परिस्थितियों से छन कर सामजिक आदर्शो तक आई। उर्मिला इन परिस्थितियों के बीच बढ़ी और गुप्त जी के व्यक्तिगत आदर्शों ने उसके त्याग मय प्रम को पहचाना, वह नायिका बन गई। इस प्रकार से कोई भी कथा का सूत्रपात जनता के हृदय में होता है, कवि की लेखनी का आधार पाकर वह बहुत ऊँचा उठ जाता है। मुकुन्दराम की चंडी, धर्मराम का धर्म मंगल, बंगाल की छोटी-छोटी कहानियों से सम्बन्धित हैं। पंचतंत्र, कथा सरित्सागर, और इंग्लैण्ड के आर्थर की कहानी इसी प्रकार उत्पन्न हुई।

इस प्रकार से यह सत्य है कि ऐतिहासिक आधारों को लेकर भी साहित्य सर्जना होती है। साहित्य सृष्टि केवल ज्ञान व तत्व विवेचन के आधार पर नहीं होती। उसके लिए वातावरण की आवश्यकता होती है और फिर वह वातावरण यदि कवि के अन्तर से सामंजस्य कर गया, तो इन दोनों के सहयोग से जो काव्य-सृष्टि होती है, वही स्वाभाविक होती है।

ऐतिहासिक आधारों के अतिरिक्त सौंदर्यबोध की भावना भी अपना विशेप महत्व रखती है। सौंदर्यबोध की भावना से तात्पर्य सौंदर्य की ओर मानव की रुचि के आन्तरिक झुक.व से है। सौदर्य के परखने की भावना मानव के अनुभूतियों के साथ इतना घुल-मिल गई है कि अनुभूति के परे ऐसी भावना को पृथक-पृथक स्थान देना अथवा पृथक रूप से आंकना सम्भव नहीं प्रतीत होता और सौंदर्य बोध की परख में भी बुद्धि के बिकास के साथ ही अन्तर होता चलता है। बुद्धि

का परिष्कार सौंदर्य बोध की प्रगति का ही आधार लेकर चला है। एक बच्चे का उदाहरण हम लें, वह गुलाब के फूल की ओर आकर्षित होता है। उस फूल की सुषमा उसके रंग और बनावट के महत्व से ही मिलकर बनी है। इस लिए यह कहना कि फूल के प्रत्येक अंगों के विश्लेषण के पश्चात् बच्चा उसकी सुषमा की ओर आकर्षित हुआ यह ठीक नही। उसका आकर्षण तथा उसकी दृष्टि के आर्कषण के आधार रूप है बच्चे की मनोवृत्ति। अब हम परिष्कृत एवं विकसित मस्तिष्क को लें, वह भी फूल की कमनीयता की प्रशंसा करता है, परन्तु उस प्रसंशा का प्रोसेस दूसरा है सम्भवतः उसका विकसित मस्तिष्क पुष्प के प्रत्येक अंगों की विश्लेषणात्मक व्याख्या के पश्चात् ही सौन्दर्य कोअपना पाया हो। कहने का तात्पर्य यह कि सुन्दरता की ओर आकर्षण प्रारम्भ से ही है मानव में जन्मजात है। प्रवृति मूलतः यही है, परन्तु अवस्था, अनुभव मस्तिष्क का परिष्कार इस मूल प्रवृति में बहुत कुछ योग दे देता है। यही सौंदर्य मानव की प्रगति का मेरुदण्ड है। सौदर्य की अनुभूति और उस अनुभूति को परिष्कृत करने की प्रवृत्ति से ही साहित्य में इन गुणों का विकास हुआ होगा। यह क्रिया मानसिक विकारों के साथ-साथ बढ़ती गई। साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को लीन करके, परिस्थितियों से समन्वय करके ही सूक्ष्म सौंदर्य की व्याख्या कर सका होगा। यह दशा तभी की हो सकती है जब मानव इतना चेतनशील हो गया होगा कि अपने वाह्य का आन्तरिक समन्वय कर सके। टैगोर के शब्दों में आनन्द की पूर्णता सत्य की पूर्णता में है और सत्यकी पूर्णता के द्वारा ही सौंदर्य की सृष्टि होती है। सौंदर्य से तात्पर्य यहाँ किसी विशेष सौंदर्य से नहीं परन्तु सौदर्य के व्यापक रूप से है। उसके सार्वभौमिक रूप से है। संसार की कोई वस्तु को सौंदर्य दृष्टा असुन्दर कहने पर उद्यत नहीं होता। इसका कारण केवल यही है कि वह अपनी आन्तरिक दृष्टि से जब किसी वस्तु को देखता है तो वह उसकी उत्पत्ति और मूल पर विचार करता है। उसके पूर्वा पर विचार करते ही वह उसे सुन्दर पाता है। दूसरी बात अनुभूति के साम्य के कारण सौदर्य को परखने की कसौटी केवल एक ही है—वह है आन्तरिक चेतना में साम्य। गुलाब का फूल सभी को सुन्दर लगता है। क्यों? केवल योलिए कि सभी की मूल रुचि का स्त्रोत एक सा है। एक स्थिति और होती है। प्रकृति वादी (Naturalist) मानते हैं कि पुष्प की सुन्दरता मे प्रसन्नता, तादात्मय की स्थिति पुरुष विशेष की मनोदशा पर आधारित रहा करती है। एक दुःखी को वातावरण भी उतना दुखी लगेगा जितना कि उसका संचित दुःख। इस लिए कुछ वस्तु सुन्दर होने के साथ ही साथ (विशेष अवस्था में) प्रसन्नता अथवा शान्ति दे सकने में असमर्थ भी होती है।

जो मंगलमय है वह भी सुन्दर माना गया है। साहित्य में मंगल की तमाम भावनाएँ सुन्दर ही प्रतीत होती हैं। वास्तव में जो वस्तु मंगलमय होगी वह हमारी आवश्यकता को पूरी करेगी और वह सुन्दर भी होती है अर्थात् उस वस्तु के द्वारा काम हो जाने के बाद भी, तृप्ति प्राप्त होने के पश्चात् भी, उसकी आकर्षण शक्ति में कमी नहीं होगी, इसलिए आकर्षण का शाश्वत होना एक वस्तु को सुन्दर बना देता है। सभी सुन्दर वस्तुओं का संसार के मंगल के साथ सामन्जस्य है। यही मंगल का तन्तु एक व्यक्ति को संसार के अन्य व्यक्तियों से जोड़ता है और तभी उसका कार्य संसार के मंगल के लिए हो जाता है।

संसार में इसी सौंदर्य की अपनी एक विशेष महत्ता है। कवि अपनी अनुभूतियों के सहारे एक सत्य की सर्जना करता है। उस सत्य को सभी अपना लेते हैं। अपनाने का कारण भी यही है कि उस सत्य में सभी अपने व्यक्तित्व का आभास पाते हैं। साहित्य ही क्यों, कला, जो अनुभूति पर आधारित है वह नित्यकी लीलाओं में ही सुन्दर मय भगवान का दर्शन कर पाती है।[1]

---

१ "आधार एक ही है मनुष्य की भावना ने जिसकी महत्ता का अनुभव किया उसकी अर्चना के लिए सैकड़ों मन मिट्टी पत्थर तथा चूने ला-ला कर के एक मन्दिर तैयार कर दिया।"

—साहित्य और सौंदर्य
रवीन्द्र ठाकुर

द्विवेदी-युग और निबन्ध

निबन्ध की कोई सर्वमान्य परिभाषा नही दी गई है। समय-समय पर परिभाषायें बदलती रही है। यदि निबन्ध शब्द पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'निबध्नातीत निबन्धः[1] जो कि बंध जाता है अथवा जिसमें विचार बंध जाते है वही निबन्ध है। निबन्ध शब्द की ध्वनि से भी यही स्पष्ट होता है, कि निबन्ध वही है जिसमें हमारे विचार, भाव अपनी सीमा में बंधे होते है। हिन्दी के आलोचकों ने भी इस शब्द की कोई अपनी परिभाषा नही दी है। आचार्य शुक्ल, 'यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है',[2] यही उक्ति कह करके निबन्ध के विषय में शान्त रह गये हैं। यह स्पष्ट हैं कि उक्त बात से निबन्ध की कोई परिभाषा नही मिल पाती।

मौण्टेन ने निबन्ध को साहित्य की वह विद्या माना है जिसमे लेखक के आत्म प्रकाशन का प्रयास मात्र रहता है। फ्रांसिस बेकन ने निबन्ध को 'विकीर्ण चिन्तन' के रूप में माना है। डॉ० जानसन ने निबन्ध को मस्तिष्क का शिथिल प्रकाशन[3] माना है तथा उनका कहना है कि उसमें क्रमबद्धता और एक श्रृंखला नही रहती। डॉ० जान्सन की यह परिभाषा कुछ उचित नही प्रतीत होती। निबन्ध में निबन्धकार के विचारों का एक क्रमबद्ध चित्रण रहता है, यदि चित्रण क्रमबद्ध न हुआ तो निबन्ध की असफलता मानी जाती है। अतएव डा० जान्सन की यह उक्ति कि Irregular Digested Piece है कुछ तर्क सम्मत नहीं प्रतीत होती। निबन्धकार के मानसिक स्थिति का स्पष्टी-

---

१ शब्द कल्पद्रुमः स्यात् राजा राधाकान्त देव बहादुरेण विरचितः द्वि० काण्ड सन् १८१४ ई० पृष्ठ ८८४।

२ हि० सा० का इति० पं० रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ५०५।

3 An essay is the salley of the must, an irregular undigested piece, not a regular and orderly composition.

Dr. Johnson.

करण ही तो निवंध का वाह्यस्वरूप है विषय चाहे जो भी हो, विषय की क्रमबद्धता उसका तार्किक आवेश निवन्ध को जन्म देता है। अतएव निवन्ध के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि निवन्ध, निवन्धकार के मस्तिष्क का तार्किक विश्लेषण है, ऐसा विश्लेषण जिसमें विषय का प्रतिपादन होता रहता है।

निवन्ध के स्वरूप को स्थापित करने में भी विभिन्न दृष्टिकोण हैं, और उन दृष्टिकोणों का अन्तर भी मौलिक है। निवन्ध शब्द का अर्थ जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है 'कसाव' अथवा 'तनाव' से है। 'कसाव' आन्तरिक और वाह्य दोनों आपेक्षित हैं। विचारों में क्रमवद्धता, और कसाव होना ही निवन्ध का लक्ष्य हैं। इससे तो पाश्चात्य लेखक भी पृथक धारणा नहीं रखते। आक्सफोर्ड कोष ने निवन्ध की परिभाषा में सामान्य लम्वाई[1] शब्द का प्रयोग किया हैं। इस प्रकार से लम्वाई के वारे में तो सभी एकमत हैं कि निवन्ध की लम्वाई असामान्य नहीं होनी चाहिए। यह तो वाह्याकृति का मूल्यांकन रहा, आन्तरिक अथवा विचारों के कसाव में ही मति की भिन्नता है और उस भिन्नता का आधार है अंग्रेजी का 'ऐसे' शब्द। 'ऐसे' का तात्पर्य 'प्रयत्न' होता है, अतएव निवन्ध की आकृति कैसी भी हो, लम्वाई कुछ भी हो उसके सीमित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके ठीक विपरीत हिन्दी के निवन्ध में निवन्धन का होना आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान माण्टेन ने निबन्धों में, निवन्धकार के व्यक्तित्व एवम् उसकी व्यक्तिगत भावनाओं के चित्रण पर अधिक जोर दिया है। माण्टेन के अनुसार निवन्धों में निवन्धकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व निखरा होना चाहिए, और उससे सम्वन्धित घटनाओं और वातावरण का भी चित्रण होना आवश्यक माना हैं, जिससे पाठक उससे आत्मीयता का अनुभव करें। इसके ठीक विपरीत भारतीय विचारकों द्वारा निवन्धों में, निवन्धकार के वाह्य वातावरण पर अधिक विचार न करके उसके (विचारों के) आन्तरिक पक्ष पर अधिक जोर दिया गया है। अतएव पाश्चात्य एवम् पूर्वी विचारकों के गद्य के स्वरूप सम्वन्धी विचार में यही अन्तर है कि एक निवन्ध में व्यक्ति के समूचेपन को देखता है, उसमें निजीपन को देखता है और दूसरा उसके निजीपन को भूलकर निवन्ध में वर्णित वस्तुतथ्य को प्रधान रूप में मानता है।

निवन्ध साहित्य-चेतना के विकास का एक चिह्न है। पद्य में तो कवि की कल्पना-शक्ति, उसकी अनुभूति एवम् भावना मात्र का ही चित्रण रहता है परन्तु गद्य-साहित्य विशेषतः निवन्ध, निवन्धकार के चेतन मन का ही प्रतिबिम्ब बिखेरता चलता है। भारतेन्दुयुगीन गद्य को पीछे छोड़कर द्विवेदीयुगीन गद्य अपनी चेतना और विश्लेषणात्मक प्रगति के एक अंश का पूरक प्रतीत होता है। भारतेन्दुयुगीन

---

1. 'A composition of moderate lengths......'
A new Oxford English Dictonary Vol. III, pp. 293.

गद्य और निबन्ध अपने शैशव-काल में थे, अतएव विचारों का उत्तम और गहन प्रदर्शन उस युग के निबन्धों में हमें नहीं मिल पाता जितना द्विवेदी-युगीन निबन्धों में। इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं महावीर प्रसाद द्विवेदी, गोविन्द नारायण मिश्र बालमुकुन्द गुप्त, माधव प्रसाद मिश्र, गोपाल राम गहमरी, सरदार पूर्णसिंह, मिश्र-बन्धु, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्याम सुन्दर दास, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, रामचन्द्र शुक्ल, पद्मसिंह, कृष्ण विहारी मिश्र, एवम् गुलाब राय।

महावीर प्रसाद द्विवेदी एक निबन्धकार के रूप में उतने महत्वपूर्ण और सफल नहीं हैं जितने कि भाषा के सुधारक और आलोचक के रूप में। द्विवेदी जी से अधिक (निबन्ध की दृष्टि से) उनका युग महत्वपूर्ण और सभी स्थलों पर सोचने वाला रहा है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने उर्दू और हिन्दी को मिलाने का प्रयास किया इस प्रकार से उनके लेखों में दोनों भाषाओं के प्रचलित प्रयोगों का संयुक्त उदाहरण हमें मिलता है। इनके निबन्धों का संग्रह 'गुप्त निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हुआ है। शिव शम्भु का चिट्ठा शीर्षक लेख विनोद से परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त मिश्रबन्धु भी अधिक उल्लेखनीय है। इनके साहित्य में गम्भीर लेखनशैली में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग यथेष्ट मात्रा में मिलता है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को एक नई चिन्तन धारा प्रदान की, तथा एक नया कदम इन्होंने साहित्य की भाव भूमि पर डाला, और वह था चिन्तन के रूप में। इन निबन्धकारों ने भारतेन्दु-युगीन शैली को ही अनुप्राणित किया है परन्तु मनोवैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक धरातल पर हिन्दी के साहित्यकारों को नवीन तर्क-शक्ति के द्वारा अनुप्राणित किया। इस प्रकार से यह स्पष्ट होता चलता है कि द्विवेदी-युगीन निबन्धों की भाव और विचार-धारा सांस्कृतिक एवं सामाजिक उलट-फेर को पीकर आगे बढ़ी है। निबन्धो में चेतना के विकास का यह दूसरा मोड़ है। इस काल के निबन्धों में हम निम्न भावनाओं का स्पष्ट चित्रण देखते है।

१. राष्ट्रीय भावना २. समाज-सुधार की भावना
३. धार्मिक भावना ४. आर्थिक भावना

राष्ट्रीय भावना से तात्पर्य उस भावना से है जिसमें कि आत्म गौरव, देश के हित एवम् जनता के कल्याण की भावना प्रधान रहती है। राष्ट्र-हित व्यक्तिगत हित और सामाजिक-हित से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इसी को ध्यान में रख करके निबन्धों की रचना हुई है। ऐसे निबन्धों की रचना ही इस ओर संकेत करती है कि राष्ट्रीय चेतना का जागरण हो गया था। भारत परतन्त्रता के बन्धन में बँधा हुआ होने पर भी मानसिक स्वतन्त्रता एवम् चेतना का आवाहन कर रहा था। प्रत्येक राष्ट्र के जागरण में साहित्य का हाथ प्रमुख रूप से विद्यमान रहता है। साहित्य चेतना से, मन से, भावना से अनुप्राणित होता हुआ चलता है इसलिये उसका प्रभाव स्थायी रहता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय-भावना का दर्शन नहीं हो पाता था। केवल व्यक्तिगत भावनाओं का चित्रण और अनुभूतियों का निर्वाह ही काव्य और साहित्य का सर्वस्व था। रीतिकाल के पश्चात् चेतना के थपेड़ों से आलोड़ित हो करके युग ने एक करवट ली। साहित्य में एक नई ज्योति का निर्माण हुआ और सामाजिक एवम् राजनीतिक तथ्यों के दर्शन होने लगे। "भारतवर्ष के सुधार के उपाय क्या हैं" "इंगलैंड और भारतवर्ष" आदि निबन्धों में राष्ट्रीय भावना का आभास मिलता है। इस युग में भी जब परतंत्रता का इतना प्रभाव था, यथार्थ कहने पर कठोर दण्ड घोषित होता था। भट्ट जी ने स्पष्ट ही "हालत में चेतने" का संकेत किया है।[१] राष्ट्रीय-भावना के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यकता इसकी भी पड़ती है कि गुलाम जनता के मस्तिष्क से आत्म-हीनता की भावना को समूल नष्ट कर दिया जाय, जब तक हीनता की भावना रहेगी तब तक राष्ट्र-हित सम्भव नहीं हो सकेगा, इसको दूर करने के लिए इतिहास की भव्य पृष्ठभूमि ही सहायक हो सकती है। यदि अतीत के साथ मानव के वर्तमान को जोड़ा जाय और उसके अतीत की भव्य पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला जाय तो स्वभावतः मानव उत्साहित होता है और उस इतिहास की कड़ी के आसरे अपने वर्तमान को भी उतना ही आशान्वित और गौरवपूर्ण बनाने की चेष्टा करता है। द्विवेदी-युग के लेखकों में अपने अतीत के प्रति स्नेह और श्रद्धा की भावना पाई जाती है, और दूसरा कारण यह भी है कि वर्तमान का असंतोष और हीनता अपने अतीत की महानता में खो जाती है। इसी के फलस्वरूप साहित्यकारों ने अतीत भारत के गुण गाये हैं। "प्राचीन भारत की एक झलक,[२] भारतीय पुरातन राजनीति[३], प्राचीन शासन पद्धति और राजा[४], सम्राट अशोक का राज्य शासन[५], तुलसीदास के राजनीतिक- विचार[६], इतिहास का महत्व[७], सच्चे ऐतिहासिक ज्ञान की आवश्यकता[८], इतिहास क्या है

---

१. अंग्रेजी राज्य के इस कड़े शासन में जब हम सब ओर से बचे हैं और चारों ओर से ऐसे कस दिए गये हैं कि हिल नहीं सकते आमदनी का कोई द्वार खुला नहीं रह गया ऐसी हालत में भी जब हम न चेते तब फिर कब चेतेंगे।
नये तरह का जनून, भट्टनिबन्धावली, पृष्ठ १६६।

२. महावीर प्रसाद द्विवेदी सरस्वती मार्च १९११ ई०

३. गोविन्दराम परवार सरस्वती १९१८—१९ ई०

४. शिवदास गुप्त 'इन्दु' अगस्त १९१४ ई०

५. गंगाशंकर मिश्र 'इन्दु' अगस्त १९१४ ई०

६. परशुराम 'मर्यादा' मई १९१९ ई०

७. सम्पूर्णानन्द 'मर्यादा' अक्टूबर १९१९ ई०

८. जनार्दन भट्ट 'सरस्वती' जनवरी १९१३ ई०

आदि शीर्षक निवन्धों से ही यह स्पष्ट हो गया है कि इस युग का लेखक राष्ट्र-हित के लिए कितना सतर्क है। इतिहास किसी भी राष्ट्र को जीवनदान ही नहीं अपितु एक नयी चेतना, ज्ञान और अनुभव भी तो प्रदान करता चलता है। अतएव राष्ट्र के जागरण के लिए ऐसे लेख और निवन्ध उपयोगी हैं। राष्ट्रीय भावना को और भी दृढ़ करने के लिए राजनीति को अध्यात्म परक एवम् आध्यात्मोन्मुख बताया गया है। भारत का अध्यात्मवादी मानव अपने पारलौकिक जगत की कल्पना करके ही इस जगत में पुण्यलाभ करने की कामना करता है। इस युग के कुछ लेखों में मातृभूमि की देवी शक्ति की बात भी की गयी है। "मातृभूमि की पूजा" शीर्षक लेख ऐसा ही है जिसमें लेखक ने मातृभूमि और ईश्वर को एक ही रूप में देखा है।[1] इसके अतिरिक्त एक दूसरा सुधारवादी दृष्टिकोण जो इस युग में प्रचलित हुआ वह था इस लोक के प्रति आस्था एवम् विश्वास। मुग़ल काल के प्रभाव से प्रभावित हो करके और उस काल में शान्ति के अभाव में तड़प-तड़प करके भारतीय जनता ने इस लोक के मंगल और सुख की कल्पना ही छोड़ दी। उन्होंने एक विश्वास एवम् आस्था की नींव डाली जो इस ओर संकेत करती थी कि इस लोक का अतृप्त मानव, यदि सत्कर्मी है तो उस लोक में सुख पायेगा। यह धारणा बहुत कुछ उत्तरदायी है जनता के मस्तिष्क में इस लोक के प्रति एक वैराग्य की भावना पैदा करने की। धीरे-धीरे यह धारणा बढ़ती गई फलस्वरूप इस लोक के प्रति एक वैराग्य की भावना पैदा हो गयी, अधिकतर बुद्धिमान व्यक्तियों ने इस लोक में सुख की भावना को तो त्याग ही दिया, केवल उस लोक का ध्यान और परलोक के चिन्तन की ओर उन्मुख हो गये। द्विवेदी-युग के साहित्यकारों को इस बात के लिये श्रेय दिया जाना चाहिये कि उन्होंने परलोक सुधारने के लिये इस लोक को सुधारने की बात कही।[2] इस प्रकार से आत्म-गौरव, आत्म-विश्वास आदि चरित्र के विकास के आदि-तत्व विकसित हुये, ये तत्व ऐसे हैं जिनका चरित्र ही आधार है।

कुछ एक निवन्धों में अतीत के महापुरुषों की चारित्रिक विशेषता बताते हुए तथा उनके कार्यों पर प्रकाश डालते हुये लेखक ने इस ओर संकेत किमा है कि आज

---

१. कन्हैयालाल पोद्दार 'मर्यादा' जनवरी १९११ ई०

२. राजनीति व्यावहारिक धर्म है, वह धर्म जो बातूनी नहीं है, जहाँ कोई फिला-सफी न चले, जिसमें पड़ने से खरे खोटे की पहचान हो जाती है। राजनीति इस लोक की बादशाहत की मशीनरी है। जिसको अपना परलोक, अपना भविष्य सुधारना है उसे अपना यह लोक, अपना वर्तमान पहले सुधार लेना चाहिए।

धर्म और राजनीति—सत्यदेव परिव्राजक, 'सरस्वती' मार्च १९२३ ई०

हमारे देश को फिर अतीत की निस्वार्थ प्रवृत्ति और त्याग की आवश्यकता है; 'पद्मसिंह शर्मा ने "भगवान श्रीकृष्ण" पर लिखते हुये इन दिनों के लीडरों की स्वार्थपरता पर केवल अपने हित की बात को आलोचना की है।[1] अतीत-भावना का पुनः स्मरण कराके और उनका बोध कराके इस भावना को पुनः उकसाया गया। इसके अतिरिक्त शासन पद्धति को सुधारने की तथा अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों के शासन की रूपरेखा प्रस्तुत करके भारतवासियों के हृदय में स्वतन्त्रता की लालसा को भी उकसाया गया। विदेशी आन्दोलनों का विवरण देकर के तथा उन राष्ट्रों की परिस्थिति को बतला करके अप-रोक्ष रूप में भारतवासियों के मस्तिष्क में भी आन्दोलन की एक लहर जागृत करने का ही उद्देश्य था। क्रान्ति की भावनायें या तो आन्तरिक पक्ष को आन्दोलित करके आती हैं अथवा बाह्य परिस्थितियों के प्रति असंतोष प्रकट करके, उनका बहिष्कार करके। साहित्य विचारों की क्रान्ति ही पैदा करता आया है। लेखक अपने आदर्शों को जनता के मध्य रख करके तथा उनका महत्व बता करके वर्तमान परिस्थिति के प्रति एक असंतोष की भावना पैदा कर देता है। धीरे-धीरे विचार आन्दोलित होते-होते जन-जीवन इतना चेतनशील हो जाता है कि अपने ऊपर लादे कुशासन को तोड़कर फेंक देने को उग्र रूप धारण कर लेता है। अतएव इस स्थिति में क्रान्ति विचारों के द्वारा ही सम्भव होती है, साहित्यकार का दायित्व ऐसी अवस्था में बढ़ जाता है। द्विवेदी-युगीन साहित्यकारों ने अपने राजनीतिक पक्ष को बड़ी खूबी से अदा किया है।

विदेशी राजनीति सम्बन्धी निबन्धों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक जिनमें विदेशी आन्दोलनों का विवरण है और दूसरा जिसमें विदेशी शासन-पद्धतियों का वर्णन है। प्रथम के अन्तर्गत "फ्रान्स का राज्य विप्लव"[2], "टर्की की जागृति"[3], "फ्रांस की राज्य-क्रान्ति पर दृष्टि"[4], आदि निबंध आ जाते हैं। द्वितीय के अन्तर्गत फ्रांस की शासन-पद्धति[5], अमरीका की शासन-पद्धति[6],

---

१. एक आजकल के लीडर हैं, किसी दुर्घटना को रोकने के लिए तार पर तार दिये जाते हैं, पधारने की प्रार्थना की जाती है, पर हमारी कोई नहीं सुनता, कह कर टाल जाते हैं पहुँचते जो हैं तो उस वक्त जब मारकाट हो चुकती है, सो भी सरकारी तहकीकात के बहाने। लीपापोती के लिए लेक्चर देना और तहकीकात के लिए पहुँच जाना लीडरों के लिए इतना काफी है।

भगवान कृष्ण—पद्म पराग पृष्ठ ८

२. महेन्द्र पाल सिंह 'मर्यादा' सितम्बर १९१२ ई०।

३. वही " " १९१२ ई०।

४. सोमदत्त विद्यालंकार 'साहित्य' अंक ६ सम्वत् १९७९ वि०।

५. अनन्त राम वर्मा 'सरस्वती' सित० १९२४ ई०।

६. अनन्त राम वर्मा वही मई १९२४ ई०।

दक्षिणी अफ्रीका और वहाँ की शासन प्रथा,[१] इंग्लैण्ड की शासन-पद्धति,[२] आदि शीर्षक निबन्ध उल्लेखनीय है। इन निबंधों की रचना के पीछे ध्वनि यही है कि अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों की शासन-पद्धति और राष्ट्र और नागरिकों का आपसी सम्बन्ध कितना सुदृढ़ है, इसका ही बोध कराया गया है। लेखक अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल है। ऐसे निबन्धों में जिसमें कि विदेशी शासन-पद्धति का वर्णन किया गया है तथा विदेशी शासन की प्रशंसा करके उसे श्रेष्ठ बतलाया गया है, उसके पीछे की अन्त-र्निहित भावना के वर्णन से केवल अन्य देशों के प्रति मानसिक परतन्त्रता का बोध नहीं होता परन्तु अन्य देशों की शासन-पद्धति बतला करके लेखकों ने भारत की शासन-पद्धति के प्रति एक मूक विद्रोह किया है। जनता में जागरण की भावना लाने का प्रयास अपरोक्ष रूप में इस प्रकार है।

भारतीय राजनीतिक निबन्धों में अंग्रेजी नीति की कड़ी आलोचना की गयी है और अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों का प्रमाण दे करके, उनके आदर्शों का प्रतिपादन करके भारतीयों को स्वराज्य प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी गयी है। ऐसे निबन्धों का प्रकाशन उस समय के पत्र पत्रिकाओं में पूर्ण रूप से जी खोल कर किया गया है। उदाहरण के लिए जगन्नाथ प्रसाद मिश्र का स्वराज्य और भारत[३] शीर्षक लेख, के० डी० मालवीय का क्या हम स्वतन्त्र नहीं हो सकते,[४] श्री श, स, प का छद्म नाम ये करके "भारतवर्ष में क्रान्ति की लहर"[५] शीर्षकलेख, दुली चन्द सिंघई का "भारत का भविष्य और वर्तमान[६] शीर्षक लेख उल्लेखनीय है।

इस प्रकार से इन लेखों का प्रकाशन करके उस समय के लेखक सामयिक चेतना एवम् जागृति में प्रमुख भाग ले रहे थे और चेतना की जागृति में उनका हाथ भी था। इसका कारण भारतीय वातावरण के प्रति क्षोभ था, एक असन्तोष था और थी एक क्रान्ति की दबी हुई भावना। इस प्रकार से निबन्धों का हाथ राष्ट्रीय जागृति में विशेष रूप से रहा है। यह उसका क्रमिक इतिहास है।

---

१. सोमेश्वर दत्त शुक्ल 'मर्यादा' दिस० १९१३ ई०।

२. शिव नारायण द्विवेदी 'मर्यादा' जन० १९१५ ई०।

३. मर्यादा—मार्च सन् १९१७ ई०

४. मर्यादा—मई १९१४ ई०।

५. प्रभा—कानपुर, अक्टूबर सन् १९२० ई०।

६. धर्म साहित्य का सबसे बड़ा स्रोत रहा है। यदि यह कहा जाय कि साहित्य के आदि में ही धर्म का प्रमुख हाथ रहा है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। विदेशी साहित्य का आदि भी धर्म के क्रिया-कलापों से उद्भूत हुआ। हमारा देश तो धर्म-प्रवण है और वेदों से साहित्य - रचना का जो सूत्रपात हुआ वह धार्मिक प्रवृत्ति के ही अन्तर्गत है।

—साहित्य-शास्त्र पृष्ठ ७८
ले० डॉ० रामकुमार वर्मा

काव्य की मनोभूमि में होली

मानव अपनी आन्तरिक प्रवृतियों को त्याग कर अपने व्यक्तित्व में अधूरा रह जाता है। यदि देखा जाय तो रोष, उल्लास, रूदन और गायन ये सभी तथ्य उसके जीवन में इस प्रकार बैठ गये हैं, घर कर गये हैं कि उनका पृथक होना तो असम्भव सा प्रतीत होता है। मानव (सम्भवतः) रुदन, दुख और शोक का तो अभिनन्दन करने को तैयार रहता ही नहीं। परिस्थितियों के कारण उल्लास चाहता है, ऐसा उल्लास जिस पर प्रतिबन्ध न हों जो उन्मुक्त हो। समाज द्वारा मानव ऐसे बन्धन में जकड़ा है जो उसे उन्मुक्त नही रहने देता उन्मुक्तसे मेरा तात्पर्य यह है कि अपनी आन्तरिक प्रवृतियों के प्रदर्शन में वह पूर्ण स्वतंत्र नहीं। इतने बन्धन से जकड़ा हुआ मानव कुछ ही देर के लिये यदि बन्धन मुक्त हो जाता है तो वह उसी समय को त्योहार कह देता है। त्योहार में सामाजिक प्राणी अपने प्रतिदिन की दिनचर्या से अधिक महत्वपूर्ण कार्य करता है। दीपावली में दीपक जला कर मानव उल्लास को पूजता है। सभी भारतीय त्योहारों के पीछे एक पृष्ठभूमि स्वस्थ दर्शन लिये हुये है। दशहरे में प्रत्येक वर्ष रावण का पुतला जलाकर मानव अत्याचारी के नाश करने की बन्दना कर अपनी सद्प्रवृतियों की पूजा करता है और होली में बसन्त की हवा से जगे हुये, पीले पीले फूलों के बीच हँसते हुये अपने उन्माद को पूजता है। अतएव होली मानव समाज के उन्माद का त्योहार है। इसमें सन्देह नहीं मानव होली के त्योहार में प्रकृति के बहुत निकट है। भारतही नहीं अन्य राष्ट्र भी (ऐसे) त्योहारों को मनाते है। मिश्र में इसी अवसर पर स्त्री, पुरुष दोनों नाव पर बैठ कर नदी की यात्रा करते हैं। किसी पास वाले गांव में जाकर स्त्रियां अर्ध नग्न अवस्था में नृत्य भी करती हैं। यह अवस्था साधारण भाव की अवस्था नहीं, यह उन्माद की अवस्था है। ऐसे अवसरों पर उन्मादावस्था में भी उल्लास की प्राप्ति होती है। भीलों की जाति भी इस त्योहार को मनाती है। इस दिन पुरुष और स्त्रियों का एक जुलूस निकलता है जिसमें स्त्रियों पुरुषों के पीछे रहती हैं, अपने गांव के किसी भी सेठ के पास जाकर अपनी भाषा में ये उनसे गुड़ मांगती हैं। नाचती गाती भी हैं। सेठ उन्हें गुड़ देकर पीछा छुड़ाता है। उत्तर प्रदेश की होली में भी कम स्वांग नहीं रचा जाता है। भांग आदि का सेवन तो इस दिन की प्रथा सी हो गई है। अबीर और गुलाल से सने हुये लाल आंखे किये हुये

उत्तर प्रदेश का नागरिक...सभ्य नागरिक...कबीर और मस्ती के गीतों को गाता है झुन्ड बांध कर निकलता है।

कुछ विद्वानों की सम्मति में काम महोत्सव और होली एक ही त्योहार हैं। प्राचीन काल का काम महोत्सव त्योहार आधुनिक होली में परिवर्तित हो गया है। यह धारणा ठीक इसलिये प्रतीत होती है कि जहाँ-जहाँ प्राचीन साहित्य में काम का मिलन हुआ है वहीं पर वसन्त का गठ-बन्धन काम के साथ अवश्य किया गया है। वसन्त में लहलहाते हुये पुष्प, उनकी मादक सुगन्ध और पीले पीले फूलों के खेतों से उठी हुई सुरभि हमें काम की पूजा करने पर बाध्य करती है। मद्रास में कुछ लोगों का विश्वास है कि इसी दिन शंकर भगवान ने कामदेव को भस्म किया था। वहाँ के लोग इस अवसर पर मन्दिर के सामने होलिका दहन कर देते हैं। अतएव काम दहन और होलिका-दहन में कोई विशेष अन्तर दिखलाई नही पड़ता है।

अब तक हमने होली के पीछे के विश्वासों की चर्चा की। अब हमें देखना है कि मानव अपनी रागात्मक प्रवृत्ति में सराबोर होकर इस अवसर पर कैसे साहित्य का सृजन कर बैठा है। चाहे हम सन्त कवियों को लें, चाहे भक्त, चाहे आधुनिक सभी की कविताओं में होली से एक प्रेरणा मिली है। इसका कारण ऊपर संकेत कर चुका हूँ कि मानव सदा से अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों का सम्मान करता आया है, उस पर रीझता आया है रीझने मे उसकी व्यक्तिगत सम्मति ही प्राथमिकता लिये हुये होती है। वह उसके दोषों की ओर जाता नहीं, इस प्रकार से मानव होली में अपने पन को ही पूजता है। एक वियोग, एक तड़प इन गीतों में मिलती है। ऐसी तड़प दशहरा और दीपावली के अवसर पर तो नहीं होती, होली के ही अवसर पर, इसलिये होती है कि मानव प्राकृतिक सौंदर्य के बीच अपने एकाकीपन के अभाव को समझता है उसे महत्व देता है स्पष्ट शब्दो में कहूँ तो यह कि प्रकृति के बिखरे हुये सौंदर्य के बीच वह अपने सौंदर्य के पाने के हेतु व्याकुल हो उठता है। वह अपने अभावों के चित्रण में कितना आतुर है। सन्त कवियों ने भी होली को भौतिक रंग में रंग कर उसको भौतिक रूपक दिये हैं......

> ऋतु फागुन नियरानी हो, कोई पिया-सो मिलावे।
> खेलत फाग अंग नहीं मोड़ै सतगुरू से लिपटानी,
> इक - इक सखियां खेल घर पहुँची, इक इक से अरुझानी
> पिय को रूप कहाँ लौ वरनौं, रूपहि माहि समानी
> जो रंग सो सकल छवि छाजे, तन मन सभी भुलानी
> यो मत जाने यहि रे फाग है, यह कछु अकथ कहानी

प्रेमी के साथ रंग खेलते-खेलते भक्त भाव से सराबोर हो जाता है। होली के नाम ने ही कवियों को एक प्रेरणा दी है—इसी नाम से उन्माद में सराबोर हो उठे हैं। सन्त कवियों की बात तो छोड़िये, रीतिकालीन कवियों ने कृष्ण और राधा

के पीछे तो अंधेर ही कर दिया है। गोपियाँ एक तो यों ही प्रबल हैं होली के अवसर पर तो उनका कहना ही क्या ? इस अवसर पर तो वह कवि के शब्दों में, मन की करती है............

माइ करी मन की "पदमाकर"
डारी अबीर गुलाल की झोली
आंख नचाइ कह्यो मुसकाइ,
लला फिर आइहो खेलन होरी ।

रीतिकालीन कवि की इन पंक्तियों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या तो करिए । नायक के प्रति उसकी सारी प्रीति उमड़ पड़ी, होली के अवसर पर तो उसे मौका मिला, उसने मन की किया और आंखें नचा कर मुस्कुरा कर अपने इस कृत्य का एक बार फिर संदेश देकर कहा......लला फिर आना खेलने । गोपी ही नहीं होली के अवसर पर जिस प्रकार से सारे समाज की अवस्था उन्मादावस्था में परिवर्तित हो जाती है उसी प्रकार से ही रीतिकालीन कवि भी उन्माद में भर कर गा उठा । ऐसा ही एक उदाहरण भारतेन्दु की कविता से हम देंगे एक गोपिका कहती हैं......

मैं तो मलूँगी अबीर तोरे गोरे गालन में ।
आज कसक सब दिन की निकसे,
बेंदी दै तेरे गालन में ।
"हरीचन्द" तोहि पकर नचाऊँ
भीर-मार-ब्रज बालन में ।

युग युगों की संचित कामना, गोपियों के इन शब्दों में बोल रही है । वह कृष्ण शृंगार के प्रतीक, लोक नायक के गालों में अबीर मलना चाहती हैं । इधर तो गोपिका की ललकार सुनाई पड़ती है कृष्ण की ओर से कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता उधर का एक चित्रण लीजिए-जब नायक नायिका से कहता है..........

फागुन के दिन चार, री गोरी खेल ले होरी ।
फिर कित तू, कहाँ यह अवसर, क्यों ठानत यह रार ।
जीवन रूप नदी बहती सम, यह जिय मांझ विचार ।
"हरीचन्द" गर लग प्रीतम के, कब होरी त्योहार ।

"गर लग प्रीतम के" यह शिक्षा देकर हरीचन्द ने होली के त्योहार की सार्थकता मनाने की चेष्टा की है । भारतेन्दु के बाद यदि हम मैथिलीशरण जी को लें, तो हम पायेंगे कि इतने सात्विक मनोभाव का चित्रण करने वाले कवि की उर्मिला भी व्याकुल होकर कह उठी थी......

मुझे फ़ूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो जरा विचारो।

यद्यपि अन्त में फूल मारने पर उर्मिला ने फटकारा बहुत है, उसने अपनी सारी स्थिति बतलाई कि वह बाला वियोगिनी है और साथ ही साथ पतिव्रता भी, यदि वह गोकुल गांव की गोरी होती तो अपनी नादानी प्रकट करती, बहाना करती, अन्त में जानती कि......

जानी पहिले तो हा, होली की ठठोली पर,
चोली की ठठोली में, मरोरी मन लै गयो।

पहले तो वह विचारी केवल यही जानती है कि यह सब कुछ नहीं, यह सब होली की ठठोली है परन्तु चोली की ठठोली में तो उसे विश्वास हो जाता है किहाँ, है कुछ बात। अन्त में केवल पश्चाताप-कि मरोरी मन लै गयो।

इस प्रकार से अधिकांश कवियों का, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी न किसी प्रकार से मानव की सोई हुई अनुभूति, आकांक्षा और उल्लास अपना स्वतंत्र रूप लेकर होली के साथ ही साथ उठ खड़ा होता है, सजग हो जाता है। शायद मानव होली में ही अपने आन्तरिक और बाह्य मनोभावों के प्रति ईमानदार रह पाता हैं। इसका सांस्कृतिक महत्व भी है। किसी भी जाति की यह उल्लास मनाने की भावना कितना अधिक मानव जीवन में एक हलचल मचा देती है। भारत सदा से उल्लास, तथा सुखों का उपासक रहा है। यह उसके स्वास्थ्य का लक्षण है। होली इसका प्रतीक है, ज्वलन्त प्रमाण है।

उर्दू काव्य में चेतना और जीवन के व्यापक स्वर

युग के साथ ही साथ काव्य की चेतना में भी उत्तरोत्तर विकास होता चलता है। प्रयोग, विचारों की प्रौढ़ता तथा काव्यकार की चेतना, ये तीनों तत्व काव्य में नई मर्यादा को जन्म देते हैं। यह तथ्य विश्व के सभी साहित्य के लिये एक सा है। उर्दू-काव्य में एक समय ऐसा था कि शायर अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को ही अपने काव्य का आश्रय बनाये हुए था और इस सीमित वृत्त में उसके व्यक्तित्व का विकास घुट रहा था। साहित्यकार की चेतना युग के साथ सामंजस्य नहीं कर पाती थी। ठीक इन्हीं अनुभूतियों का फल हिन्दी का रीतिकाल रहा है। इस काव्य काल का विषय प्रेम श्रृंगार और नखशिख वर्णन ही रहा है। चेतना के विकास ने हिन्दी काव्य को सामाजिक, राजनैतिक ओर मानव के नैतिक जगत से सम्बन्धित कर दिया है। काव्य केवल स्वप्न द्रष्टा का सत्य नहीं रह गया। यथार्थ की भूमि पर आकर काव्य भी विचरण करने लगा। उर्दू कविता में भी नये प्रयोग और नई अनुभूतियों का उदय हमें 'मजाज' की कविता में देखने को मिलता है एक दबी हुई क्रान्ति हमें इनकी पंक्तियों में मिलती है। उदाहरण के लिये :—

ले के इक चंगेज के हाथों से ख़ंजर तोड़ दूँ,
ताज पर उसके दमकता है जो पत्थर तोड़ दूँ,
कोई तोड़े या न तोड़े मैं ही बढ़कर तोड़ दूँ,

भाषा की सजीवता, नये प्रयोगों के साथ और भी मुखर हो जाती है :—

बढ़ के इस इन्दर सभा का साजो सामां फूँक दूँ,
इसका गुलशन फूक दूँ उसका शबिस्ता फूँक दूँ।
तख्ते सुल्तां क्या, मैं सारा कसरे सुल्तां फूक दूँ,
ऐ ग़मे दिल क्या करू, ऐ वहशते दिल क्या करू,

साम्राज्यवाद के प्रति कवि के मस्तिष्क में एक स्वाभाविक विद्रोह है। और उसी के फलस्वरूप बीते हुए इतिहास की महत्वपूर्ण कड़ियों को चुनकर, उन सभी आतंकों, और चंगेज खां ऐसे वर्बर आक्रमणकारी की घटना को दोहराने कीट

चेष्टा कर उसकी आलोचना करते हैं जिससे भारत को अनवरत क्षति पहुँची है। आज का काव्यकार इतिहास की उन घटनाओं को दोहराकर हमारे समक्ष फिर ध्वंस और अमानवीय कृत्यों का विवरण देना चाहते है जिससे हमारे राष्ट्र का अहित हुआ है, और हमारी राष्ट्रीय चेतना को भी चोट पहुँची है।

आज का काव्यकार इतिहास की उन घटनाओं को दोहरा कर हमारे समक्ष फिर वही ध्वंस और अमानवीय कृत्यों का विवरण देना चाहता है जिससे हमारे राष्ट्र का अहित हुआ है, और हमारी राष्ट्रीय चेतना को भी चोट पहुँची है।

उर्दू के एक अन्य कवि श्री मुई अहसन जज्वी हैं। उन्होंने भी उर्दू की नई पीढ़ी के कवियों में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना रखा है। इसका एकमात्र कारण कवि को अपनी अनुभूतियों के प्रति ईमानदार होना है। कवि के जीवन की वास्तविकता, उनके जीवन पर घटे हुए अनुभव उनके काव्य को अछूता नहीं छोड़ सकते। जज्वी का जीवन असह्य परिस्थितियों की एक लम्बी कहानी है। उसने अपने जीवन में ऐसे दिन भी देखे जब उसे सुबह की चाय तो किसी प्रकार प्राप्त हो गई, लेकिन दोपहर के खाने के लिए उसे ५:-५: मील पैदल चलकर किसी मित्र मुलाकाती का मुँह देखना पड़ा, और कभी-कभी तो फाके तक की नौबत आई। कवि के व्यक्तिगत जीवन की यह घटनाएँ उसके काव्य को भी अछूता नहीं छोड़ सकी। पुराने कवियों में से बहुतों को इन्हीं परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था, परन्तु इनके काव्य में जीवन के स्वर मुखरित न हो पाये। इसका एकमात्र कारण यही है कि प्रेम और व्यक्तिगत कुण्ठा में इस प्रकार वे उलझे हुए थे कि काव्य का विषय उनकी वास्तविक अनुभूतियां बन ही नहीं पाती थीं। परन्तु वर्तमान कवि उन धारणाओं से बहुत आगे बढ़ चुका है। इन्हीं का एक यथार्थ वर्णन देखिये।

> जब जेब में पैसे बजते हैं, जब पेट में रोटी होती है,
> उस वक्त ये जर्रा हीरा है, उस वक्त ये शबनम मोती है।

ऊपर की ये दो पंक्तियां भूख की वास्तविक स्थिति को अनुभव करने के बाद ही कही जा सकी हैं। इसीलिए इनमें इतना कठोर सत्य है।

सरदार जाफरी की शायरी की धारा "मर्सियों से राजनैतिक नगमों की ओर मुड़ी है। ऐतिहासिक बांध और समाज के अनुभवों ने उसके व्यक्तित्व को अजेय बना दिया है।उसका व्यक्तित्व जीवन की कटुताओं कुण्ठा से टकरा कर कहीं टूटा नहीं है। क्षण-क्षण निखरता गया है। नये-नये शब्दों का प्रयोग हमें उनकी "नींद" शीर्षक कविता में मिलते हैं।

> झींगुरों की आवाजें, कह रही हैं अफसाना,
> दूर जेल के बाहर बज रही है शहनाई,

रेल अपने पहियों, से लोरियाँ सुनाती है।
रात खूबसूरत है, नींद क्यों नहीं आती।
रात खूबसूरत है, नींद क्यों नहीं आती।

उनके काव्य में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलेंगे जिनमें प्रतीक और प्रयोग अपने स्वस्थ रूप में निखरे हुए हैं। अपने अनाज शीर्षक कविता में कवि ने किसानों की कन्याओं का एक जीता जागता चित्र खींचा है।

श्री साहिर लुध्यानवीं भी जीवन का एक यथार्थ शिल्पी हैं। आत्म - सम्मान और मानव के समवेदनात्मक क्षणों को एक धरातल से ही इसने पहचाना है। ताज-महल शीर्षक कविता इस दृष्टिकोण का एक सफल प्रयास है। कवि अपने प्रेयसी को सम्बोधित करके कहता है कि ताजमहल में वह उससे न मिला करे। इस ताज के पीछे उसे अनेकों प्रेमियों की शक्लें याद आती हैं। जिन्होंने कि प्रेम किया है। प्रेम के क्षेत्र में उसके पास केवल एक ही कसौटी है, और वह कसौटी अपने भावों की ईमानीदारी की। शाही महल एक निर्धन के प्रेम का तिरस्कार कर रहा है, इसीलिए तो वह कहता है—

अनुगिनत लोगों ने दुनिया में मुहब्बत की है,
कौन कहता है कि सादिक न थे जजबे उनके,
लेकिन उनके लिए तशरीर का सामान नहीं,
क्योंकि वे लोग भी अपने ही तरह मुफलिस थे।

अन्त में वह इस सत्य को भी स्वीकार करते है कि बादशाह से अधिक महत्वपूर्ण इस ताज का कारीगर है क्योंकि बादशाह के हृदय की सी ही स्थिति में होकर उस शिल्पकार ने इसका निर्माण किया होगा। कवि को इसी बात का दुःख है कि ताजमहल के निर्माण के पीछे प्रेम की सजीवता तो लोग देखते हैं परन्तु ये अनुभूति की सच्चाई किसकी है। बादशाह की या ताज के निर्माण कर्त्ता की, शीराजी की। बादशाह धन - दौलत से ईंटा, चूना और संगमरमर के पत्थर तो खरीद सकता था, सच्ची अनुभूति और प्रेम के दर्द का का दबा हुआ स्वर जो ताज के देखने वालों को सुनने को मिलता है यही स्वर शीराज़ी और बादशाह को एक कोटि में बिठा देते हैं। और यही वह स्थल है जब ताज के पीछे शाहजहाँ नहीं वरन् 'शीराजी' का निखरा हुआ स्वर कवि को सुनाई पड़ता है। ताज का निर्माण वही व्यक्ति कर सकता था जिसने वियोग की टीस, दर्द और करुणा को सहा होता। शिराजी में यदि ये स्वर न होते, यदि यह अनुभव न होता, वास्तविक प्रेम का यदि उसके हृदय में अभाव होता तो ताज का निर्माण, बादशाह के हीरे और जवाहरात नहीं कर सकते थे। ताज को देखने वाले इस तथ्य को भूल जाते हैं। उसके साथ केवल बेगम का प्यार जुड़ा हुआ होता है। शाहनशाह

और वेगम की महत्ता आर्थिक पहलू पर ही स्वीकार की गई है। कवि की यह उक्ति कितनी स्वाभाविक लगती है:

मेरी महबूब उन्हें भी तो मुहब्बत होगी,
जिनकी सन्नाई ने वख्शी है इसे शक्ले जमील,
उनके प्यारों के मकाविर रहे वेनामों नमूद
आज तक उन पे जलाई न किसी ने कंदील।

केवल इतना ही कह कर वह शान्त नही हो जाता वह आगे भी कहता है कि यह बाग, यह चित्रकारी और यह वातावरण यह सब मिलकर बादशाह के दौलत का गुणगान कर रहे हैं, और उस गरीब की हँसी उड़ा रहे हैं जिसके हृदय में अपने प्रेयसी के प्रति ठीक बादशाह का सा ही प्रेम है परन्तु अपनी गरीबी के कारण वह इतना सौंदर्य और चित्रकारी का प्रतीक प्रेयसी के नाम पर नहीं छोड़ सका:

ये चमनजार, ये जमुना का किनारा, ये महल
ये मनुक्कश दरो दीवार, ये महाराब, ये ताल
इक शहनशाह ने दौलत का सहारा लेकर,
हम गरीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मजाक।
मेरी महबूब, कहीं और मिलाकर मुझसे।

ऊपर की पंक्तियों में कवि का मानवतावादी दृष्टिकोण मुखर हुआ है। ताज के प्रति यद्यपि यह विचार नया नहीं है, शरतबाबू की 'चरित्रहीन' की नायिका शिवानी भी ताज के विषय में ऐसा ही कुछ सोचती है परन्तु यह विचार तो मानव मस्तिष्क तथा उसके दृष्टिकोण के सूचक होते हैं।

यह तो उर्दू काव्य की भावभूमि में परिवर्तन की ओर हमने सङ्केत किया है। उर्दू काव्य में नये शब्दों तथा नई टेकनिक का भी दर्शन हमें होता है। अतुकान्त कवितायें जिस प्रकार से हिन्दी में मिलती हैं वैसे ही उर्दू काव्य में अतुकान्त कवितायें देखने को मिलती हैं। पलायनवाद, हिन्दी के छायावादी कवियों तक छाया था। कवि, जगत की वास्तविक पीड़ा दुख और परेशानी से ऊब कर एक ऐसे स्थान पर चला जाना चाहता था जहाँ शान्ति हो, सुखद छाया हो। इस शान्ति और छाया में उसका काल्पनिक प्रेम निखर सके, ऐसी ही सुखद कल्पना वह कर लिया करता था। 'प्रसाद' का 'लेचल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे धीरे' यह गीत, ऐसा ही है तथा शाहीद की 'रक्स' शीर्षक कविता ऐसी ही है। इसकी कथावस्तु तो पुरानी है वाह्य कलेवर नया है। जिन्दगी की परिभाषा इनकी अपनी लगती है:

जिन्दगी मेरे लिये,
एक खूनी भेड़िये से कम नहीं,

ऐ, हसीं ओ अजनबी औरत, उसी के डर से मैं,
हो रहा हूं तन्हा तन्हा और भी तेरे क़रीब,
जानता हूं तू मेरी जां भी नहीं,

× × × ×

कवि की कामनायें, उसकी इच्छायें [राग रंग रहित] हो चुकी हैं। यह निराशा हमें इस काल के अन्य-उर्दू कवियों में देखने को मिलती है। निराशा से ऊब कर वह कवि नया निर्माण और जीवन तो बना नहीं सकता इसके स्थान पर वह गाफिल मदिरा में मस्त होकर अपने को भूल जाना चाहता है। जीवन के यथार्थ से वह जागकर लड़ना नहीं चाहता। इसीलिये तो वह स्वीकार करता है कि:

जिस्म से तेरे लपट सकता तो हूं
जिन्दगी पर मैं झपट सकता नहीं
इसलिये अब थाम ले
ऐ हसीनों अजनबी औरत, मुझे अब थाम ले।

कवि बच्चन भी जीवन के कगार पर इसीलिये खड़े रहते हैं कि कोई उन्हें आकर सुधार लेगा। कुन्ठित भावनायें फस्टेशन का अवलम्ब लेकर ऐसी ही स्थिति उत्पन्न करती है। बच्चन से एक उदाहरण लीजिये:

रात की हर सांस करती है प्रतीक्षा,
द्वार कोई खटखटायेगा;
और आधी जिन्दगी भी कट गई जिसको परखते,
किन्तु उठ पाता नहीं विश्वास मन से
वह कभी चुपचाप आयेगा।

बच्चन के काव्य में एक अडिग विश्वास है। वे अपने प्रेमी से आशा भी करते हैं वह एक न एक दिन आयेगा अवश्य। कवि जज्बी अपनी शान्ति को इस संसार में कह पाते ही नही वह निराश कह उठते हैं—

अब कहां मैं ढूढ़ने जाऊं सुकूं को ऐ खुदा,
इन जमीनों में नहीं इन आस्मानों में नहीं।

इस प्रकार से उर्दू कविता भी व्यक्तिवादी विचारों को छोड़ किसान और गांवों के चित्रण में रमने लग गई है। कुछ ऐसी कविताएं भी हैं जिसमें व्यक्तिगत कुण्ठा और प्रेम की अस्पस्टता पर रोया भी गया है परन्तु आज उर्दू काव्य से वह हाय, हाय और माशूकों के गाल पर काले तिल के निशान का वर्णन करने वाली कविता भी उठ गई हैं। जिससे न तो समाज का कुछ लाभ था, न पढ़ने वालों को। उर्दू काव्य की इस दिशा में नई प्रगति इस बात का संदेश दे रही है कि कवि

सामाजिक चेतना, राजनीतिक उथल-पुथल और इस संसार की कठिनाइयों से अन-भिज्ञ अब नहीं रहा। उसके काव्य के विषयों में भी इन्सान की हाड़ मांस की दुर्बलतायें हैं, उसकी मजबूरियाँ हैं, हौसले हैं, उसका केवल व्यक्ति ही नही सब कुछ है, उसके माशूक ही उसके काव्य के सगे नहीं हैं, जीवन है और तड़फता हुआ जीवन जिसकी लपटें कभी उसे जला भी देती हैं, कभी दुलराती भी हैं। वह इन्हीं द्वारा प्राप्य अनुभूतियों को ईमानदारी से गाकर सुनाता है, और वही उसका काव्य बन जाता है।

वर्तमान साहित्य की रूप रेखा

कवि एक दर्पण है जिसमें युग की छाया पड़ती है। प्रत्येक अनुभूतियों को एकत्रित करने से उसके मानस पटल पर एक रेखा खिंच उठती है और उसी रेखा को स्पष्ट करने के लिए—दूसरों को उसका व्यापक अर्थ समझाने के लिए, कवि अपनी वाणी का प्रयोग करता है। रेखा का वही रूप वाणी का अवलम्ब पा, साकार हो जाता है। यही साकार रूप प्रतिमा, कविता है और इसी को अधिक से अधिक स्पष्ट करने का नियम ही कला है। प्रगतिवादी कलाकार जीवन को निकट से देखता है वह तो उन लोगों का कवि है जिसका जीवन मिट्टी आग और लोहे से बना है।[1]

कविता का यथार्थ रूप और उसका कर्म आज के संकुचित सिद्धांतों तथा अत्याचारों के विरुद्ध एक विद्रोह करना है, जो कला के विषय में परम्परा और रूढ़ि का बन्धन देखना नहीं चाहता। इसी प्रकार 'मेरी वाणी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार,' लिखकर आज का कवि कहना चाहता है कि वह प्रत्येक यथार्थ वस्तुओं को ही अपनाता है, उसे आदर्श के निराधार थपड़ दूर नहीं ले जा सकते। उसे तो जीवन में रम करके ही चलना है। जिस प्रकार से युग की पुकार कवि सुन रहा है ठीक उसी प्रकार वह उसका चित्रण कर देता है। उसका रूप कठोर है, उसकी वाणी में अट्टहास का स्वर संचित है। उसकी सौरभ बिखारने वाली सत्ता स्वर्ग की नहीं, अनन्त की नहीं, वह तो इसी भूमि की ही है और है इसी जगत की देन।

आज का कवि यदि व्यक्तिगत भावनाओं पर विश्वास नहीं करता तो वह उचित ही कर रहा है परन्तु यदि प्राचीन कवियों में व्यक्तिगत अनुभूतियों की मात्रा अधिक थी तो आज का प्रगतिवादी अति समाजिकता से पीड़ित होने जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं इस संक्रान्ति-काल के कवि पर बड़ा ही दायित्व है, वह उस स्थान पर है जहाँ उसे बहुत ही सोच-विचार कर अपना कर्त्तव्य निश्चित करना है। "आज हम वाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युग शिखर पर खड़े हैं जिसके निचले स्तरों मे धरती के उद्वेलित मानव का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरों का संगीत तथा भावी का सौंदर्य बरस रहा है।"[2] अतएव साहित्य का

---

1. I am a poet of those whose life is build of earth, and fire and iron, I am a soldier of millions.

२. उत्तरा—प्रस्तावना लेख सुमित्रानन्दन पन्त

स्वरूप निश्चित करना, आज के लिए सचमुच आवश्यक है। वह नवीनता को आधार तो अवश्य बना रहा है परन्तु उसका आधार है भारतीयता—वही भारतीयता जो सदैव से चैतन्य रही है। जिसके अन्तस्तल में सदा से अमृत की पयस्वनी बहती रही है। अतएव प्रगतिवादी कलाकारों में यदि कही इसी मिट्टी से निकली उच्छवास पाई जाती है तो कही पर एक एक भावी संसार की सुखद कल्पना। वह कुछ अंशों में रूसी प्रगतिवादियों से पृथक् दिखलाई पड़ता है, इसका कारण स्पष्ट है [जैसा ऊपर कहा जा चुका है] वह उस देश का नागरिक है, वह ऐसी उर्वरा भूमि पर पला है जिसका प्रत्येक कण चैतन्यमयी संस्कृति से ओत-प्रोत है। वह युग के साथ बदलता अवश्य है परन्तु उसके परिवर्तन में भी ऐसा जागरण है जो केवल ध्वंस पर ही ही आश्रित नहीं वह निर्माण का भी साथ लेकर चल रहा है। वह उसकी परम्परा और परिस्थितियों की ही देन है। वह अपने यहाँ के श्रमिक की ऐसी रूपरेखा खींचता है......

लोक क्रान्ति का अग्रदूत वर वीर जनादृत,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शाशक-शासित—
चिर पवित्र वह भवअन्याय-घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी, पावन श्रम से प्रक्षालित।

इन पंक्तियों से कला की परख हो जाती है क्यों कि अंधकार में भटकते हुए समाज को उसके वास्तविक प्रकाश में लाने का कर्तव्य कला का ही है। जीवन के वास्तविक स्तर पर आकर कलाकार का सच्चा रूप निखर भी पड़ता है, वह अपने अन्तर की प्रतिछाया समाज के कण-कण में ढूँढ़ने लगता है[1] और ठीक उसी प्रकार समाज का अन्तर्पक्ष उसके (कलाकार) रगों में व्याप्त रहता है। आज के श्रमिक का रूप यदि थोड़ा विस्तार के साथ देखा जाय तो सचमुच कवि जीवन के उन्नायक के स्वरूप में है। समाज में फैली हुई दुर्व्यवस्था का चित्रण भी इन कवियों ने बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। पन्तजी को सजी हुई रमणी में अथवा प्रासाद से झांकती हुई युवती में कोई आकर्षण शक्ति नहीं दिखलाई पड़ती। उनको तो गाँव के काले वर्ण के बच्चों के ही शरीर में जिस पर धूल की एक मोटी तह जम गई है सुन्दरता का स्वाभाविक दर्शन होता है। इसलिए वही उनके काव्य का विषय है उसी का चित्रण करके वे समाज की वास्तविकता को हमारे समक्ष रखते हैं। वे लिखते हैं—

---

1. The revolutionary task of literature to-day is to restore its traditions to break the bond of subjectivism and narrow specialisation on to bring the creative writing face to face. —Truth and Reality pp 37.

मिट्टी से भी मटमैले तन, अधखुले कुचैले जीर्ण वसन,
कोई खण्डित, कोई कुण्ठित, कृश बाहु पसुलियाँ रेखांकित
टहनी सी टाँगें बढ़ा पेट, टेढ़े मेढ़े विकलांग घृणित ॥[1]

वास्तविक जीवन से दूर रहकर कलाकार इन पंक्तियों को नहीं लिख कता। उसने समाज को निकट से देखा है। इसमें संदेह नहीं ऐसी ही है आज क समाज की अवस्था। इन्हीं पंक्तियों के द्वारा ही हम समाज के उस रूप का दर्शन करते हैं जिस पर अधिकांश जनसमूह निर्भर है। भगवती बाबू की कुछ पंक्तियाँ देखें—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों से, कुछ उठे हुए हैं कच्चे घर
मैं कहता हूँ खण्डहार उसको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम।
जिस पर भर देती निज धुँधलापन असफलता की सुबह शाम ॥[2]

इन पंक्तियों में कितनी सजीवता है। 'भू की छाती पर फोड़ों से' लिखकर कवि यह दिखलाना चाहते हैं कि वे घर भू की छाती पर फोड़ों के समान हैं। सच-उनमें उतनी ही कसक है, वे वैसे ही वीभत्स हैं। ऐसी ही कविता आज की प्रगतिवादी धारा की प्राण है, यही उसकी गति है। इनमें एक सजीवता है तथा वाणी में ओज एवम् यथार्थ का चित्रण है। यदि सचमुच देखा जाय तो इन्हीं कविताओं से ही आज के प्रगतिवादी कलाकारों का जीवन-दर्शन भी हम आँक सकते हैं। इनका जीवन-दर्शन जीवन की चेतना में ही विश्वास करता है। मनुष्य को कर्मठ बनाने वाली भावनाओं को ही वह जगाता है। "नियति तथा भाग्य का विश्वास उसे वहला नहीं सकता। आज के प्रगतिवादो को तो कर्म पर ही विश्वास है।"[3] वह अपने कार्यों द्वारा ही अपने अधिकार का निर्माण चाहता है उसे भविष्य तथा भूत पर कोई विश्वास नही वर्तमान ही उसके जीवन का प्रमुख अंग है। प्रलोभनों तथा कठिनाइयों से जूझ - जूझ करके ही वह निखरता है। इस प्रकार से ऐसे निराधार विश्वासों पर जो जीवन में एक निष्क्रियता और अवरोध का सृजन करते हैं प्रगतिवादी को कोई दिलचस्पी नहीं है। इस प्रकार अब तक हमने देखा है कि प्रगतिवादी कविता में समाज की क्या रूपरेखा खींची गई है। दूसरा पक्ष प्रगतिवादी धारा में राष्ट्रीयता का है। यों तो साहित्य में स्वदेश-प्रेम की भावन ाका उदय भारतेन्दु - युग से ही हो रहा था। भारतेन्दु की शीतल परन्तु ताप उगलनेवाली रश्मियों से तिरोहित होकर साहित्य संसार ने एक अनूठा रूप पाया। गुप्तजी की भारत-भारती अपने में सीमित नहीं है। वह उस सिन्धु के वेग की भाँति है जो

---

१. पन्त—ग्राम्या पृष्ठ १३
२. भगवती चरण वर्मा—भैंसागाड़ी
३. समाज और साहित्य—पृष्ठ १५३

अपनी उमंगो को छिपाये, अब भी हँस रहा है। परन्तु उनके हँसने में भी एक सकेत है और वह सकेत है गुप्त क्रान्ति का, वह संकेत है परिवर्तन का, जो सत्य है और शाश्वत है। कहने का तात्पर्य यही कि अपने युग के अनुसार ही कवियों ने राष्ट्र के गीत गाये हैं। आज के युग में भी राष्ट्रीय-भावना प्रधान काव्य का सृजन हुआ है। आज के प्रगतिवादियो को राष्ट्रीय भावना रखे हुए नहीं वल्कि अन्तराष्ट्रीय भावना को रखनेवाला कहना चाहिए। इनके गीतों में समाज से निकटता है, शोषक तथा शोषितो से संघर्ष की भावना सन्निहित है। यह स्थिति आज केवल भारत की ही नहीं विश्व की है। उस केवल भारत के शोषितों से सम्बन्ध नही उसमे तो समस्त राष्ट्र को एक दृष्टि से देखने को क्षमता है। अतएव प्रगतिवादी एक अन्तराष्ट्रीय भावना लेकर चलता है। इसी की पुष्टि इस प्रकार की गई है—

यह व्यापकत्व विधायनी दृष्टि प्रशंसनीय है, और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना की परिचायिका है। यह अन्तराष्ट्रीय विचार विश्व के दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति ही रखता है। वसुधैव कुटुम्बकम् से यहाँ व्यापक दृष्टि की ही भावना दिखलाई गयी है। प्रगतिवादी काव्य का विषय, शोषितों की दयनीय स्थिति का चित्रण हो सकता है, परन्तु वे शोषित केवल भारत के नहीं परन्तु वे सारे विश्व के हैं। अतएव प्रगतिवाद की सहानुभूति प्रत्येक दलित वर्गो से है—उनकी दशा का वर्णन 'उनकी ही दीनता' तथा उनके प्रगति समाज की उदासीनता का चित्रण प्रगतिवादी काव्य का विषय रहा हैं। यही साहित्यकार का कर्त्तव्य है और कला का भी यही सत्य कलाकार की आत्मा का सत्य है ? वह सत्य जितना भी व्यापक हो उतना ही उत्कृष्ट कहा जायेगा, परन्तु यह व्यापकता-प्रधान वस्तु नही। मुख्य बात है कलाकार को अपने ध्येय के प्रति सच्चाई, और उस तक पहुँचने की उसकी अपेक्षाकृत सफलता। आज की कला का सत्य, प्रगतिवादी कला का सत्य प्रगतिवादी कलाकार का ही जीवन है और वही यथार्थ में जीवन और कला के संतुलन में सफल हैं। व्यक्तिगत भावनाओं का चित्रण ही कविता का विषय नहीं हो सकता उसमें समाज की सामूहिक रूप से ध्वनि होना अत्यन्त आवश्यक है।[1]

इस प्रकार कला की परिभाषा मे आज का कलाकार बहुत ही खरा उतरता है, यह केवल स्वप्नों का और जीवन की रंगीनियों का चित्रण नही करता। यदि

---

1. To understand, to know reality it is necessary to have a theory of knowledge corresponding to truths. And truth is not abstract and motionless, to be discovered by a formally logical and about the success of thought.

—Soviet Literature. Vol. 3. pp 187

पुराने आचार्यों के अनुसार ही यदि कला की व्याख्या की जाय तो कला को रस की अभिव्यक्ति कहा गया है। रस की अभिव्यक्ति हो जाना ही कला का स्पष्टीकरण करना है। इधर के कुछ साहित्यकार (मुझे साहित्यकार कहने दीजिए) कला को एक विशिष्ट रूप दे रहे हैं। इस प्रश्न को लेकर इधर वाद विवाद काफी उठ खड़ा हुआ है कि कला में नग्नता का चित्रण कहाँ तक उचित है। मैं नग्नता को बुरी नहीं कहता (और एक ईमानदार आलोचक को कहना भी न चाहिए) परन्तु उस वर्णन में कौन सी प्रवृत्ति कार्य कर रही है यही देखना चाहिए। यदि उसी नग्न स्वरूप में ही समाज का तत्व निहित है तो उस नग्नता से घृणा नही होनी चाहिए।

वह नग्नता सत्य के आधार पर है तो कलाकार को उसका अभिनन्दन करना चाहिए। काका कलेलकर का एक उदाहरण याद आ रहा है "पुराने जमाने में हमारे तान्त्रिकों ने नग्नता की उपासना कुछ कम नहीं की और उसके परिणाम भी देख चुके हैं। लेकिन नग्नता में भी पूर्णता का दर्शन नहीं कराया जा सकता है। दक्षिण भारत में भद्रबाहु वाहुबलि, गोम्मटेश्वर की मूर्तियां हैं। पर इन मूर्तियों के चेहरे पर इन मूर्तिकारों ने ऐसा अद्‌भुत उपासक भाव दिखलाया है कि वह पवित्र नग्नता दर्शक को पवित्रता की ही दीक्षा देती है।" कहने का तात्पर्य यही कि नग्नता में भी सौन्दर्य की ही शुद्धता है, एक शिक्षा है। केवल उसे देखने की दृष्टि चाहिए। और स्पष्ट करने की भी। और साहित्कार को निर्माण करने की शक्ति चाहिए। मूल वस्तु किसी भी कला में भाव-दर्शन है। यदि कलाकार सचमुच ही उच्च स्तर का हैं तो वह बीभत्स से बीभत्स या नग्न वस्तु का चित्रण यथार्थ के आधार पर प्रवीणता से करेगा कि पाठक सचमुच पढ़ कर आश्चर्य करेगा। अतएव नग्नता भी भाव-दर्शन पर ही निर्भर करती है। काव्य में केवल स्वप्नों का तथा जीवन की रँगीनियों का ही चित्रण नहीं होता इसमें वास्तविक भावनाएँ भी अपना एक साकार रूप लेकर अपना अस्तित्व रखतीं है।[1] जहाँ तक इसमें विजय के गीत तथा रूस के तराने गाने की प्रथा चल पड़ी है वह अनुचित है। इसमें स्वाभाविकता नहीं जो अन्य कलात्मक गीतों में है। साहित्यकार अपनी ही परिस्थितियों का चित्रण कर सकता है दूसरों की परिस्थितियों (यहाँ रूस से तात्पर्य हैं) का चित्रण वह कर तो अवश्य देगा परन्तु वह स्वाभाविकता नहीं आ पायेगी जो काव्य में आपेक्षित है। अतएव भारत का साहित्यकार अपने आगे घटित घटनाओं का चित्रण तो बड़े स्वाभाविक

---

1. The personal phantasy or day dream is not Art however beautiful. Nor is the beautiful sunset. Both are only raw materials of Arts. It is the property of Art which makes mimic picture of reality which we accept as illusory.

—Studies is Dying culture
Christopher Caudwel pp 49.

रूप में यथावत कर देता है परन्तु वर्णनों को जिसको उसने सुना है, देखा है नहीं उसमें वह सफल हो नहीं पाता। कलाकार को तो एक स्थान का वर्णन करने के पहले उसके प्रत्येक कण-कण से परिचित होना चाहिए, प्रत्येक प्रवृत्तिया उसके मस्तिष्क में चक्कर काटती रहे और प्रत्येक दृश्य उसकी आँखों के सम्मुख एक साकार रूप ले उठ खड़े हो सकें, तभी वह उसका चित्रण कर सकता है, स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करने में कोई आनाकानी नहीं करता। यह दृष्टिकोण प्रशंसनीय है।

"हमारे लेखक और कवि ही शोषक वर्ग के हैं, अपने वर्ग में उनके लिए स्थान नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके स्थान और जीवन चर्या तथा मनोवृत्ति वर्गगत नहीं है। जनता में उनके गुण ग्राहक कहाँ मिलेंगे ऐसी अवस्था में कवियों का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था।"

यह लिख कर कवि वातों को अधिक स्पष्ट कर देता हैं। वह अपनी पुस्तक (उस पुस्तक में) समाज से दूर है उसे तो अपने ही गीतों में अपनी भावना का करुण-क्रन्दन सुनाई पड़ता है। यद्यपि वह दूसरी पुस्तक [मिट्टी और फूल] में अधिक निखरा है। परन्तु इसी की भविष्यवाणी वह इसी पुस्तक में करता है।

"आधुनिक हिन्दी गीतकाव्य निराशा से परिपूर्ण है परन्तु उसके बारे में निराश होने की जरूरत नहीं। युग बदलेगा युग-धर्म बदलेगा और कवियों का धर्म भी अधिक स्पष्ट होगा।"[1]

इस प्रकार प्रगतिवादी कवियों के भाव युग के साथ ही साथ बदले हैं। प्रगति अपने में सीमिति नही, उसका संतुलन तो परिस्थितियों और आवश्यकताओं के साथ ही साथ होता है। आज का बहुत सा तथ्य प्रगति की सीमा में है, कल का युग उन्हें पिछड़ा हुआ कहेगा। 'पन्त' करुण 'रस' के कवियों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। युग के साथ ही उनके भावों में परिवर्तन हुआ और अब वे साम्यवादी दृष्टिकोण को लेकर चल पड़े। यद्यपि यथार्थ में देखा जाय तो पन्त वादो की सीमा से दूर अपने वास्तविक रूप में बहुत आगे हैं। उन्होंने 'उत्तरा' की भूमिका में एक सुझाव दिया है—

"यदि लोक संगठन के साथ गान्धीवाद की पीठिका बनाकर मनः संगठन का भी अनुष्ठान उठाया जाय और मनुष्य की सामाजिक चेतन में विकसित परिस्थितियों के अनुरूप नवीन रूप से समन्वय किया जाय तो वर्तमान के वियोग के अन्तर्नाद तथा क्रान्ति की कुछ ललकार को लोक-जीवन की संगति तथा मनुष्यता की पुकार में बदला जा सकता है।"[2] इसमें सन्देह नही 'पन्त' का यही समन्वयवाद है। गान्धीवादी विचारधारा का एक अंश और मार्क्सवादी विचारधारा का दूसरा अंश

१.-प्रवासी के गीत—नरेन्द्र शर्मा—पृष्ठ ४

२. उत्तरा—सुमित्रानन्द पन्त—पृष्ठ ४

देकर कवि, मानव के जीवन में नवीन स्फूर्ति लाना चाहता है। इसमें वह साहित्य को एक नवीनधारा देने की चेष्टा में है जो जन-जागरण के साथ ही साथ महत्वपूर्ण है। 'पन्त' की यह कामना और समन्वय की यह दृष्टि एक नवीन युग की चेतावनी दे रही है।

आज के कवियों का नारी विषयक धारणा।

आज के कवियों ने युग के अनुसार नए दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तुओं को देखा है। यदि उसमें कोई त्रुटि है तो अपने शब्दों में दिखलाने की चेष्टा की है। काव्य जगत में नारी का चित्रण प्रत्येक कवियों ने अपने युग के दृष्टिकोण से ही किया है। रीतिकाल में नारी का चित्रण कुछ अन्य रूप में ही हुआ है, उसे कवि 'केशव' ने अपनी वासना तृप्ति का ही साधन माना। 'विहारी' ने उसकी अनेक भाव भँगिमाओं का चित्रण किया। 'केशव' तो यही कह कर सन्तोष करना चाहते हैं—

केशव, केशन अस करी, जस अरिहू न कराहि।
चन्द्र वदन मृग लोचनी 'बाबा' कहि कहि जाय॥

केशव के केशों ने सचमुच ही उन्हे बहुत बड़ा धोखा दिया, कुछ भी होता यदि वे श्वेत न होते तो स्त्रियाँ उन्हें 'बाबा' का सम्बोधन तो न करती। इन पंक्तियों में केशव का ही नही वरन् उस युग की प्रवृत्ति झलकती है। छोड़िये, हमें तो आज का युग देखना है। धीरे-धीरे कुछ सुधारवादी दृष्टिकोण भी सामने आए जिससे मुख्य 'प्रसाद' जी हैं उन्होंने तो—'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' कहकर अपने पूर्ण आदर्श का परिचय दिया। आज के युग मे भी नारी अपना वैसा ही स्थान रखती है। परन्तु ऐसे समन्वय बुद्धि वाले कवि ने नारी के प्रति अपने विचार बड़ी ही आदर्श भावना के साथ प्रस्तुत किया है। वह नारी को एक बंधन में देखते हैं। और, वह युग का चित्रण करते हुए कहते हैं——

क्षुधा काम कह गत युग ने पशुबल से कर जन शासित।
जीवन के उपकरण सदृश, नारी भी कर ली अपहृत।

दो पंक्तियों में आज की नारी का वास्तविक रूप निखर उठता है। युग ने सचमुच ही बर्बरता से नारी को भी अपने भुज पाश में बाँध रक्खा है। उसका वास्तविक स्वरूप देने के लिये फिर से कवि लालायित है—

मुक्त करो आंगन संगिनि को जननि देवि को आहृत,
जन जीवन के मानव के संग हो मानवी प्रतिष्ठित॥

कवि ने नारी को मुक्त कराने की चेष्टा की है। वह पशुबल से शासित नहीं देख सकता क्यों कि वही नारी पौरुष प्रदान करनेवाली है अतएव उसका आदर

होना आवश्यक है। वर्तमान समय की नारी तो वास्तविक रूप से बंधन में है उसे मुक्त करके स्वछंद गगन में उड़ाना ही युग का मार्ग है। आज के कवि भी यदि उसे इस दृष्टि से नहीं देखते तो उसकी अवस्था इससे भी दयनीय होगी। मुक्त करने का अर्थ भी असंयम लिए नहीं उसमें भी एक संयम है। पाश्चात्य सभ्यता का रूप भारत में फूल नहीं सकता, अतएव मुक्त करने का अर्थ स्वच्छंदता की ओर संकेत नहीं करता। आज का कलाकार उसे फूल, तितली और मार्जरी के रूप में देखता है परन्तु वास्तव में उसके पीछे कितना संयम तथा कितना त्याग छिपा होना चाहिये। इसका वर्णन प्रसाद को छोड़कर कोई भी साहित्यकार नहीं कर पाया। उसके प्रति आज का कलाकार एक सहिष्णु रूप को लेकर चलता है। समाज में उसके प्रति वासना है। यही वासना मानवता का पतन करनेवाली है। कवि पन्त स्वयं कहते हैं—

> तुम सब कुछ हो फूल लहर, तितली, विहगी, मार्जारी।
> आधुनिके! यदि नहीं अगर तुम, नहीं सिर्फ तुम नारी।

यह कवि का बड़ा भारी उपालम्भ है समाज को। वह नारी को उस रूप में नहीं देखता जिस रूप में देखना चाहिए। अपने क्रूर आघातों से उसे पुष्प समझ उसकी पंखुड़ियों को पृथक कर देना यह क्रूरता है, नृशंसता है, मानवता नहीं। वह मनुष्य नहीं जो केवल वाह्य-सौंदर्य पर रीझता है। उसे सुरक्षित नहीं करता, उसका आदर नहीं कर सकता वह केवल वासना की पूर्ति को ही मुख्य समझता है। इस प्रकार से मानवता का स्तर से गिर कर ही उसकी चेतना शक्ति का लोप हो जाता है। कुछ कवियों को छोड़कर अभी अधिकांश वर्ग इस स्तर पर नहीं आ पाया है। उनकी कविताओं में कवि को वासना की दुर्गन्ध आती है। उसमें प्रेम का यह उज्ज्वल श्रोत नहीं जो शांत है, स्निग्ध है और सुखदायक है। इसका उत्तरदायित्व कवियों पर ही है, उनकी वासना से ओत-प्रोत रचनाओं को पढ़कर ही साधारण पाठक के मस्तिष्क पर एक आघात पहुंचता है। अतएव इस फैली हुई दुर्व्यवस्था को यदि कोई संभाल सकता है तो कवि ही।

कहने का तात्पर्य यही कि समाज का प्रमुख अंग नारी है। शरीर के किसी भी अंग को दुःख ग्रसित नहीं छोड़ देना चाहिये उसकी पुष्टि सम्पूर्ण अंगों की पुष्टि में ही है। यदि हमें समाज को ऊपर उठाना है तो हमें उसकी प्रत्येक बातों पर विचार करना आवश्यक है। प्राचीन भारत से लेकर मुगल काल के पहले तक हमारे यहां नारी का स्वरूप बड़ा ही आदर्श रूप से वर्णित होता था। उसको आदर सम्मान तथा यथोचित प्रेम भी दिया जाता था। परन्तु संस्कृति के परिवर्तन के साथ ही साथ हमारे साहित्यकार के दृष्टिकोणों में भी अन्तर हुआ।

दृष्टिकोण में अन्तर होते ही हमारी प्रवृत्तियों में परिवर्तन होना स्वाभाविक था। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि अब तक के साहित्य में नारी का स्थान

सामाजिक परिस्थितियों के द्वारा परिवर्तित होता ही चला आया है। उस पर सभी काल के साहित्यकों की दृष्टि पड़ी है। वह सभी के केन्द्र बिन्दु के समान रही, परन्तु प्रगतिवादी कवियों ने नारी को बड़े ही उच्च रूप मे देखा है। नारी के चित्रण में भी कुछ उपन्यास लेखकों ने अपनी एक स्वतंत्र सम्मति रखी है। उनका पृथक-पृथक विस्तार करना एक अलग ही अंश होगा अतएव हम केवल संकेत मात्र ही यहाँ कर सकते है। रूस के पूर्ण आधार पर भारतीय नारी कभी नहीं खड़ी हो सकती। हमें नवीनता की धुन मे आकर प्रत्येक विदेशी वस्तुओं को ज्यों का त्यों अपना नहीं लेना है ।

अतएव प्रगतिवाद अनेक दृष्टिकोणों मे भारत में तभी पनप सकता है जब हमारे यहाँ के कलाकार स्वतन्त्र चिन्तन करें अपनी सम्मति बिना किसी के आधार के रखने की चेष्टा करें—एक सबल तत्व अथवा एक जागृत साहित्य किसी का आधार नहीं ढूँढ़ता वह तो अपनी सत्यता से ही एक जागृति फैलाने की क्षमता रखता है। युग की परिस्थितियाँ ही उसका आधार है। युग की पुकार ही उसकी ध्वनि है। हमारे कलाकार की लेखनी इतनी चिंतनशक्ति से तथा मौलिकता मे भरी होनी चाहिए जो समाज, जाति एवम् राष्ट्र को भी अपने ही रंग मे रंग सके। डॉ० धर्मेन्द्र के अनुसार—

"प्रगतिवाद का सम्प्रदायिक पक्ष मन्द पड़ रहा है। इसका विशुद्ध भारती पक्ष निखर रहा है। प्रगतिवादी काव्य का प्रचारक रूप (Proponganda side) तो अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। जिन कविताओं में वेदना जलन, आह का वर्णन है वे अमर रहेंगी। इसमें कुछ रचनाएँ तो युग की माँग है।[1]

कलापक्ष

कला का स्वरूप बहुत ही विस्तृत है। आज जिस अर्थ में कला का प्रयोग हो रहा है वह अर्थ की अभिव्यक्ति मात्र के लिये ही है। इस पर हम बहुत कुछ पीछे कह भी आये हैं। कुछ लोग तो (Arts for Arts sake) कला को कला के लिए ही रखते है परन्तु उनका दृष्टिकोण उतना व्यापक नहीं हो पाता। आज का साहित्यिक कला की नग्न उपासना चाहता है। किसी भी रमणी की सींक की भाँति पतली कमर, कौड़ी की तरह आँख बता देना केवल कल्पना के पंख लगा कर वास्तविक नारी तक जाना है जिसको कला का रूप दिया जा रहा है। उस बने हुए चित्र में स्थायित्व तो बिलकुल होगा ही नहीं अतएव कला को वास्तविकता की भित्ति पर लाना कलाकार का मुख्य कर्तव्य है। उपादान से कुछ दूसरा अर्थ ले वास्तविकता से दूर कलाकार यदि अपने मन की कल्पना करे तो उसे क्या सफलता मिलेगी। 'मेरी वाणी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार' कह कर कवि अलंकारों की ओर से भी उदासीन

१. 'प्रगतिवाद का रूप' डॉ० धर्मेन्द्र

ज्ञात होता है। उसे ओज चाहिए, माधुर्य चाहिए, इन गुणों के अतिरिक्त उसे अपनी कविता को सजाने के लिए अधिक आभूषणों की क्या आवश्यकता है? वह उसे अधिक कृत्रिमता के बोझ से लादना नहीं चाहता, तथा आभूषणों से लाद कर उसकी प्राकृतिक सुषमा को दबाना नहीं चाहता।

यों तो कविता में अलंकारों की प्रमुखता रीतिकाल के बाद से ही धीरे-धीरे कम हो रही थी। आज के युग के आते कविता की धारा बिलकुल मुड़ गई है। अब तक वह रीतिकाल की रसीली एवम् उर्वरी भूमि से बहती आई है परन्तु रसीली भूमि पर यदि सरिता है तो रसीली भूमि और सरिता में तारतम्य ही क्या? अब वह जीवन के दोनों कगारों की ऊँचाई निचाई को भी स्पर्श कर चल रही है। (वास्तविकता होने के नाते) उसे वह भी बुरी नहीं लगती बल्कि एक स्वाभाविक जागरण भी हो जाता है। काव्य का स्वरूप पत्तियों का सा है (As leaves come from the tree) ठीक उसी प्रकार कविता का भी बहाव है, वह अपने मार्ग को स्वयं बनाती जाती है। इसे समतल भूमि की आवश्यकता नहीं। अपने पथ का निर्माण करने में वह बहुत ही सतर्क है। प्रगतिवादी धारा का स्वरूप ऐसा होना भी चाहिए। छाया वादी कविताओं का सबसे बड़ा दुर्गुण उसका दुरूह होना था। इसको निकालने का प्रयत्न इन कवियों ने विशेष रूप से किया। धीरे-धीरे अलंकारों का प्रयोग भी इसमें कम होता जा रहा है और उपमाओं में भी कुछ परिवर्तन हैं अब उपमेय का स्वरूप जीवन में प्रयुक्त उपकरणों से ही निश्चित किया जा रहा है। जीवन की वास्तविकता को किसी 'अनन्त के गान' या तम के पर्दे की सी अनर्गल उपमा देना छायावादियों की प्रवृत्ति थी। अब कलाकार वास्तविकता के क्षेत्र में आ रहा है वह टाँगों की उपमा (यदि वे पतली है तो) टहनी सी टाँगे कह कर सन्तोष कर लेता है। उपमान तथा उपमेय दोनों ही जीवन के अधिक निकट होते जा रहे हैं। रात्रि की कालिमा का बोध, अब काली मजदूरनी सी रात

कह कर कराया जाता है। कविता का रूप आज इसी प्रकार का होता जा रहा है। कविता सर्व साधारण की वस्तु है साहित्यकार ही समाज की देन है अतएव जैसा भी समाज होगा उसको वैसा ही तथ्य अथवा सल्यूसन मिलेगा। कविता हृदय की वस्तु है उसके लिये माथ सिकोड़ बटोर करके, उसके तथ्य को ग्रहण करना उपयुक्त नही 'उसे तुलसी की कविता की भाँति होनी चाहिए जिसे सभी अपनी बुद्धि-नुसार समझ लें उसमें जन गंगा का प्रवाह है', स्वर्ग अथवा पाताल की गंगा से (जो अदृश्य है) उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं। जहाँ तक सरलता एवम् सुबोध होने का प्रश्न है उसमें आज का कवि अधिक सफल है।

यदि शैली की दृष्टि से देखा जाय तो प्रायः इन कवियों में तीन प्रकार की शैलियाँ मिलती होती है। पहली को हम वर्णनात्मक दूसरी को भावात्मक और तीसरी को उद्‌बोधनात्मक कह सकते हैं।

वर्णनात्मक शैली से तात्पर्य सीधे-सीधे वर्णन कर देने से ही है। इस वर्णन के क्रम में भी आवश्यक वस्तु छूट नहीं जाती। ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि अपने मस्तिष्क के पिटारे से प्रत्येक वस्तु एक के बाद एक निकाल करके रख रहा है। इस शैली को लेकर किसी भी दृश्य को लेकर उसका वर्णन करने में कवि सफल हो सकता है। बीच-बीच में वह अपनी अनुभूतियों के पुट से वर्णन को और भी मधुर बना देता है। पन्त जी ने इसी शैली को अपनाने का प्रयत्न किया है। उन्हें अधिक सफलता नहीं मिल पाई है। भगवती बाबू ने इसमें अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त की है। उनकी कविताओं में वर्णन की प्रचुरता मिलती है। साथ ही साथ उसमें एक समता भी आ जाती है। कुशल कवि इसको और रोचक बना सकता है। अनुभूतियों के चित्रण में वह एक-एक करके प्रत्येक सीढ़ियों पर चढ़ता जाता है। उनकी भैंसागाड़ी इसके उदाहरण में आ सकती है।[1]

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे कुछ पाँच कोस की दूरी पर।
भू की छाती पर फोड़ों से कुछ उठे हुए हैं कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खण्डहर उनको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम।
जिसमें भर देती है धुँधलापन असफलता की सुबह शाम।

'कुछ पाँच कोस की दूरी पर' लिखकर कवि एक चित्र उपस्थित कर देता है। उस चित्र में कितनी व्यथा, सजीवता तथा दबी हुई आभा है। इसका बोध भली-भाँति पाठक को हो जाता है। अथवा पन्त जी की ये पंक्तियाँ—

उसका लम्बा डील डौल, है हट्टी,कट्टी काठी चौड़ी।
इस खण्डहर में बिजली सी, उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी॥[2]

यह पंक्तियाँ बतलाता है कि उसकी अवस्था (वर्तमान अवस्था) कितनी दयनीय है। एकदिन की जब उसका भरा पूरा यौवन रहा होगा परन्तु आज तो उसकी चौड़ी काठी ही दिखलाई देती है जो कि ऊपर कही गई बात का प्रमाण है। उसकी युवावस्था के बारे में कवि सोचता है। वह उसका वर्णन करता ही जाता है, इस प्रकार से इसमें एक वर्णन की रूक्ष शैली दिखलाई देती है। कवि ने कृषक के दयनीय दृश्य को दिखलाने का प्रयास उसके कंकालवत शरीर की रूपरेखा खींचकर किया है। इस प्रकार वर्णनात्मक शैली में सफलता इन्हें मिलती है।

दूसरी मुख्य प्रणाली को हम भावात्मक कह सकते हैं। भावात्मक शैली में भावों की प्रधानता रही है। उसमें भावों का एक अपना पृथक दृष्टिकोण है। किसी समाज की दुर्दशा का चित्रण करने में यह प्रणाली अधिक सहायक होती है। इसके अन्तर्गत जो काव्य की धारा प्रवाहित है वह अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। दिनकर जी की कविताओं में हम इसका अधिक आभास पाते हैं। निम्न पंक्तियों में एक ग्राम युवती का चित्रण है। जो अपने नन्हें शिशु को अपने क्रोड में सुलाये है।

---

१. उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से, कुछ उठे हुए हैं कच्चे घर।

२. पन्त—वे आँखें

उसकी अवस्था शोचनीय है। अन्त में उसका प्राण निकल जाता है, परन्तु वह आर्थिक अभाव के कारण उसके लिए कुछ कर नहीं सकती।

'पर शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना।
चूस-चूस सूखा स्तन माँ का सो जाता हो विलप नगीना॥
विवश देखती माँ आँचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती।
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती॥'[1]

अन्तिम पंक्तियों में भाव का सबल स्थान है। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रत्येक शब्द बोलते हैं। वे स्वयं अपने मुख से ही अपनी कथा सुनाते हैं। इस शैली के अन्तर्गत अधिकांश कवियों ने या तो भारत दुर्दशा का चित्रण किया है या समाज के निम्न स्तर के लोगों का, जिसकी दशा दयनीय है, जिसमें दुःख की प्रधानता है। कवि अपने अन्तर की ध्वनि को जनता को सुनाना चाहता है। ऐसा ही उदाहरण नरेन्द्र शर्मा की कविता में लीजिए—

मैं मरघट का पीपल तरु हूँ घड़ी-घड़ी यमदूत याम नित,
घड़ी-घड़ी जिसमें सुधि का जल बाँध रहे हैं तृषित कण्ठ से,
करने आगत का उर शीतल, पर क्या मेरी प्यास बुझेगी,
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ।[2]

इन पंक्तियों में भाव कितना प्रबल है। मरघट का पीपल तरु कितना वीरान रहता है। कवि अपनी उपमा मरघट के तरु से देता है जो देखने में हरा भरा है—प्रसन्न है परन्तु वास्तव में वीरान है, श्मशान है—जिसमें स्मृतियों की ज्वाल कभी-कभी प्रज्वलित हो उठती है। कवि इसी प्रकार अन्य गीतों में भी भाव के सबल वेग को दबा नहीं पाया है। अन्तिम पंक्तियों में तो वह अधिक निराशावादी हो गया है। उसकी प्यास शाश्वत है वह कभी बुझ ही नहीं सकती। इस प्रकार भावनात्मक शैली में भाव की तीव्रता, उपमाओं का व्यापक संतुलन अधिक रहा है। कवि अपनी लेखनी से करुणा की सृष्टि करता चलता है अधिकांश कवि आज इसी शैली को अपना रहे हैं।

तीसरी शैली के अन्तर्गत उद्बोधनात्मक शैली आती है। इसमें अधिकतर हम उद्बोधन के गीत देखते हैं। भावावेश की व्याकुल व्यञ्जना युवकों को सम्बोधन करके उन्हें बढ़ावा देने के गीत भी पाए जाते हैं। समाज के जो अत्याचार हैं, कुरीतियाँ हैं उन्हें लोगों को सुनाने के लिए एक भीषण हुंकार का वर्णन इसमें प्रतीत होता है। इसी शैली के अन्तर्गत अधिकांश प्रचारात्मक साहित्य भी पाया जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

---

१. हाहाकार—दिनकर २. पीपल तरु—प्रवासी के गीत—नरेन्द्र शर्मा पृष्ठ १३

हाथ हथौड़ा लिए हुए हैं सम्मुख आ सकता है कौन ?
लोहे की दीवार हमारी, हमें हिला सकता है कौन ?
फिर आवाज बुलन्द करो सब, इन्कलाब फिर जिंदाबाद,
हो बरबाद फिर सरमायदारी, इन्कलाब फिर जिंदाबाद ॥

इन पंक्तियों में एक ललकार छिपी है इन्कलाब के लिए उभाड़ी जाती हुई जनता पाई जाती है। इसमें एक क्रान्ति का उद्देश्य स्पष्ट लक्षित होता है। ऐसे गीतों के लिये इस प्रकार की शैली अधिक उपयुक्त होती है। कहीं कहीं पर इसमें भावों की प्रबलता तथा नारेबाजी का भी दर्शन हो जाता है परन्तु ऐसे स्थान बहुत कम हैं। दिनकर भी राजस्थान की दीन दशा का चित्रण करते हुए लिखते हैं। इसमें भाव का भी वेग है और सिकता कण से पूछने के लिये हिमकण का संबोधन भी है।

पूछे सिकता कण से हिमपति, तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन वन स्वतंत्रता दीप लिए फिरनेवाला बलवान कहाँ ?
ओरी ! उदास गाण्डकी बता, तू विद्यापति के गान कहाँ ॥

कवि राजस्थान का वैभव फिर से देखना चाहता है। उसका वही शौर्य पराक्रम का रूप उसके स्मृति-पट पर खिंच रहा है। वह उसकी पुनरावृत्ति के लिए सिकता कणों से कहता फिरता है।

अन्योक्तियों को भी इस कविता में स्थान मिला है। एक व्यंग की भावना भी इसमें दिखलाई देती है। एक उदाहरण लेने से यह स्पष्ट हो जायेगा। यह व्यंग है उन कवियों के प्रति जो असीम सत्ता के प्रति विश्वास कर उस पार की कहते हैं। उन्हीं के प्रति कवि कह उठता है—

शुद्ध कला के पारखी, कहते हैं उस पार की,
इस दुनियाँ की कौन कहे, भवसागर में कौन बहे,
जै हो राधा रानी की, या जिसने मन मानी की,

भवसागर कह कर भवसागर में बहने वाले कवि अन्य कवियों का मजाक उड़ाते हैं। यह अन्य प्रकार के कवियों पर ही छींटा है। इसका क्षेत्र भी अन्योक्ति में आ सकता है।

प्रगतिवादी कविताओं में सरलता के साथ सुन्दरता की सृष्टि भी हुई है। जिसे प्रत्येक व्यक्ति पढ़कर समझ सकता है। हाँ कुछ त्रुटि या अभाव जो पाया जाता है वह कुछ कवियों में भाव का छिछलापन है। भाषा की सरलता से तात्पर्य यह नहीं होना चाहिए कि वह भाव से शून्य हो। एक उदाहरण लीजिए—

सिगरेट के खाली डिब्बे पन्नी चमकीली,
फीते के टुकड़े तस्वीरें नीली पीली।

उपर्युक्त पंक्तियों में न तो काव्य है न तो भाषा सौष्ठव ऐसा प्रतीत होता है केवल कहने के लिए कोई बात कह दी गई हो।

अतएव प्रगतिवादी कलाकार के सम्मुख एक आधार है, तपड़ता हुआ जीवन है और है यथार्थ की कड़ुआहट। इसे अपनाना उसका कर्तव्य है—परन्तु वह एकांगी है यदि वह निर्धन समाज का चित्रण करता है तो उसे धनिकों की विवशता को भी नहीं छोड़ देना है। वह दिखलावे कि समाज के दो अंग है एक ओर तो विलास से जर्जर समाज है दूसरी ओर निर्धनता का साम्राज्य। वह इन दोनों पहलुओं में से किसी को छोड़ नहीं सकता—परन्तु आज के साहित्य में हम यही पाते हैं कि मजबूरी के गीत ही खूब गाए जाते हैं दूसरे अंग की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। इस अभाव की पूर्ति करना ही आधुनिकता को अपनी पूर्ति करना है। यदि समाज के दोनों पहलुओं को हम लें—और साहित्य का आधार हम इसे ही बनावें तभी समाज का पूर्ण चित्रण हो सकेगा। आधुनिक साहित्य में एक अभाव मिलना है वह केवल एक ही वर्ग (प्रायः सर्वहारा) की बात करता है दूसरा उपेक्षित रह जाता है। यह एक वर्ग के प्रति पक्षपात है।

जहाँ तक प्रगति का तात्पर्य है वह सापेक्ष्य है, अपने में सीमित भी नहीं, अतएव नहीं कहा जा सकता कि साहित्य की यही प्रवृति प्रगतिशील कहाँ तक है। हाँ आज यह प्रगतिशील है अवश्य, हो सकता है कल अपनी नवीनता के साथ आवे। तब आज की प्रचलित प्रवृति कल के लिए पुरानी हो जावेगी। निष्कर्ष यह रहा काव्य में आधुनिकतम प्रवृति और अनुभव अधिक महत्वपूर्ण तथ्य हैं। जब तक "वर्तमान कवियों में स्वानुभूति का अभाव रहेगा तब तक काव्य का स्वरूप निखरेगा नहीं, उसमें जीवन ही नहीं आ पायेगा। जिस दिन कवि अपनी अनुभूति पर आधारित हो, अपने सुख दुःख के राग गाकर अपने काव्य की आरती करेगा उस दिन उसकी काव्य मूर्ति में प्राण का सञ्चार हो जायेगा। प्रगति का वास्तविक अर्थ तो जीवन में सामञ्जस्य करके गतिशील रहने की क्रिया ही है जो भी नवीन ज्ञान, अनुभव तथा अनुभूतियाँ हैं उन्हीं पर आधारित रह करके हमें काव्य रचना करनी है। यही स्वानुभूति ही कवि-प्रेरणा के रूप में मानी जानी चाहिए।

यथार्थ प्रतीक और आदर्श

मानव-जीवन का विकास अपनी अनुभूतियों, अपने विचार तथा चिंतन से सम्बन्धित रहता है। वह जिस जीवन के स्तर पर रह रहा है उसकी महत्वकाक्षाओं उससे दूर ले जाती हैं, कुछ उन्नति की ओर, प्रगति की ओर। यही उन्नति और प्रगति उसके जीवन का आदर्श है और उपस्थिति परिस्थितियां जिसको देखता हुआ, जिसमें रमता हुआ वह आगे बढ़ने की कामना करता है वह यथार्थ है-। यथार्थवाद वस्तुओं की उस सत्ता का समर्थक है जिसमें वह अपने सम्मुख देख रहा है, उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तु जगत से है। समाज एवम् जगत का कड़वा अनुभव, यथार्थवाद का आधार है। वास्तविक जगत से कुछ दूर की वातें, सत्यता, को स्पर्श न करने वाली अनुभूति पर स्थिति विचार आदर्शवाद का लक्ष्य है, परन्तु सत्यता के आधार पर हो सकता है, इस प्रकार से यथार्थवाद की नींव पर ही आदर्शवाद की कल्पना खड़ी हो सकती है।[1] मानव जो कुछ भी अनुभव करता है, सोचता है उसका प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण ही यथार्थवाद कहा जा सकता है। इस प्रकार से मानव के चिन्तनात्मक प्रवृत्ति की ओर यथार्थ का झुकाव अधिक है। यथार्थवादी चित्रण में जनता के साधारण व्यापार का छोटी सी छोटी प्रवृत्तियों की झांकी स्पष्ट अंकित होती है। इसमें सन्देह नहीं कि विचार मस्तिष्क की उपज है, यथार्थवादी परिस्थितियों का चित्रण करके ही सन्तोष कर लेता है परन्तु एक आदर्शवादी उन परिस्थितियों में उनमें ही सुधार के लिए एक सुझाव बतलाता चलता है।

"यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि इस मन्दिर के कंगूरे का शीर्ष यद्यपि हमसे बहुत ऊँचाई पर है और उसका लक्ष्य हमसे अत्यन्त विपरीत दिशा की ओर जाना पड़ता है, वह हमारे हाथ आने वाली वस्तु नहीं दिखलाई देता तथापि उसका आधार वही धरती है जिस पर हम खड़े हैं।"[२]

---

1. Modern Realism maintanis the independance existence of the external world. Its distructive possession is that we apprehend the world directry in perception Tne claim of thought and sense is problem of Realism
Realism—Zafarullah chapter III p. p. 106.

२ आदर्श और यथार्थ—पुरुषोत्तमदास

यथार्थ का चित्रण जीवन के कगारों का स्पर्श करता हुआ, उसी में रमता चलता है, इउका कारण है उसका वास्तविकता के प्रति सम्मान, अपनी खुली हुई आंखों से साधारण अनुभव में घटित वस्तुएँ ही वास्तविकता का आधार हो सकती हैं। उपर्युक्त उदाहरण से मन्दिर का आधार भूमि पर ही खड़ा है। उसे धरती का सहारा है। ऐसा ही यथार्थवाद है भूमि का आधार ही कगूरे के लिये नियंत्रण देता है, इसमें सन्देह नहीं कि आधार और कंगुरा दो विपरीत ओर हैं परन्तु सर्वोच्च अथवा छोर निम्नतर छोर पर ही आधारित होता है। निम्नतर छोर की स्थूलता, कुरूपता कोई भी वास्तविक सत्ता जो सत्यता से सम्बन्धित है यथार्थवाद की चिन्तन शक्ति में स्थान पा सकती है।*

इस प्रकार वास्तविकवाद साधारण पाठकों को जीवन में होने वाली अनेक घटनाओं की ओर संकेत ही नहीं करता बल्कि उनका विश्लेषण भी करता जाता है। इस चिंतन में तीन प्रवृत्तियाँ रूप से कार्य करती चलती हैं......

(१) वास्तविक तथ्य (२) जीवन की प्रेरणात्मक शक्तियों की अभिव्यञ्जना और (३) सुन्दर असुन्दर, मंगल अमंगल भावनाओं का चित्रण।

वास्तविक तथ्य—से हमारा तात्पर्य उन अनुभतियों से है जो साधारण जीवन से सम्बन्धित हैं। उन सम्बन्धित तथ्यों का स्पष्टीकरण, जिस रूप में वह है उसी रूप में ही साहित्य में वास्तविकता की सृष्टि करता है। साहित्यकार देखता है कि समाज रूढ़िवादी हो रहा है। ऐसे समाज ठीक राह पर चलते हुए को उचित फल नहीं देता और न्यायसंगत तथा अन्यायसंगत कार्यों को करके एक मानव सुख प्राप्त करता है। साहित्यकार जो देखता है उसका चित्रण करना ही चाहे वह कैसा भी प्रकरण क्यों न हो यथार्थवाद है। यदि एक सानव न्यावसंगत अथवा अन्यायसंगत कार्य करके ही सुखी होता है और साहित्य में इसका विवरण दिया जाता है तो वह साहित्यकार वास्तविकता अथवा घटना कहकर जीवन के उचित मार्ग पर ही चलता है। यदि देखा जाय तो वास्तविक जीवन की विभीषिकाओं की कल्पना एक यथार्थवादी इसीलिए करता है कि उसमें उसे अपूर्णता और असंतोष की छाया मिलती है। वास्तविक तथ्यों का चित्रण करके वह जीती-जागती सांसारिक वस्तुओं की रूपरेखा तो प्रस्तुत करता ही है इसी के साथ साथ वास्तविकता में जो एक अनाचार का

---

*Realism is to be understood as a general tendancy of a purpose, the purpose of conveying to the Reader whatever may be accomplished, a story sense of things, actual in experience and within the range of human life.

Idealism Aesthetical Survey by Erwing.

वर्णन होता है उसी के प्रति विद्रोह भी छिपा रहता है। जब कि कवि स्वार्थ की छेनी लिए, लोभ का हथौड़ा लिए मनुज का वर्णन करने लगता है :—

स्वार्थ की छेनी लिए लेकर हथौड़ा लोभ का,
मनुज ने निज पूर्ण पावन मूर्ति को खण्डित किया,
सत्य से आँखें फिरी, मुँह फेरकर जब न्याय से,
'कुछ न दूँ पाऊँ सभी कुछ' यह नियम अपना लिया।[1]

तो सम्भवतः उसका यही तात्पर्य होता है कि उसका यथातथ्य चित्रण जिसकी वह व्यञ्जना कर रहा है, उसके प्रति (इस स्थल विशेष पर) उसका अनुराग नही। मनुष्य की यह क्रिया कि 'कुछ न दूँ पाऊँ सभी कुछ' कवि को खटकती तो अवश्य है, वह जो देखता है उसी का ही चित्रण कर रहा है, इसीलिये वह यथार्थवादी है और उसका यह वर्णन भी सत्य है परन्तु इसी सत्यता के पीछे उसकी वह मनोवृत्ति छिपी है कि यह मानव की यह क्रिया दूर हो जाय। जहाँ पर उसका यथार्थ आदर्श की ओर संकेत कर रहा है।

इस प्रकार से वास्तविक तथ्य का चित्रण तो कवि ने कर ही दिया परन्तु उस कड़ुवे घूंट से यह ध्वनित होता है कि मानव का यह व्यापार जो आज के जीवन में चल रहा है उसकी सयत भावनाओं पर ठेस पहुँचाने वाली है। एक और उदाहरण लीजिए जिसमें कंगालों का चित्रण करके कवि-वर्ग संघर्ष की ओर अग्रसित होता है। दुर्बल तन देखकर उसकी कल्पना एक कंगाल का रूपक खींचती है, और वह कंगाल उसके मस्तिष्क की ही उपज नहीं अर्थात् काल्पनिक ही नहीं वल्कि आँखों देखी बात है। समाज में ही रम करके चलते-चलते उसकी (कवि की(आँखें ठिठक जाती है कंगाल को देखकर।

भूख भूख सब ओर भूख की लपटें इंधन, तन दुर्बल,
किसे आज सुनने की क्षमता, किसे आछ सुनने का बल,
हाथ बँधे मुँह बन्द और, शिर विनाश बादल छाया
क्षुब्ध-तंरगों पर उतराता, कंकालों का दल आया।[2]

भूख की लपटे तन को इंधन के समान दुर्बल बना रही है। वास्तविकता का चित्रण तो यहाँ अवश्य है, परन्तु इसी वास्तविकता के साथ ही साथ समाज की गिरी दशा किसी की न सुनने वाले लोग, अपने ही राग में मस्त पदलोलुप मानव का भी चित्रण अप्रत्यक्ष रूप से आ जाता है। इस प्रकार तो एक ही तथ्य को कह करके कवि ने अपनी अनुभूति के द्वारा अनेक पार्श्वों पर प्रकाश डाला है। यथार्थवाद एक ऐसा विन्दु है अथवा एक ऐसा केन्द्र है जिसके चतुर्दिक अनेकों भावनाओं से सम्मिलित एक रेखा खिंच उठती है। कवि के मस्तिष्क में एक

---

१. हंसमाला—नरेन्द्र पृ० ३२
२. वही

तथ्य कंगाल का तो प्रारम्भ में (In Infancy) हुआ परन्तु उसी एक शब्द में अनेक अर्थ, अभिव्यञ्जनाएँ छिपी हुई है उनका विस्तार कलाकार की जानकारी के साथ ही साथ होता गया है ।[1] कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि यथार्थवाद यह संकेत करता चलता है कि क्या होना चाहिए, वरन्तु वह अपनी व्यंजनात्मक शक्ति से एक ऐसा विचार (पाठक अथवा श्रोता) के मस्तिष्क में उत्पन्न कर देता है जिससे उसकी प्रवृत्ति तथा विचार, जिसको वह स्पष्ट करना चाहता है, अप्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से प्रकट हो जाता है। यथार्थवादी कवि का यह स्वरूप प्रशँसा के योग्य है । जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि कलाकार वास्तविक तथ्य को उपस्थित करके उसकी अनुपयोगिता अथवा उपयोगिता अपने आप खुले शब्दों में नहीं वतला देता किन्तु वह परिस्थिति के निर्णय के लिए स्वयं कुछ न कहकर पाठक पर ही छोड़ देता है ।

दूसरा तथ्य यथार्थवादी प्रवृतियों का जीवन की प्रेरणात्मक शक्तियों की अभिव्यंजना करना है । यथार्थवादी कलाकार जीवन की आवश्यकताओं का वर्णन ज्यों का त्यों ही करता है उन, आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य जो कुछ करता है अथवा (इसी सम्वन्ध में) उसके मस्तिष्क में जो कुछ विचार आते हैं उनका स्पष्टीकरण उसी प्रकार से कर दिया जाता है। यशपाल द्वारा वर्णित शैलबाला ठीक इसी प्रकार कार्य करती हुई देखी जाती है। वह परिस्थितियों से संघर्ष करके अपने भावों में एक ऐसी अनुभूति उत्पन्न कर लेती है जो समाज और साधारण मान्यता के विरुद्ध हो जाती है। उनके 'तर्क के तूफान' में कहानी की नायिका जो बहुत दिन तक अपने जीवन के वास्तविक पक्ष में अधूरी ही रही और स्पष्ट शब्दों में यदि कहा जाय तो यह कि जो कि अपने बीस-बाइस वर्ष के जीवन में केवल अध्ययन हीं करती रही। सहसा एक रात कों पहाड़ी हवा के झोकों के लगने से कुछ आन्तरिक पीड़ा का अनुभव करती रही होगी और तभी उसे ज्ञात होता है कि जीवन का एक सबसे महत्वपूर्ण-पहलू प्रणय को उसने छोड़ ही दिया है। मैं नहीं कह सकता यशपाल कहां तक मनोवैज्ञानिक चित्रण करने में सफल हुए हैं परन्तु रात्रि में ही निद्रा भंग होते ही ज्यों कुछ स्मरण होता है त्यों ही वह उस होटल

---

1. It begins in infancy and first space is for us confined to sensuousness. As developing intellect begins to work upon these immediate data, we start analysing out relation with in the field of our awareness and our thought.

—Personal realism

General realistic Hypothesis by James Bishop Pratt

pp. 153

में रुके महात्मा के पास सन्तान मांगने चली जाती है।[1] यह नारी का वह चित्र है जो बताता है कि जीवन में एक अंश की अतृप्ति कभी क्या से क्या कर डालती है। यह उस अतृप्ति का स्फोट है जिसके झोंके में आकर नारी की लज्जा, संयम की भावना और सभी कुछ उड़ जाते हैं। कहानीकार कहाँ तक इस चित्रण में सफल हैं यह तो मैं नहीं कह सकता परन्तु जीवन में एक यथार्थ विचार का अच्छा स्पष्टीकरण है कोई सकोंचशील कहानीकार इस अवसर पर बचा ले जाता और वह केवल उसके मस्तिष्क में प्रणय के अभाव को खटाकाकर ही रह जाता, परन्तु यशपाल का नि:संकोची मस्तिष्क प्रायः ऐसी ही नायिकाओं की रूपरेखा बाँधा करता है। उनकी शैलवाला जगत के भावों और विचारो के प्रति एक विद्रोह करती है 'दादा कामरेड' से समाज की दृष्टि में अनुचित संसर्ग करने के पश्चात् जब उसका फल उसके पिता को डाक्टर से ज्ञात होता है तो उसे भी वह अपनी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति से टालने का प्रयत्न करती है। यह यथार्थ का वह स्वरूप है जिसको देख करके लेखक आदर्श का सब पाखण्ड भूल बैठता है, यह निस्संदेह पाश्चात्य रियलिज्म *का प्रभाव है, My life उपन्यास का एक पात्र ठीक इसी संघर्ष के उन तरीकों के* अपनाने का प्रयत्न करता है......*

ऐसे वर्णनों में अभी हिन्दी के कुछ ही उपन्यासकार आगे आ सके हैं। जीवन में प्रेम और नारी के वास्तविक हृदय का दर्शन कराने का यथार्थवादी ढँग अभी कुछ ही कथाकारों ने अपनाया है। शेखर में अज्ञेय भी कुछ ऐसी भावनाओं को लेकर चले हैं परन्तु उस पर फिर भी संकोच और मर्यादा का पर्दा है। अज्ञेय की शशि शेखर से प्रेम के सम्बन्ध में खुल कर कह नहीं पाती है सम्भवतः अपने संकोच के कारण परन्तु फिर भी उसे (शशि को) बतलाना ही है, परन्तु वह जानती थी कि उसका जीवन अधिक दिनों का नहीं—थोड़े दिनों तक जब तक वह जीवित रहेगी[2] फिर भी कहीं-कहीं उसकी भावनाएँ अंगड़ाइयां ले उठी है। जैसे वह स्वयं अपनी ठोड़ी उठाती है, उसकी आँखें अर्द्धनिमिलित है और ओठ अधखुले वह निश्चय

---

१. तर्क का तूफान—यशपाल

*What need here is other methods of struggle strong and swift. If you really want to be useful, the step beyond the narrow limits of common place, activities and try to influence the masses atonce.

My life. Sadyaje

2. I want to die while you love me,
Why yet you hold me fair,
Why laughter lies upon my lips,
And lighhts are in my hair.

बोलती नहीं और भी उसके मौन में ही उसकी आतुरता और चिरपरिचित भावना छिपी है जो अन्त में शेखर को बतला ही देती है कि—

'बेले के अधखिले सम्पुट को स्निग्धतम् स्पर्श से ही छूना चाहिए और ओठों के निकट पहुँचते वह ग्रीवा कुछ मोड़ कर अपना कर्णमूल शशि के ओठों से छुआ देता और फिर स्तब्ध किन्तु बेझिझक ओठ चूम लेता है, निर्द्वन्द, वरद, दीर्घ चुम्बन।

अज्ञेय ने यहाँ पूर्ण यथार्थ का ही आश्रय लिया है। शशि के हृदय में जो भी भाव शेखर के प्रति है उन सभी भावों का यथास्वरूप वर्णन करा दिया है। जीवन की अनुभूतियों को ज्यों का त्यों चित्रण करना ही यथार्थवादी दर्शन का उद्देश्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यथार्थवादी, जीवन को जीवन के रूप में ही लेता है, मनुष्य गलतियाँ करता है भूल करता है, उसके हृदय में अनेक भावोद्रेक होते रहते हैं— साहित्यिक उन भावाद्रेकों का ठीक उसी रूप में वर्णन कर देता है, यथार्थ की यही व्याख्या है, वास्तविकता का यही संदेश और साहित्यकार का यही कर्त्तव्य है।

यथार्थवाद के इस स्वरूप का प्रभाव अथवा दर्शन आधुनिक साहित्य में दिखलाई देता है। आज का कवि सूक्ष्म आदर्श के विरुद्ध तो अपनी आवाज उठाता ही है इसके अतिरिक्त वह शून्य का गान भी नहीं चाहता, उसको अपने जीवन के ही गान प्रिय है, वह चन्द्र की आभा में मुस्करा उठता है अपनी सिहरन का चित्रण भी ठीक उस रूप में करता है उसे छिपाता नहीं, उसके अन्दर एक विद्रोह की भावना और संसार के पुनर्निर्माण की भावना हिलोरें ले रही हैं, इसका कारण यही है कि उसे केवल आदर्श से संतोष नहीं, अज्ञेय ने एक स्थान पर संकेत किया है—

आओ! हम तुम फिर इस संसार का निर्माण करें। हम बहुत ऊँचे उड़ना चाहते थे, सूर्य के ताप से हमारे पंख झुलस गए उस वातावरण में हमारा स्थान नहीं था।

सूर्य की ज्वाला से जल कर, सिहर कर, भय खाकर और अन्त में वहाँ निश्चित रूप से यह तय करने पर कि उसे (यथार्थवादी साहित्यकार को) स्थान नहीं मिलने का है, उसने यह कहा——

हम अपना नीड़ पृथ्वी पर बनायेंगे।

नहीं वृक्ष की डालों पर नहीं, वहाँ पवन का वेग हमें कष्ट देगा। हम अपना छोटा सा नीड़ इस भूमि पर बनायेंगे, हमने बहुत मान लिया है।',

किन्तु भूमि पर हमारे घर पर जब यह अभिमान नहीं होगा लोग हमें अति क्षुद्र समझकर ठुकराना भी भूल जायेंगे।

बाद में सोचते-सोचते उसके मस्तिष्क में अपने विचार के प्रतिकूल ही एक भावना फिर दृढ़ हो जाती है। भूमि पर एक सुरक्षा में लीन होकर ही घर सुखी रहेगा, परन्तु बाद में 'हम नीड़ क्यों बनायें? हमें अपना स्थान बदलने की भूल नहीं चाहिए। हम भूमि पर रहेंगे हम तुम हमारे सामने यह निर्णय बनाए। अब

मारे पास कुछ भी नहीं रहेगा जो दुनिया हमसे छीन सके तब हमारे जीवन में वेष बीज बोने को कोई नहीं आयेगा।[१]

अतः आओ हम तुम अपने संसार का फिर से निर्माण करें। अज्ञेय की इन पंक्तियों में पहले संसार की वास्तविक विभीषिकाओं से पलायन की भावना दृढ़ है अन्त में वह सोचता है शून्य—बहुत ऊँचा केवल आदर्श की कल्पना उसे ठीक नहीं ज्ञात होती। इन पंक्तियों में एक काव्य की सी झलक है जिसमें कि यथार्थवाद का भविष्य बोल रहा है। काडवेल के शब्दों में यही कवि अथवा उपन्यासकार जीवन से टक्कर खा आगे बढ़ता है यह वही अवस्था है—*

यथार्थवाद का यह स्वरूप है जो आज के साहित्य में निखकर रहा है, इसका स्वरूप अधिक व्यापक हो जाने पर प्रतीकवाद से सामञ्जस्य करता हुआ दिखलाई देता है।

अस्तु यदि यथार्थवाद की व्याख्या करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वह जीवन के अधिक निकट है उसमें जीवन के स्वस्थ नियमों की मात्रा अधिक रहती है, परन्तु थोड़ा आगे बढ़ने पर हम यथार्थवाद के साथ खिलवाड़ करते हुए कुछ साहित्यकों को पाते है वे कभी-कभी विकृत और असंतुलित चरित्रों की गाथा गायाकरते है, इन पर आदर्शवादियों का यह आक्षेप हुआ कि उन्होंने हमें स्वस्थ और अधिक यथार्थ वस्तुओं को देने की योजना बनाई थी परन्तु इसके स्थान पर उनके द्वारा आज हमें असंयत भावनाएँ ही मिल रही है। उन भावनाओं का संयत होना अथवा न होने का क्या आधार है उस पर प्रकाश डालना यहाँ अभीष्ट नहीं इसलिए उसके विषय में ज्यादा कहना उचित नहीं संक्षेप में यथार्थ एक Objective space चाहता है, यह कटुसत्य को नही छोड़ना चाहता परन्तु उसका विकृतरूप ही उसे त्याग देना है, यथार्थ की इसी रुचि ने साहित्य में कुछ (कही-कहीं पर) अरुचि उत्पन्न कर दी उसी अरुचि के फलस्वरूप एक दूसरा रूप जो यथार्थ चित्रण ने ग्रहण किया है प्रतीकवाद है। वही यथार्थवाद की ही आत्मा है। इनमें वही ध्वनि है जो सवाँरी गई है। यथार्थ की कड़ुवाहट से ऊब कर यथार्थवादी साहित्यिकों ने प्रतीकवाद को ही मायर्स के अनुसार अपने नग्न, निकृष्ट और नीरस वाग्विस्तार को अधिक अर्थ गर्भित बनाने के लिए प्रतीकवाद का रूप धारण कर लिया। जहाँ तक हिन्दी साहित्य से सम्बन्ध है वहाँ, कठोर यथार्थ की उपासना अभी कुछ ही दिनों से होना प्रारम्भ हुई है परन्तु अंग्रेजी साहित्य के यथार्थवादियों की तरह यहाँ के यथार्थवादी भी

---

१. चिन्ता—विश्व-प्रिया—अज्ञेय

*Thus the poet was forced by life i. e. by his experience to concentrate just those words and organising values which were becoming steadily less meaningful to man as a whole.

कुछ विकृत वस्तुओं की कल्पना करने लग गये हैं, साथ ही साथ यथार्थवाद की कड़ुवाहट भी कुछ लोगों को खल रही है, यद्यपि वह कड़ुवाहट तीखी न लगनी चाहिए, हाँ यदि उसमें सचमुच सत्य और वास्तविक वस्तुओं का आधार है। फिर भी आज के वाद (प्रतीकवाद) अभिव्यंजनावाद, प्रकृतिवाद आदि सभी इस यथार्थकी कड़ुवाहट से ही प्रेरणा लेकर निकले। उनकी कड़ुवाहट केवल कड़ुवाहट भर कहीं-कहीं रह गई है उनकी रचनाओं में वास्तविकता तो कम परन्तु उस वास्तविकता का प्रदर्शन ही साहित्य की घातक शक्ति है+।

इसमें संदेह नहीं कि कहीं-कहीं यथार्थवाद के नाम पर कविता के वास्तविक गुणों की हत्या की जाती है। कविता के लिये शब्दों की प्रभावोत्पादक शक्ति [Forceble] होना अत्यन्त आवश्यक है। यथार्थवाद की कड़ुवाहट का जहाँ तक सम्बन्ध है उसमें एक इमानदार आलोचक को कोई विरोध न होना चाहिए, आज का जीवन कलाकार का जीवन भी जिसमें सम्मिलित है, इतना कड़ुआ है, इतना संघर्षमय है कि उसकी ज्वाला से दूर कलाकार जा नहीं सकता, यथार्थवादी लेखको की आलोचना करते-करते एक आलोचक ने लिखा है।

"कभी-कभी यथार्थवादी लेखक तुच्छ से तुच्छ और आवश्यक बातों का भी ऐसा चित्रण करता है कि काव्य का प्रभाव फीका पड़ जाता है[1]।" जहाँ तक काव्य प्रभाव का सम्बन्ध है यह अवश्य उचित है कि उसकी गति मन्द न होने पाये, काव्यों में गति और शब्दों में प्रभावोत्पादकता flow and impression in words अवश्य ही आवश्यक है काव्य का आधार यदि तुच्छ से तुच्छ हो तो भी उस तुच्छता से क्या विरोध ? तुच्छता की भी सत्ता है, जीवन में तुच्छता नीचता-ऊँचता सभी तथ्य है साहित्यकार का ध्येय उन तुच्छताओं से आँखें मूँद लेना नहीं है, वह तुच्छता और उच्चता दोनां का चित्रण कर सकता है, यदि यथार्थ में तुच्छता का चित्रण होता तो इसका अर्थ यही कि वह वास्तविकता की ओर अधिक उन्मुख है, तुच्छता से ही

The literature which stands upon the actual and the real feelings in a Literature is to be appreciated but if there is only the propaganda and not the feeling it will die soon.

और भी एक विचार लें—

The great realists always regard society from the view point of a living and moving centre and the centre is present visibly or invisibly in every phenomena.

—Dostovskey.

+ History of the process of the realism. pp. 248.

१. काव्य में यथार्थवाद नामक अंश में आदर्श और यथार्थ पृ० १५०

श्री पुरुषोत्तमलाल

काव्य का प्रभाव फीका नहीं पड़ता। यह कवि का व्यक्तित्व है, कवि की सजग आत्मा है, जो काव्य में गति लाकर उसे सर्व प्रिय बना देती है। रूप और विषय-वस्तु दोनों ही निष्प्राण हैं, प्राणवान है कविता का व्यक्तित्व, वह अपनी चेतना से स्पर्श करके उनमें भी गति ला देता हैं। एक सच्चे यथार्थवादी के काव्य अथवा कृति में; Every truth is linked up with every thing else. Each phenomena shows the polyphony of many components.

Russian Democracy Literary Criticism his Dobornov pp. 457.

यथार्थवादी लेखक समाज के अन्तस्तल को स्पर्श करने की चेष्टा करता है, वह देखता है कि किसी वस्तु अथवा रीति के पीछे कौन-सा आधार है - जब उसे आधार की अशक्त और रूढ़िगत भावनाओं का आभास हो जाता है तो वहीं पर उसका अन्तर चीत्कार कर उठता है, उस वस्तुस्थिति में यह नहीं देखता अथवा देखना उचित नहीं समझता कि यह तुच्छ अथवा उच्च क्या है। वह तो अपने हृदय पट पर पड़नेवाली छाया का चित्रण करता है, उसी धूमिल रेखाओं को वाणी देता चलता है, उसे इससे क्या तात्पर्य कि वह छाया तुच्छ है अथवा अतुच्छ। यदि छाया अतुच्छ है तो समाज की वह बुराई है प्रतिबिम्ब है, उस पर आदर्श का पर्दा नहीं डाला जा सकता।

प्रतीकवाद —छायावाद काल की आधुनिक साहित्य को सबसे बड़ी-देन भावों की सूक्ष्मता थी। प्रत्येक भाषा में प्रायः ऐसे शब्द रहाकरते हैं जिनमें केवल ऊपरी अर्थ का ही बोध नहीं होता बल्कि उस शब्द का उच्चारण करते ही एक रेखा सी स्मृति के समक्ष आ जाती है। यह तो प्रायः शब्दों के उच्चारण करने पर उसके अर्थ समझनेवाले के समक्ष वहीं स्वरूप आ जाता है। साधारण-सा शब्द भी यदि ले लिया जाय तो उसका अर्थ बोध इसी रूप में होता है। इसका कारण है कि उस शब्द के पीछे एक ऐसी रूपरेखा निश्चित कर दी गई है कि वह प्रत्येक व्यक्तियों के समक्ष उसी शब्द के उच्चारण के साथ ही साथ आ जाती है। एक साधारण सा शब्द ले ले —— गाय का उच्चारण करनेवाला व्यक्ति भी समझता है कि वह एक ऐसे जानवर के विषय में बातचीत कर रहा है जिसके चार पैर एक पूँछ आदि-आदि है। यह तो साधारण सा शब्द-बोध है। परन्तु कहीं-कहीं पर ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हुये है जिनके पीछे एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है अथवा कुछ कल्पित सत्य का आधार है। जिन शब्दों पर सास्कृतिक प्रभाव होता है वे शब्द ठीक प्रतीक का कार्य करते हैं। छायावादी रचनाओं में यदि हम लें तो मधुमास, मधु आदि शब्दों का प्रयोग बहुतायत से मिलेगा। इन शब्दो की यदि हम मनोवैज्ञानिक व्याख्या करें तो यह प्रतीत होगा कि मधुमास के पीछे एक सुख यौवन का पूर्ण विकास, और बिखरा हुआ सौन्दर्य आदि की भावना होती है। ये शब्द अथवा यह भावना मधुमास से सम्बन्धित

किस रूप में है। मधुमास सचमुच प्रकृति का वरद मास है जिसमें पल्लव हरे-भरे होकर झूम उठते हैं, पुष्पों की सुरभि वातावरण में अनुपम सुगन्ध पैदा करती चलती है। मधुमास में ही इन भावनाओं का विकास सन्निहित है, कवि इस शब्द का प्रयोग करके अपने पाठकों को उसी चिन्तन भूमि पर खींच ले जाना चाहता है। अतएव मधुमास प्रतीकात्मक प्रयोग कहा जा सकता है। In literary use symbolism merges into a representation or more acurately perhaps, from it when the specific details chooses for respresentation are made to convey over wider and deeper meaning.[1]

Myer in Realism

इस प्रकार से भावों के प्रतीकात्मकता ही प्रतीकवाद में अपना प्रमुख स्थान रखती है। फ्रांसीसी साहित्य से Symbolism Mac Arther के अनुसार An attempt to break awy from the realists Zola etc. who aimed above all things at beeing precised at saying...... So completely that nothing removed which it might be the business of the reader to derive.[2]

इस प्रकार से प्रतीकवाद मेकआर्थर के अनुसार सांक्षिप्त प्रयोगों की ओर संकेत करता है। यदि देखा जाय तो प्रमुख वस्तु अथवा आधार हम इनको –शब्दों की व्यंजना —(ब) भावोत्पादक (स) विचारोत्पादक-ही कह सकते हैं। शब्दों की व्यंजना के साथ -ही- साथ भाव और विचार का भी समावेश अर्थ में होता है। कहीं,कहीं पर काव्य में ऐसे स्थल आ जाते हैं जब कवि अपनी बात कहने के लिए विशेष प्रचलित शब्दों का आश्रय ग्रहण कर लेता है। विशेष प्रचलित शब्दों से मेरा तात्पर्य ऐसी उपमाओं से है जिनका अर्थ एक परम्परा में बंधकर चल रहा है, यदि उसी अर्थ का स्पष्टीकरण कवि का अभीष्ट होता है तो उनका स्थल पर प्रयोग कर वह उद्देश्य में प्रायः सफलता प्राप्त करता है।

मुख कमल के समान है, कहने का तात्पर्य यही होता है कि मुख की सुन्दरता कमलवत् है जिस प्रकार से कमल में सुन्दरता कोमलता आदि गुण होते हैं उसी प्रकार के तत्व एक कमलवत् मुख में समझे जाते है। शब्दों में व्यंजना का यही स्वरूप है, जिसको अंग्रेजी साहित्य में Phatasia of words के नाम से जाना जाता है।

इस प्रकार से यह देखा गया कि कमल के समान मुख कहने से प्रायः दो बातों का साथ-ही-साथ बोध हुआ, पहला तथ्य भाव और दूसरा विचार। प्रत्येक भावोत्पादक अर्थों में तो विचार का कुछ न कुछ अंश छिपा ही रहता है, भाव मस्तिष्क पर बाह्य-वस्तुओं की प्रतिक्रिया स्वरूप पैदा होता है और विचार मीमांसा

1. Later Realism by Myers pp 23.
2. SymbolisMbym ac Arther pp 27.

की वह शृंखला है जो बाह्य-वस्तुओं के (मस्तिष्क पर पड़े हुए) प्रभाव को मस्तिष्क की स्थिति से जोड़ता है। क्रम से सौन्दर्य का भाव जागृत हुआ, परन्तु इस सौन्दर्य के भाव के पीछे कमल की एक रूपरेखा पहले से ही मस्तिष्क में निश्चित हो चुकी थी, उसी रूपरेखा के आधार पर कमल का सम्पूर्ण सौन्दर्य निश्चित है। कवि के मस्तिष्क में कोमलता का यही स्वरूप जब घर कर लेता है तो अपनी चिंतन शक्ति से अपने समस्त प्रयोग पर इसी का मुलम्मा चढ़ा देता है, वही मुलम्मा चढ़ा हुआ तथ्य, एक जागरूक और चिरन्तन तथ्य हो जाता है। संक्षेप में यही प्रतीकात्मता का अर्थ है।

भावोत्पादक प्रतीक साहित्यकार का कला में भाव और विचार दोनों का सन्निवेश आवश्यक है। यद्यपि दोनों तथ्य एक दूसरे पर ही अवलम्बित हैं फिर भी जिस स्थल पर भावों की प्रचुरता आ जाती है और विचार गौण रहता है वहाँ भावोत्पादक प्रतीकवाद की ध्वनि होती है—

मुख कमल समीप खिले थे, पुरइन के दो किसलय से।

इन पंक्तियों में कवि अधिक भावुक है, विचारक कम। कमलवत मुख के निकट उसने पुराइन के दो किसलय को खिलाया है, उसकी भावधारा एक अविच्छिन्न सौन्दर्य राशि से टकराती हुई चली हैं यहाँ कलाकार का वह स्वरूप है जो अपने को भाव जगत के निकट पाता है, एक और उदाहरण लें—

संध्या की मिलन प्रतीक्षा, कुछ कह चलती मनमानी।
ऊषा की रक्तिम आभा, कर देती अंत कहानी॥

संध्या और ऊषा कवि के भावनाओं को बांध करके स्थित रहने वाले दो कूल हैं। संध्या में अपने भावों का उद्गार का अनुभव कर उसे एक सिहरन सी (कवि को) ज्ञात होती है परन्तु ऊषा उसके सम्पूर्ण जिज्ञासाओं का अन्त कर देती है।

तुम्हारी आँखों का आकाश, सरल आँखों का नीलाकाश।
खो गया मेरा खग अनजान, मृगेक्षणि ! मेरा खग अनजान॥

आँखों का आकाश भावोत्पादक प्रतीक से भरा पड़ा है। कवि अपनी प्रियतमा के नेत्रों को अत्यन्त विस्तृत और आकर्षक पाता है। उसकी नीलिमा में कवि का खग खो जाता है, यदि राह से परिचित खग होता तो राह भी पा लेता। परन्तु वह अनजान है। आकाश की शून्यता में उसका एक अस्तित्व खो जाता है। सब कहने का निचोड़ यही है कि कवि की प्रियतमा की आखें नीली हैं आकाश की भाँति। उसका मन उसी में रमा हुआ है। केवल इन्हीं तथ्यों को लेकर कवि ने इन लाक्षणिक शब्दों को एकत्रित किया है। भाव-जगत का एक सुन्दर उदाहरण यह पद हो सकता है।

प्रतीक किसी भाव को स्पष्ट रूप में प्रकट करता है। भावोत्पादक प्रतीक में एक सिहरन, स्पन्दन और स्फुरण की प्रधानता रहती है। हृदयपक्ष इतना प्रमुख रहता है कि कवि की सर्वस्व कृति में केवल भावना ही भावना अपना स्थान रखती

है। कवि पन्त की पहले की कुछ रचनाएँ जैसे वीणा, पल्लवन ग्रँन्थि इसी स्तर पर रखी जा सकती है। अधिकतर ऐसे भावों का उद्‌गार कवि ने प्रकृति को अवलम्बन स्वरूप मान कर किया है। एक उदाहरण और देखिए—

सृजन जिस का था हुआ मृदु पाखुंडी की ओट में,
गान जिसको मिल गया इस क्रूर जग की चोट से।
भ्रमर के गुंजार से ही राग जिसने जान पाया,
धधकते अगार से ही वेदना पहिचान पाया॥
फूल पर हँस खेलता था, शूल पर डाला गया हूँ,
मैं ऊषा की गोद में पाला गया हूँ॥

कवि का सृजन (लालन पोषन) मृदु पांखुड़ी की ओट में हुआ है। उसने ऊषा के क्रोड में क्रीड़ा किया है अर्थात् उसके बचपन का जीवन बड़ा ही मधुर रहा है, सुखपूर्वक बीता है। उसने राग भी भ्रमर के गुञ्जार से पाया, यही कारण है कि उसके राग में कितनी तन्मयता है परन्तु जग और जीवन से दूर अपने में संकुचित रहने की भावना है। रेखांकित शब्दों में भावात्मक प्रतीकात्मा की एक स्पष्ट छाया देख पड़ती है। कवि अपने समस्त जीवन की रूपरेखा तो अवश्य खींचता है परन्तु उसमें उसकी भावना और कहीं-कही अतृप्त वासना की मलिन छाया झाँक करके देख लेती है, अपने सम्मुख के संसार को। वह इसी निष्कर्ष पर है कि 'फूल पर हँस खेलता था, शूल पर डाला गया हूँ" वह पहले के जीवन में फूल पर हँस-हँस कर खेलता था क्यों, इसका कारण भावुकता से दवा पड़ा है, वह (कवि) केवल इतना ही जानता है कि अबं और तब में अन्तर है क्योंकि पहले वह फूल पर था अब शूल पर है। पहले की सुविधायें जीवन की मृदुलताओं का अच्छा चित्रण है और साथ ही साथ आज के जीवन की विवशता एवम् कठिनाइयों से ओतप्रोत होने की भावना का भी उद्‌गार है। भावोत्पादक प्रतीकवाद का यह उचित उदाहरण जान पड़ता है।

भावोत्पादक प्रतीकवाद के अतिरिक्त कहीं-कहीं छायावादी काल में ही विचारों का प्राबल्य और भावों की आधीनता दिखलाई पड़ती है। कुछ ऐसे शब्द हैं जिसमें केवल भावना ही शब्दार्थ को ही प्रकट नहीं कर देती, विचार भी उसमें अपना स्थान रखते हैं। उदाहरणार्थ सांप शब्द को लें-इस शब्द के पीछे भावना से अधिक विचार कार्य कर रहा है। सांप के विष की उग्रता उसका टेढ़ापन आदि सभी वस्तुएँ एक-एक करके मस्तिष्क के विचारशृंखला की बढ़ाती चलती हैं। सांप शब्द में भाव से अधिक विचार हैं। पन्त की 'प्रिये प्राणों की प्राण' से उदाहरण लें।

अरुण अधरों का पल्लव प्रात, मोतियों सा हिलता हिम हास।
इन्द्रधनुषीपट से ढक गात, बालविद्युत का पावस लास॥
हृदय में खिल उठता तत्काल, अधखिले अंगों का मधुमास।
तुम्हारी छवि का कर अनुमान, प्रिये प्राणों की प्राण॥

यह उदाहरण भावोत्पादक और विचारोत्पादक प्रतीक का मिश्रित उदाहरण है। पल्लव, प्रात और हिमहास तो भावोत्पादक प्रतीक के उदाहरण हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त मोतियों से हिलता, इन्द्रधनुषी पट ढंक गात आदि उदाहरण में एक विचार शृंखला चल रही है, भावना से अधिक विचारों का ही प्राबल्य है। 'मोतियों सा हिलकर' में विचार की प्रधानता तक मुझे अधिक प्रतीत होती है। मोतियों सा यदि हास होता तो उसमें भाव की प्रधानता अवश्य होती परन्तु मोतियों सा हिलने की एक सूक्ष्म रेखा मस्तिष्क-पटल पर खिंच उठती है, वह विचार की सूचक है। इसी प्रकार से इन्द्रधनुषीपट से ढंक गात में भी एक रोमांटिक झांकी है। सतरंगी पट से जो गात ढंका रहेगा उसमें कितनी सुषमा और सौन्दर्य होगा। गात पट के भीतर झिलमिलाता सा प्रतीत होगा। इन सब भावनाओं के पीछे एक दृढ़ एवं स्वस्थ विचार है।। इन शब्दों से भावनाओं का उदय तो अवश्य होता है, परन्तु उस रूपात्मकता का प्रभाव केवल विचारों के द्वारा ही पुष्ट होता है। जब (अंतिम पंक्तियों में) कवि छवि का अनुमान ही करना प्रारम्भ करता है तभी एक विचार और उसके पीछे भाव का उदय होता है। छवि की तुलना वह यदि प्रस्तुत विधानों के द्वारा कर देता तो भाव का उदय पहले होता विचार का बाद में। परन्तु अप्रस्तुत विधानों के द्वारा पहले वह चिन्तन करता है मोतियों का हास, इन्द्रधनुषी पट, बाल-विद्युत और तब चिंतन के पश्चात् इन सभी रूपों का मिलकर एक रूप हो जाता है, जो उसके प्रिय की कल्पना में योग देने लगता है। विचारोत्पादक प्रतीकवाद का यह उदाहरण उचित प्रतीत होता है।

भावनाओं के पीछे ही प्रतीकात्मकता छिपी रहती है। देश की संस्कृति रिवाज और प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार ही प्रतीक की भी सृष्टि होती है। भारतीय दृष्टि से देखने में गोबर से लिपा हुआ स्थान शुद्धता का प्रतीक है, आँगन में रचा गया चौक एक विशेष त्योहार की व्याख्या करता है। यदि देखा जाय तो भारतीय जीवन ही पूर्ण रूप से प्रतीकमय है। बुन्देलखण्डी स्थानों में प्रत्येक घर के द्वार पर प्रातः काल गोबर के चौके दिए जाते हैं जिस प्रातकाल में ये चौके द्वार पर ताजे दिए हुए न पाये जायं वह प्रात अशुभ प्रात ही (उस घर के लिए) होगी। प्रायः घर में कोई देहान्त हो जाने के पश्चात् गोबर का चौका नहीं दिया जाता। इस प्रकार झांसी का प्रतीक उस स्थान की परिस्थितियों से मिला हुआ है। मुसलमानी साहित्य में प्रणय की मधुरता को दिखलाने के लिए शराब का प्रयोग किया जाता है। भारतीय दृष्टि से शराब वर्जित है, अतएव वहाँ के साहित्य में शराब का चित्रण प्रणय की रात्रि में नहीं किया जाता।

कहने का तात्पर्य यही कि प्रतीक का अपनी संस्कृति और वातावरण के विपरीत कोई भी स्वतन्त्र स्थान नहीं है। एक देश तथा राष्ट्र की प्रचलित रीति ही उस देश के कवियों की कल्पना में अपना एक विशिष्ट छाप छोड़ देती है। इसका कारण है कि कवि उसी वातावरण में रहने का अभ्यस्त है, कल्पना का कुछ आधार होता

है निराधार कल्पना हो नहीं सकती। भारतीय कवियों के लिए ऊषा और संध्या का चित्र सदा से आकर्षित करने वाला रहा है। ऊषा में रात्रि के समान विपरीत भावनाओं का ह्रास और निकलते प्रभात के समान एक स्वस्थ भावना का उदय पाया जाता है। संध्या का भी हमारे साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रहता है, हमारा सौंदर्यवादी कवि उसमें भी सौन्दर्य की छाया देखता है परन्तु ठीक इसके विपरीत यूरोपीय काव्यमें थोड़ी देर तक उगनेवाली धूप से आनन्द तथा संध्या से उदासी का संकेत होता है। इसका कारण है भारत सदा से सौन्दर्य का उपासक रहा है, उसने सौन्दर्य देखा है, उदासी में भी एक - एक सौन्दर्य की आभा हमारा साहित्य देखता आया है। यह स्वरूप (कवियों का इधर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। उन्होंने अपनी आत्माभिव्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत भावों में बाँधने की चेष्टा की है यदि वे दुखी हैं तो सम्पूर्ण प्रकृति सुख में ही हिलोरें लेती रहेगी। इसके अतिरिक्त ऊषा और संध्या सभी को प्रसन्न करती हुई दिखाई देती है। अन्त में प्रतीकवाद की व्याख्या करते समय हम यही कहेंगे :—

प्रतीक के पीछे निश्चित भावधारा का स्रोत छिपा रहता है उस स्त्रोत की अपनी कोई स्वतन्त्रता सत्ता नहीं होती। वह उस स्थान विशेष की संस्कृति पर ही निर्भर रहता है। अतिरिक्त शब्दों की ध्वनि कवि के अन्तरतम से निकली हुई अनुभूतियों में मिलकर एक स्पष्ट और व्यञ्जनात्मक रूपरेखा (स्त्रोत के) सम्मुख ला देती है। अज्ञेय के एकयान से एक उदाहरण लें—

मुझको कैसे घाट वसेरे,
खड्ग धार की राह बनाकर पास आ रहीं हूँ मैं तेरे।

जहाँ तक शब्दों की व्यंजनात्मकता का तात्पर्य है खड्ग धार की राह और घाट वसेरे ये केवल दो शब्द ही उसके लिए पर्याप्त हैं। खड्ग धार की राह से कवि का तात्पर्य राह की दुरुहता से है, परन्तु राह की ऐसी ऊबड़-खाबड़ स्थिति से आने का तो यह अभ्यस्त है, इस भावना का स्पष्टीकरण मुझको कैसे घाट वसेरे से होता है। इन शब्दों का एक रूपात्मक प्रयोग है।

अतएव प्रयोगात्मक प्रतीक विशेष चिन्तन - धारा से सम्बन्धित कर देते हैं उन्हीं विचारों के अनुसार हम प्रतीक के निम्नलिखित भाग भी कर सकते हैं—

(१) भावात्मक प्रतीक (२) राष्ट्रीय प्रतीक और (३) दार्शनिक प्रतीक।

ऊषा शब्दों की व्यंजना की चर्चा करते समय भावोत्पादक अथवा भावात्मक और विचारात्मक प्रतीक पर सोचा जा चुका है। राष्ट्रीय प्रतीक से तात्पर्य भाव के पीछे पीछे छिपी हुई राष्ट्रीयता का प्रयोग ही है। विभिन्न दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुए तथा उन दृष्टिकोणों पर विचार करते हुए हम यही कहेंगे कि प्रत्येक युग का अपना कुछ चुना हुआ प्रयोग रहता है। रीतिकालीन—साहित्य को यदि हम लें तो कमल का तात्पर्य-सौन्दर्ययान मुख से बाण से तात्पर्य नेत्रों के नुकीले कोर से प्रायः समझा जाता था। छायावादी काल में ऊषा, मधुमास और मधु हास

आदि प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। आज के प्रगतिवादी साहित्य में, इसकी संस्कृति और आदर्श के साथ ही साथ इसके प्रतीकात्मक प्रयोग भी बदले, भावों का समाजीकरण प्रारम्भ हुआ और साहित्यकार अपने भावों को सामाजिक स्तर पर लाने लगा। अतएव आज के भी कुछ प्रतीक अलग हो गए और उसके प्रयोग के साथ ही साथ निश्चित अर्थ समझा जाने लगा। एक ऐसा ही उदाहरण है जोंक जो पूँजीपतियों के अन्दर सर्वहारा वर्ग के शोषण करने की प्रवृत्ति है उसी शोषण से सम्बन्धित और एक विशिष्ट भावधारा से निर्मित हो आज का शब्द जो प्रचलित हो उठा। राहुल के साहित्य में इस शब्द की व्यंजनात्मक शक्ति का अच्छा प्रयोग मिलेगा। इस प्रकार से हम देखते हैं कि प्रतीक एक निर्मित भावधारा की ओर संकेत करता चलता है। मस्तिष्क के केन्द्र से उठ कर जो भावनाएँ समाज में व्याप्त हों विचारों से जब एकीकरण (assimilation) कर उठता है तब वे ही भावनाएँ शब्द की सीमा में बंध करके उस युग के प्रतीक के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। रिचार्डस के शब्दों में प्रतीक की व्याख्या देखिए[1]—

प्रतीक की उत्पत्ति के पीछे सांस्कृतिक और सामाजिक चिन्तन धाराओं के छाप के अतिरिक्त जहाँ दार्शनिक चिन्तन अभिप्रेत हो वहाँ दार्शनिक प्रतीक कहा जा सकता है। जहाँ साहित्यकार का साध्य उसकी हृदयगत अनुभूतियों से ऊपर उठकर मस्तिष्क के सतह तक आ जाता है वहाँ——उसी स्थान पर दार्शनिक प्रतीकों की उत्पत्ति होती है। मानव का मानसिक पक्ष सदा हृदयगत अनुभूतियों से परे ही सोचता है। शव पर अपने विचार व्यक्त करते हुए एक स्थान पर उसे जड़ और चेतन का क्षीण हास कहा गया है।[2] शव के पीछे जब कवि दो मिश्रित भावनाओं का समावेश पाता है, उसे उसकी क्रिया में जड़ और चेतन का एक क्षीण हास मिलता है, जड़ इसलिए क्यों कि वह निष्प्रभ, शान्त और श्रीहत है। चेतन का क्षीण हास इस लिए क्योंकि हास की क्षीणता हास की ही गिरती हुई दशा वह (कवि) उस विकास (जीवन) के पश्चात् ही शव में देखता है। अतएव इस पंक्ति के क्षीण हास में

---

1. Symbols direct and organize accord and communicate. In standing what they direct and organise record and communicate have to distinguish as always between thoughts and things.

२—शव शीर्षक कविता——

यह जड़ चेतन का क्षीण हास।
जीवन की सारहीन बीन का गायक मृणमय वह शरीर,
आत्मा के पंख पसार उठे स्वच्छन्द गगन में बन समीर।
यह ध्वंस सृष्टि का एक आशा

प्रतीकात्मकता है जिसका अर्थ बोध हृदय की अनुभूतियों से ऊपर मस्तिष्क की सतह पर से ही होता है।

इसके अतिरिक्त प्रतीकात्मकता को स्पष्ट करने के लिए उसकी पृष्ठभूमि पर भी दृष्टि डालना होगा, ध्वन्यात्मकता (प्रतीकों के) के पीछे शब्द शक्तियाँ भी कार्य करती है, ये ही शब्द जो एक मानव का विचार दूसरे मानव को स्पष्ट करा देते है, उन्हीं की शक्तियाँ जब कतिपय संस्कृति और परम्परा के विचार को ले आगे बढ़ती हैं, तो उन्हीं शब्दों की ध्वनि ही अधिक सुखकर हो श्रोताओं के लिए प्रतीक का कार्य कर देती है। ऐसे प्रयोगों के लिए रिचार्ड्स के शब्दों को समझा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।[1]

शब्द शक्तियाँ सचमुच ही हवा की भाँति सर्वत्र फैली है। उनमें वही गति हैं, वही प्रवाह है, वही जीवन-दायिनी शक्ति है (वाणी को) जो वायु में, विशेष कर जब वह स्वदेशीय हो। एक प्रान्तीय भाषा-भाषी जब अपने शब्दों का उच्चारण करता है तो उसके मस्तिष्क में ठीक उन शब्दों के अनुकूल ही एक सजग वृत्ति रहती है जो समस्त उन्हीं वृत्तियों को समेट कर उस शब्द में ही रख देता है, शब्दों का गठन, उसकी रचना मानवों की प्रवृत्तियों के अनुसार हो रही हैं। जैसा मानव ने प्रतीत किया, उसके मस्तिष्क में जब जैसी ही भावनाएँ आई उसने तदनुकूल उसकी रचना की। कवि पन्त का उदाहरण ले प्रभात का प्रयोग प्रचलित रूप मे पुलिङ्ग में ही होता आया है, परन्तु वे अरुण, पल्लव की कोमल प्रात का प्रयोग करते हैं, शब्द की यदि व्यंजक शक्तियों पर विचार किया जाय तो प्रात के लिये कवि का स्त्रीलिंग में प्रयोग कवि के विचारों के अध्ययन का अच्छा अर्थमय सूत्र है। ठीक उनके शब्द तो नहीं, परन्तु प्रभात के स्त्रीलिंग में प्रयोग करने के लिये उनके विचार कुछ ऐसे ही हैं कि उन्हें प्रभात में सुन्दरता और सुकुमारता का अनुभव होता है। अपने अनुभव के अनुसार ही कवि ने प्रभात को साड़ी पहिनाकर देखा है कवि की मानसिक प्रवृत्तियों ने प्रयोग किया होगा अपनी कल्पना की सतरंगी साड़ी पहिनाकर प्रभात को देखने के लिये— प्रभात कवि को सुन्दर और स्त्री सुलभ सुकुमारता लिये हुये दिखलाई क्यों न देता। इसमें तो संदेह नहीं कि प्रभात में कोमलता कुछ-कुछ स्निग्धता भी है, जब कवि ने उसे साड़ी पहिना दिया तो उसका रूप निखर उठा कवि की स्त्रैण कल्पना ने उसे अपने रूप में ही देखा। इस प्रकार से हम देखते है कि एक मनुष्य के विचार का स्पष्टीकरण वही (शब्दों) द्वारा ही होता है, साधारण शब्द प्रयोग जहाँ कहीं भी अपने प्रयोग से अर्थ स्पष्ट नहीं कर पाते वहीं पर शब्दों

---

1. The power of words is the most conservative force of life. The common inherited scheme of conception which is all-round as native air, is more the less imposed upon us and limits on intellectual movements in countless ways.

को भारी बनाने के लिए प्रतीकात्मक प्रयोग कर दिया जाता है। यदि हम उसके अर्थ-बोधक शक्तियों पर विचार करें तो उनका विस्तार तीन भिन्न-भिन्न दिशाओं में पाया जाता है।

एक प्रतीक केवल एक ही प्रसंग का बोधक है, (२) प्रतीक की पृष्ठभूमि में केवल विचारों के संघटन और परिस्थितियों की मीमांसा ही है और (३) कभी-कभी मानसिक धरातल से उठ कर प्रचलित-प्रतीक (स्पष्ट) अर्थों तक न पहुँच कर, असंदिग्ध विचार तक और परम्परा की धुरी पर ही रह कर शुद्ध अर्थ—बोध कराते हैं।

एक साहित्यकार जब अपने विचारों की शृंखला को शब्दबद्ध करता है तो उसी रूप में ही उसके अर्जित शब्दावली की रूपरेखा मस्तिष्क के समक्ष खिंच उठती है। अपने अनुभव, अपनी अनुभूति के अनुसार ही वह उस शब्दावली के उस समय के शब्द निकाल लेता है। यही विचारों के साथ शब्दों का गठबन्धन ही एक प्रसंग पर एक प्रतीक का प्रयोग कराता। आँसू के दार्शनिक कवि प्रसाद की ये पंक्तियाँ लीजिए—

झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरद-माला।
पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ घेरा डाला।

साधारण अर्थ में कवि यह कहना चाहता था कि वाह्य परिस्थितियों में एक हलचल थी और उसके अन्तर (हृदय) में एक शून्यता थी। वाह्य परिस्थितियों की जटिलताओं ने आकर कवि के सूने हृदय पर घेरा डाल दिया।

अपनी व्यंजनात्मक शक्ति के द्वारा अपने समस्त भावों पर कवि ने एक अवगुण्ठन डाल दिया है, परन्तु उन व्यञ्जक शक्तियों के द्वारा कवि के जो भाव बलपूर्वक दबा लिए गए है अब भी चीख कर स्पष्टता को व्यक्त कर रहे हैं। प्रसाद जी के आँसू का उदाहरण देकर केवल प्रतीक के पीछे की पृष्ठभूमि को ही स्पष्ट करना था। इसी प्रकार से (जैसा ऊपर कह आए) प्रत्येक युग तथा प्रत्येक विचार-धारा से प्रभावित प्रतीक होता आया है। निर्गुण-धारा के भक्त कवियों के कुछ उदाहरण लीजिए—

अवधू ! भजन भेद है न्यारा।
क्या गाए क्या लिखि बतलाये, क्या भरमें ससारा,
क्या संध्या तरपन के कीन्हे, जो नहीं तत्त विचारा।

कबीर के अधिकांश पदों में अवधू का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं पर निर्गुण साहित्य के आलोचकों ने अवधू की परिभाषा बिना वधू वाले पुरुष की है, सम्भवतः इसका संकेत उन योगियों की ओर से जो लौकिक बन्धनों से मुक्त रहते हैं कहीं-कहीं पर सुषुम्ना नाड़ी को भी अवधती या अवधूती नाड़ी कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध योगियों के लिये अवधू का सम्बोधन हुआ है। निर्गुण—सन्तों के अतिरिक्त यदि हम सूर के पदों को भी लें तो उनमें भी परम्परिक प्रतीक का उदा-

हरण मिल सकता है। प्रतीक के पखों पर उड़कर सूर का कवि भक्ति के गगन में मँडराया है। जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झर जैहैं।

अथवा

ऊधो ! जोग जाने कौन।
हम अबला कहँ जो जानें, जियत जाको रौन,
जोग हमपै होय न आवै, धार न आवै मौन,
बाँधि हैं क्यों मन पखेरू, साधि हैं क्यों पौन। आदि

यह वह स्थल है जहाँ पर योग की निन्दा की जाती है। साथ-ही साथ खिल्ली भी उड़ाई जाती है, साधारण शब्दों एवम् चलती भाषा में योग, कोरी भक्ति की निन्दा सूर ने खूब की है। अबला जन (गोपियाँ) मन पखेरू बाँधना नहीं चाहतीं······मन से तात्पर्य आन्तरिक तथ्यों से है और पौन साधने से तात्पर्य आत्मशुद्धि से है। यदि वे चाहें भी पखेरू कैसे बाँधा जा सकता है, और पवन (पौन) कैसे साधा जा सकता है। मन और पवन से तात्पर्य आन्तरिक पक्ष की शुद्धि से है। पौन साधना सन्ध्या (गायत्री) का कोरा निर्वाह भी हो सकता है।

भक्त कवियों ने हंस का प्रयोग खूब किया है। हंस उन लोगों के द्वारा विशुद्ध ज्ञान के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया है। हंस की मानसिक शक्ति इतनी विवेकशील है, निर्मल है कि उन कवियो ने हंस की उपमा अपने मन से देकर एक अद्‌भुत प्रतीकात्मक शब्द का प्रयोग किया है। कवि अपनी रागिनी में जब मस्त होकर गा उठे—

ऊधो ! जोग जानें कौन।

हंस का एक अलौकिक रूप पाठकों के सामने खिंच उठा। वह निर्विकार रूप जो ज्योतिर्मय है, उसी का आह्वान सूर ने हंस के पीछे किया। आगे कवि ने हंस को कोई ऐसे स्थान पर ले जाने का विचार नहीं किया वहाँ वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को छोड़कर जा सके। स्वभावतः वह तो वहाँ जायगा कवि उसके पंखों पर बैठकर मँडराता चला जावेगा। हंस के ही स्वभाव से परिचित होकर कवि ने कहा मानसरोवर अथवा सरवर तीर चलो। मानसरोवर की कल्पना उस स्थान के लिए की है जहाँ समाधि अवस्था में जीवनमुक्त आत्मा अमृत का आस्वादन करती है। ऐसे ही अनेक शब्द हैं जो इतिहास के विभिन्न युगों में प्रचलित रहे हैं। इसका कारण बताया जा चुका है।

अतएव सारांश में प्रतीकात्मक प्रयोगों के विषय में यही कहना कि कवि गाता है, आवाहन करता है एक रूप का वही रूप जो उसे वांछित है, जिसका उसे अभीष्ट है। हृदय की प्रेरक शक्तियाँ मस्तिष्क के बाहर निकलते निकलते एक वाणी

---

१. भ्रमरगीत सार—सम्पादक रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २६५।

का अवलम्ब ले लेती हैं–और वह वाणी से अपने वातावरण, अपनी मान्यताओं, अपनी परम्परागत रूढ़ियों का एक मिश्रित रूप। इन्ही विचारों से बोझिल वाणी में से झांक करप्रतीक अपनी विशेष सत्ता रखता है प्रतीक शब्द की वह विशेष आत्मा है जिस पर उस युग की संस्कृति और मान्यताओं की छाप विद्यमान रहती है।[1]

---

1. Symbolism is the outcome of such a mind which is governed by the general outlook. A name who pronounces a word, the hearer comes upon the same meaning to which the speaker wants to express.
2. The structure of symbolism is often determined by our 'intention' the effect which we endevour to promote by our utterance.

कुछ परम्परित प्रतीक के उदाहरण हैं–जो नीचे की कविता में अपने अर्थ-बोध के कारण प्रतीकात्मक व्याख्या कर रहे हैं :—

हीरे का हृदय हमारा, कुचला शिरीष कोमल ने।
हिम शीतल प्रणय अनल बन, अब लगा विरह से जलने।
धुंधली संध्या प्रत्याशा, हम एक को रोस।

—आंसू

साहित्य और सामञ्जस्य की धारणा

युग और परिस्थितियों के साथ ही साहित्य सदा से सामंजस्य कर के चलता आया है। भक्ति युग में जब जनता मुसलमानी शासकों से पीड़ित थी, अपना धर्म (साधारण रूप में) अपना चिन्तन और अपनी भावनाओं को स्पष्ट करने का भी, उन दिनों, अवकाश न दिया जाता था। संकीर्णता के वृत्त में हिन्दू जनता की श्वांस घुटने लगी थी। साहित्यकारों की जिह्वा पर ताले थे, उनकी वाणी का विस्तार, रोक दिया जाता था, बरबस अत्याचारों से और अनेक प्रकार के अमानुषिक व्योहारों से। ऐसी अवस्था में साहित्यकार क्या करता? रूढ़ियों और अत्याचारों के विरोध में वह था तो सामूहिक रूप से आवाज उठाता या बरबस उन अत्याचारों को सहता जाता परन्तु वह भारतीय साधकों से भी प्रभावित था, धर्म और ईश्वरवाद का उसे विश्वास था—अतएव अपने को ऐसी अवस्था से छुड़ाने के लिये वह एक अज्ञात सत्ता की ओर झुक गया यहीं उसका ईश्वरवाद निखर उठा, और आत्मसन्तोष के लिये ऐसे साहित्य का सृजन करने लगा जिसका दार्शनिक आधार अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, और समन्वयवाद आदि था। इस संसार के दुखों से छुटकारा पाने के लिये वह प्रार्थना करने लगा। धीरे-धीरे साहित्य रीतिकाल तक बढ़ता आया। उस समय के भी साहित्य में इसी प्रकार की प्रवृत्तियों का आभास मिलता है। राजपूतों, मुगलों और खिलजी वंश की मदान्ध प्रवृत्तियों ने साहित्यकारों को भी अपने ही पक्ष में कर लिया। कुत्सित भावनाओं, क्षयग्रस्त रोमांस से ओत-प्रोत कविताएँ उस समय की प्रमुख रचनाओं में गिनी जाने लगीं।

अंग्रेजी साहित्य, बंगला आदि साहित्यों के प्रभाव से आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य भी अछूता न बच सका। उसके फलस्वरूप हिन्दी में छायावाद की धारा निकल पड़ी जिसका आधार अंग्रेजी और बंगला साहित्य ही था, परन्तु रीतिकाल से ही जनता स्थूल सौन्दर्य-कल्पना और शृंगार की चीजों को सुनती आई थी अतएव छायावाद के प्रतिक्रिया स्वरूप एक नया वाद उठ खड़ा हुआ हिन्दी में उसे प्रगतिवाद के नाम से जाना गया। कविता में सौन्दर्य और सत्य का भी स्थान होता है, केवल भाव-हृदय की प्रवृत्तियां, कोरी भावुकता ये ही तथ्य उसमें अनिवार्य नहीं। साथ ही साथ वही साहित्य सर्वांगीण हो सकता है, उसी में चेतना गति और विकास सन्निहित रह सकते है जिसमें लोक रञ्जनकारी भावना हो और लेखक या कवि की अनुभूतियाँ मुखर हो उठी हों। ऐसे ही साहित्य को जन कल्याण का साहित्य कहा

जा सकता है। अतएव समाज की परम्परा, और रूढ़िगत बातों का खण्डन कर युग की प्रचलित मान्यताओं और सत्य का जो साहित्य चित्रण कर सके वह प्रगतिशील साहित्य है। उसका स्वरूप ऐसा ही तो है।* साहित्य की ऐसी व्यापक परिभाषा जिसके अन्तर्गत सभी चेतनाओं और सभी वर्ग के व्यक्ति का चित्रण हो सके वही अपने स्वाभाविक रूप में उपयोगी हो सकता है। छायावाद का जहाँ तक सम्बन्ध है उसकी सूक्ष्म, भावना और व्यक्तिगत भावनाओं का सम्बन्ध सीधे जनता से न था अतएव युग की आवश्यकतानुसार प्रगतिवाद अपना एक विशिष्ट रूप ले साहित्य में आया। यह स्पष्ट होगा कि छायावाद के मूल में ही प्रगतिवाद का शिशु बढ़ा अतएव वहीं के कुछ प्रभाव से प्रभावित वह भी है। दोनों में अन्तर केवल बाह्य प्रवृत्तियों का है, आन्तरिक साम्य है। पहले में भावों की स्पष्टता अधिकांशरूप से नहीं हो पाई है दूसरे में वह अभाव नहीं रह गया है। जहाँ तक इसका आन्तरिक पक्ष है, उसे पूर्व और पश्चिम का अथवा भारतीय या अभारतीय कह कर किसी विचारधारा की विशिष्ट मनोवृत्तियों और सौन्दर्य मूलों की तथा देशकाल की संकुचित परिधि में बांध कर नहीं रख सकते। परिस्थितियाँ केवल एक राष्ट्र अथवा देश की सीमा में बंधकर नहीं रह सकती, दो राष्ट्रों या उनसे अधिक राष्ट्रों की परिस्थितियों में यदि साम्य हो तो उसका वही उपचार होगा जो एक राष्ट्र में। साहित्य में जहाँ तक परिस्थितियों का चित्रण और उचित मूल्यांकन का प्रश्न है इससे तो सभी सहमत हैं। अतएव प्रगतिवाद एक निश्चित उद्देश्य को लेकर आया जिसका उद्देश्य जीवन और साहित्य का सामञ्जस्य करना ही है, वह उसी ओर अग्रसित हो रहा है। यदि देखा जाय तो सदा से ही साहित्य समाज को अपने उचित मार्ग पर लाता आया है। कभी-कभी ऐसे भी अवसर आए हैं जब अविकसित समाज में उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ है, हमारा सन्तसाहित्य भी इसी प्रकार का है ——तुलसी के राम—राज्य की कल्पना उस युग के अभावों और असन्तोष पर निर्भर है। सहित्यकार अपनी वाणी से अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर समाज को जागृति का संदेश दिया करता है। समाज और साहित्य का यही सम्बन्ध रहा है। साहित्य समाज को एक नींव देता है जिसपर उसका ढांचा निर्मित होता है। ऐसा ही उदाहरण लें।[1]

पाश्चात्य साहित्य का यह परिवर्तन ठीक भारत की परिस्थिति के अनुकूल ही है, भारत की भाँति वहाँ भी राजकुमारों, प्रसादों और समाज में एक ही तथ्य पर

---

* It is an imaginative form of class conciousness expressing itself by means of verbal images:

1. The healthy creative literature develope consistently in the same direction upto end of 18th. cen. English literature helped to substitute for the knights, Princess, Heros and Monsterious entirely foreign burgeoise of 18th. century. A similar factor so every reader, the similar of our family and society depecting to him. A History of Russian Literature pp. 18-19

साहित्यकारों द्वारा प्रकाश डाला जाता था अतएव वह साहित्य एकांगी था—साहित्य में केवल एक ही वर्ग का चित्रण करके अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों से पाठकों को पृथक रखना है, और वह साहित्य साधारण लोगों के लिए उपयोगी भी नहीं सिद्ध हो सकता——इसी तथ्य की पूर्ति प्रगतिवाद कर रहा है। वह जीवन के सभी पहलुओं को खुली आंखों से देख रहा है और अपना निश्चित मत प्रगट कर रहा है। इसमें सन्देह नहीं, उसका यह प्रयोग चाहे किसी भी साहित्य से प्रभावित हो चाहे किसी भी दृष्टि की सूझ हो, सराहनीय है। जहाँ तक बाह्य-प्रभाव का प्रश्न है, ऐसी ही अवस्था में हिन्दी साहित्य अनेक भारतीय या अभारतीय दर्शनों से प्रभावित होता आया है। सूफी सिद्धान्त, हमारे साहित्य पर अपना एक व्यापक प्रभाव छोड़ चुका है। इसका कारण है, किसी भी राष्ट्र में अन्य राष्ट्र की उस परिस्थिति का प्रभाव नहीं परन्तु सामन्जस्य का प्रभाव हो जो एक सी परिस्थितियों के कारण स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाया करते हैं। प्रवृत्तियां ठीक शारीरिक विकास की भांति, अपना एक निश्चित एवम प्राकृतिक विकास रखती है जो कि उपयुक्त वातावरण को पाकर स्वयं फूट निकलती है। अतएव किसी भी एक सी प्रवृत्ति को दो स्थानों पर पाकर एक का दूसरे पर प्रभाव कहना, बहुत उचित नहीं मालूम पड़ता। प्रवृत्तियों के विकास में वे ही तथ्य सम्मिलित हो सकते हैं जो अन्य स्थान के विकास में सन्निहित थे। अतएव प्रगतिवाद लौकिक वस्तुओं को ही लेकर चल रहा है।

इस प्रकार से कला का यह पक्ष जो वैयक्तिकता को छोड़कर एक व्यापक दृष्टिकोण को लिए है, प्रगतिवादियों को आकर्षित कर सका है। जीवन प्रगति का पर्याय है, आगे बढ़ने में ही उसका श्रेय है। इस अस्त व्यस्त समाज में तो उसे संघर्ष करना है क्योंकि जीवन से चेतना को जोड़ने वाली यही एक कड़ी है। जहाँ तक प्रोपेगण्डा का आधार है साहित्य उस पर नहीं निर्भर कर सकता। मार्क्स के सिद्धान्त पर आधारित काव्य, या केवल रूस के गीत साहित्य के विषय न बनें। जहाँ साहित्य में इन तथ्यों का समावेश किया जाने का प्रश्न है, इसमें संदेह नहीं कुछ साहित्यक ऐसा करते भी हैं। जो सर्वथा नियम के विरुद्ध है। एक साहित्यकार को तो समाज के सभी पहलुओं को देखना है, उसमें समाज के बड़े से बड़े वर्ग का भी चित्रण होना चाहिए और छोटे वर्ग का शिवदान जी के विचार में यही पर तथ्य अवश्य ज्ञात होता है।

"कतिपय आलोचक चन्द बरदायी या भूषण की कविता में प्रोपेगण्डा नहीं देखते। यदि कोई राजकुमारों या राजकुमारियों या कोमलांगियों और सूट बूटधारी पुरुषों के विषय में लिखता है तो वह उनकी दृष्टि में प्रोपेगण्डा नहीं किन्तु यदि कोई मजदूर, किसान या मुफलिसों के बारे में लिखता है तो वह प्रोपेगण्डा है।"[1] चौहान

1. शिवदान सिंह द्वारा प्रगतिवाद पृष्ठ १८

जी ने प्रगतिवादियों को एक ही क्षेत्र में बांधने का प्रयत्न किया है मजदूरों और कृषकों के सिर पर ही क्या प्रगतिवादियों का टीका लगा हुआ है, केवल मजदूर और कृषक ही इस समाज के अंग नहीं, इस समाज के अंग हैं पूंजीपति और जमीदार भी। साहित्य में दोनों का चित्रण होना आवश्यक है। यथार्थवर्णन के आधार पर एक पूंजीपति का अन्याय एक मजदूर पर, जमीदार का अन्याय अपने आश्रितों पर दिखलाना ही कहाँ तक उचित है, परन्तु यदि एक भाग को छोड़ दिया जाये तो वह साहित्य एकांगी हो जायेगा। ठीक यही बात जो प्रगतिवादी आलोचक अन्य साहित्यकारों के विषय में कह देते हैं कि उन्होंने समाज के एक भाग (निम्न भाग) का चित्रण ही नहीं किया। प्रगतिवादियों पर भी क्या यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि यदि एक साहित्यकार ने निम्न वर्ग का चित्रण करना छोड़ दिया तो दूसरे ने उच्च वर्ग का चित्रण करना छोड़ दिया। कहने का तात्पर्य यही कि साहित्यकार किसी भी वर्ग के समुचित अंग में बँधकर नहीं रहता है यह तो एक दर्शक की भांति है जो समाज की बहती हुई सरिता के किनारे खड़ा हुआ प्रत्येक मोड़ को देख रहा है और इस प्रकार से समाज की गति विधि निश्चित कर रहा है। यदि उसी बहाव के साथ ही वह भी बहने लगता है तो उससे पृथक रह कर जितना देख सकता था उतनी सूक्ष्मता के साथ वह उन गतिविधियों का चित्रण नहीं कर सकेगा। साहित्य का सच्चा उद्देश्य यही है कि कलाकार समाज की क्रिया शीलता के निकट रहे वह सुन सके कि समाज की रगों में कब और कितना रक्त बह रहा है, वह जब समाज के इतना निकट रह सकेगा तभी उसका जानना उचित तथा सफल हो सकेगा। समाज की बुराइयों से ऊब कर आज के साहित्यिकों को किसी दूसरी ओर भागने का युग नह बल्कि उन्हीं बुराइयों से लड़कर उन्हें दूर करना है। पलायनवाद केवल स्वान्तः सुखाय हो सकता है सम्पूर्ण समाज अथवा राष्ट्र को सुख नहीं दे सकता। जो प्रत्यक्ष है वही मुख्य है और उसी से हमें टक्कर लेना है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में......

१ जीवन जीने की वस्तु है उससे आँख मिलाकर खड़ा होना पुरुषत्व है न कि किसी काल्पनिक सुख की खोज में भाग जाना। जो कुछ सामने है वहीं प्रत्यक्ष है, वही सत्य है। अतः भौतिक जीवन की साधना जीवन में मुख्य है। उसके अतिरिक्त अध्यात्म और परलोक कुछ नहीं वह केवल पलयानवाद के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

आज की साहित्यिक प्रवृत्तियों के पीछे की तद् सम्बन्धी प्रवृत्तियों में हमें एक स्पष्ट भिन्नता दिखाई पड़ती है। साहित्य पहले दर्पण के तौर पर था, समस्त प्रवृत्तियाँ उसमें खिच आती थीं अपने में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव धारण करने वाली वस्तु होने के अतिरिक्त वह कुछ और है और जिसमें एक छिपा हुआ रहस्य निहित रहता है, जो संकेत करता है समाज को आगे बढ़ाने का हमारी अतीत स्मृतियां तो उसमें

१—नगेन्द्र—हिन्दी कविता की नवीनतम प्रवृत्तियां

सन्निहित है ही इसके अतिरिक्त हमारा भविष्य भी उसमें मुस्करा उठता है—समाज की एक रूप-रेखा प्रशस्त है, वह निखर उठती है। जैनेन्द्र के शब्दों में "साहित्यकार वर्तमान से अधिक भविष्य में रहता है। दुनिया को सुखी करने से अधिक, दुनिया का कल्याण चाहता है, । इसलिये दुनिया लाचार होती है पूजा करे-उसका भय माने। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यकार का कर्तव्य उस डाक्टर की भाँति है जो तीखी दवा होते हुए भी उसका उपयोग रोगी को करने के लिए बाध्य करता है, उस समय दवा तीखी अवश्य प्रतीत हो सकती है, परन्तु उसका काम बाद में निश्चित रहता है। समाज की अशांति के ही कारण महान साहित्यकार तुलसी उसका आखेट बना उसे संस्कृति में रामायण न लिखने के लिये अनेक प्रकार की यातनायें दी गईं, राम का वह वास्तविक रूप जो उसने जनता के समक्ष रखा वह तीखा था—क्यों कि उसमें सत्यता थी, उसमें युग नायक होने की शक्ति थी। राम राज्य की वह कल्पना कुछ आलोचकों के शब्दों में नहीं थी वह एक तीखी दवा थी जिसे पीकर समाज की नसें सीधी तो अवश्य हुईं परन्तु यथार्थ के कारण वह उसे असह्य प्रतीत हुई। भारत में सदा से यही प्रथा का प्रतिपादन अन्य राष्ट्रों में होता आया है। ईसा को आज एक विशिष्ट वर्ग पूजता है, गान्धी को आज समस्त मानवता पूजती है परन्तु उनके जीवन काल में उनकी उपयोगिता का विचार कितने लोगों ने किया था—सम्भवत यही कि उन्हें गोली से उड़ा दिया जाय। इन उदाहरणों से मेरा तात्पर्य यहाँ यही है कि समाज की एक प्रचलित गति, नवीन आई हुई विचारधारा को सहज में नहीं अपना सकती—चाहे वह धारा साहित्यिक हो अथवा राजनैतिक। आज का अधिकांश हिन्दी साहित्य वैयक्तिक है—अपनी भावनाओं को ही लेकर चला है, कवि आत्मानुभूति को वह आवरण नहीं दे सका है जिसमें लोक रंजन की भावना सन्निहित हो।

वह इसी धरती का है, धरती के गान उसे प्यारे हैं। यदि और अधिक नपे तुले शब्दों में कहा जाय तो उसका उद्देश्य (जैसा ऊपर कह आए हैं) जीवन और साहित्य का सामंजस्य है। उसे नये प्रकाश में, नई चेतना में, नये प्रभात में रूढ़ियों से जर्जरसमाज में ऐसी जागृति मिलती है, जिससे शक्ति का संचय हो सके। चली जाती हुई लकीर पर चलने की आदत आज के समाज में है, उसे मिटा कर कुछ अपना विचार, कुछ अपना दृष्टिकोण रखना है जिसका कुछ व्यापक अर्थ हो, एक सुलझी हुई व्याख्या हो। यह कह करके साहित्य को हम प्रोपेगेण्डा कहने के पक्ष में नहीं और सच्चा साहित्य प्रोपेगेण्डा हो भी नहीं सकता। किसी वर्ग (विशेष) के बारे से लिखने का तात्पर्य यह नहीं हुआ करता कि अमुक अमुक वाद उस वर्ग का प्रोपेगेण्डा कर रहा है। उस वर्ग के विषय में लिखने का एक मात्र कारण

१—जैनेन्द्र के विचार—प्रभाकर माचवे पृष्ठ १८

उसके प्रति उसकी (लेखक) सच्ची सहानुभूति है, सच्ची निष्ठा है-और यही निष्ठा कविता के प्रेरक शक्तियों में से एक रही है। क्रौंच के वध पर वही निष्ठा, करुणा के सच्चे स्वरूप को देख कर अपने आप आदि कवि के मुख से निकली थी। वह विरागी थे उन्हें जीवन की रागात्मक प्रवृत्तियों ने क्या काम ? परन्तु विरागी होते हुए भी वे मानव थे, सच्चे रूप में कवि थे जिनके कोमल हृदय पर परिस्थितियों का आघातप्रतिघात अपना एक निश्चित रूप छोड़ता चलता था-इसका भी एक मात्र कारण था कि उनके मुख से क्रौंच की कारुणिक स्थिति देखकर अपने आप 'माँ निषाद ....', आदि शब्द निकल पड़े। कहने का तात्पर्य यही कि अनुभूति ही कविता की सच्ची प्रेरक शक्ति है आज का कवि जो अपने प्रति, अपने समाज के प्रति ही ईमानदार है—उसे समाज की वास्तविकता के प्रति सहज विश्वास एवम् उसकी कारुणिक दशा के प्रति सहानुभूति है वही सहानुभूति अपने आप रोकने पर उमड़ पड़ती है। इसीलिये तो दिनकर कलम उठाते हैं, कविता लिखने के लिए परन्तु अन्तस्तल में ज्वार उमड़ पड़ता है, भारत की दशा देख अपनी अन्य रागात्मक भावना को भूलकर भारत का अपनापन कवि के मस्तिष्क में चिल्ला उठता है, कि मेरी दशा देखो। तभी तो—

कलम उठी कविता लिखने को,
अन्तस्तल में ज्वार उठा रे,
सहसा नाम पढ़ा कायर का,
दक्षिण पवन पुकार उठा रे।
देखा शान्त कुँवर गढ़ है,
झांसी की वह शान नही है,
दुर्गादास प्रताप बली का,
प्यारा राजस्थान नहीं है।[1]

"अधिकतर साहित्य दुनिया को मनोरंजन और विकास का सामान देते हैं। वह आत्मकेन्द्रित—साहित्य है। पद्य—साहित्य में लगभग ५० फीसदी ऐसा व्यक्तिगत साहित्य है— अर्थात् व्यसनशील साहित्य हल्के से नशे और भुलावे में डालने वाला साहित्य। इस प्रकार के साहित्य से लेखों का सम्बन्ध समाज की स्वीकृति का है।[2] समाज के हृदय की गहरी वेदना के साथ तादात्म्य पाने की चिन्ता उन्हें नहीं है। ऐसा साहित्य कब समाज के लिये लिखा जा सकता है लेखक, जो समाज को अच्छा लगता है केवल वही न लिखे, वस्तुतः बहुत सी ऐसी वस्तुएँ जो समाज को ठीक न

१. दिनकर स्फुट गीत।

२. जैनेन्द्र के विचार पृष्ठ १९ प्रभाकर माचवे।

जैसे, बहुत सा ऐसा साहित्य है जो जनसाधारण के दृष्टिकोण में ठीक, खरा न उतरे उसकी उपयोगिता इस आधार पर हमें नहीं आँक लेनी है—अपने एक व्याख्यान में रूसी साहित्यकार माया कोवास्की ने साहित्यकार के विषय में कहा था[1] कि,

साहित्यकार के विषय में माया कोवास्की का उदाहरण देने से मेरा तात्पर्य यह था कि किसकी व्याख्या कहाँ तक जन हित की ओर अग्रसित है, केवल एक विशेष ताना बाना वालों का वर्णन—एक विशेष आकृति ही साहित्यकार को साहित्यकार नहीं बना देती—उसके अन्तस्तल में कहाँ तक प्रचलित भावनाओं एवं धारणाओं का स्पष्टीकरण है और साथ ही साथ उसने किस सीमा तक उसे व्यक्त किया है—यही हमें एक सच्चे तथा जागरूक कलाकार की कृति में देखना है। सौन्दर्य का उपासक होने के कारण है,—साहित्यकार सौन्दर्य को ही कण कण में ढूँढ़ने की चेष्टा करता है, जब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक उसे सन्तोष नहीं होता परन्तु उस सौन्दर्य का आधार तो कुछ होना ही चाहिए, उस सौन्दर्य का आधार है साध्य। साहित्य को समाज का व्यापक अंग समझा गया है इसीलिए उसमें जीवन की अनुभूतियाँ और चिन्तन का समावेश मिलता है। शोषित पीड़ित कृषक और जनतंत्र भी उसके अंग हैं। अतएव प्रगतिवादी यदि अपनी रचनाओं में इसका उल्लेख करता है तो उचित ही करता है—

"अधिकार याचना की उग्रता, शोषण शासन परतंत्रता का ही भाव प्रगतिवादी के भाव हैं। मिल के मजदूरों की परिस्थिति संभालने के लिए और उनकी अभावगत समस्याओं को सुलझाने के लिए क्रान्ति का नियमित अर्थ अवगत कराने के अतिरिक्त एक ऐसे साहित्य की रचना हुई जिसको प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई। दमन से ऊबकर अपनी आवाज बुलन्द करने के लिए निम्न वर्ग को उत्तेजित करने के लिए प्रगतिवाद की आवश्यकता समझी गई। आंदोलन के लिए उत्साहित करना अपने अपने अधिकार माँगने के लिए युद्ध करना भी प्रवृत्तियां रूस की हैं।"[2]
सचमुच यदि प्रगतिवाद का जैसा रूप उन्होंने समझ रखा है, वही है तो उसका यह अभाव खटकने योग्य ही है परन्तु वास्तव में देखा जाय तो ऐसी स्थिति है नहीं। विद्वान लेखक ने प्रगतिवाद का एक ही पक्ष लिया है, कुछ कार्यों को गिना करके अंत में उन्होंने नाम ले लिया रूस का। भारतीयों के लिए रूस कोई हौवा नहीं

---

1. Why should I write about the love of Jack and not consider myself as a part of the social organism which is building life. A poet is not he who goes about with Jell's hair and beats lyrical love theme. A poet is he who is an arena of sharpened class.

२. प्रगतिवाद—शिवचन्द्र पृष्ठ २०९

होना चाहिए जो उसके नाम पर ही बिगड़ उठें। अधिकार के विरोध में अपनी आवाजें उठाना, निम्न वर्ग को उत्तेजित करना यह वास्तविक रूप में प्रगतिवादी साहित्य की प्रवृत्तियाँ नहीं हैं वलिक एक प्रोपेगेण्डा है। जिसका हम वर्णन ऊपर कर आए हैं। साहित्य किसी वर्ग विशेष को क्यों ले चले, और वह चलता ही कहाँ है— यदि अभाव की पूर्ति के लिए यह किसी विशेष को भी लेता (व्यापक रूपों में—ही) तो उससे आलोचकों को डाह क्यों? प्रवृत्तियों पर किसी एक विशेष राष्ट्र की मुहर नहीं हुआ करती। परिस्थितियों और प्रवृत्तियों से बड़ा भारी साम्य है—वह परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर एक सी हो जाती है। आज के साहित्यकार का कर्म इतना महान है कि वह अपने को भारत के या किसी अन्य क्षेत्र में बाँधकर क्यों रखे— उसका दृष्टिकोण तो व्यापक ही होना चाहिए। एक मानवता का कवि अपने राष्ट्र और अपनी जाति का ही केवल हित नहीं सोचता वह समस्त राष्ट्र और अखिल मानवता का शुभचिन्तक होता है। उसकी कविता तो उस सुरसरिता की भाँति है जिसमें अवगाहन कर समस्त मानवता की तृप्ति होती है, फिर ऐसे स्टेज पर आ करके यह प्रश्न उठाना कि साहित्य की अमुक प्रवृत्ति तो भारतीय नहीं इसलिये इसका प्रचलन भारतीय साहित्य में निषेध है, एक संकीर्णता का ही द्योतक है साथ-साथ एक अहमन्यता जिसका कोई ठोस आधार नहीं। साहित्य में रूस, भारत, जर्मनी या कोई भी राष्ट्र हो सभी बराबर है, एक से हैं। इसका कारण है अमुक स्थान की यदि परिस्थितियाँ हमारे स्थान की परिस्थितियों से मिलती जुलती होंगी तो साहित्य में भी उन्हीं प्रवृत्तियों का वर्णन होगा। हमें उस साहित्य को एक विशिष्ट राष्ट्र का साहित्य कहकर छोड़ नही देना है। साहित्यकार का क्षेत्र रूस या भारत नहीं वह किसी विशेष राष्ट्र के मंगल की कामना नही करता, उसका क्षेत्र अखिल विश्व है और उसकी मंगल कामना सम्पूर्ण मानवता के लिए होती है—चाहे उस मानवता के अंतर्गत मजदूर हो अथवा पूँजीपति। यदि किसी भी तथ्य का वह आलोचक रहा है और नाश करने की चेष्टा करता रहा है तो वह तथ्य है दानवता, अमंगल उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियाँ एक अशक्त व्यक्ति का रक्त चूसने वाली जोंक।

प्रगतिवादी एक उच्च भावनाओं का पोषक है इसके आधार पर यह कहा जा सकता है। इसलिए वह उच्च भावनाओं के सफल होने के लिए जो भी रुकावटें हैं, उसका विनाश करना चाहता है। प्रगतिवादी ने अपने साहित्य में जनमत को अपनाया है केवल व्यक्ति विशेष ही उसे नहीं अपना सकता। यदि झोपड़ियाँ और दलित वर्ग का ही गान उसमें प्रमुखता प्राप्त कर सका, तो वह यदि उसका चित्रण न करे तो उनके साथ अन्याय करना है। केवल प्रासादों का ही गान किसी साहित्य को पूर्ण नहीं कर सकता। साहित्य को तो समाज के सम्पूर्ण वर्ग पर प्रकाश डालना

है।[1] रूढ़िगत बातों पर तथा रूढ़िगत सिद्धान्तों पर उसका विश्वास नहीं, उसे वह एक परिवर्तन की दृष्टि से देखता है। संसार परिवर्तनशील तो अवश्य है और उसकी गति में भावनाओं के घात प्रतिघात भी होते रहते हैं। इस विवर्त में साहित्यकार को सजग होना है। यदि पुरातन दृष्टि से एक विशाल शक्ति का अनुभव होता है वहीं साहित्यकार रूढ़ियों को अस्वीकार करके उसके स्थान पर व्यापक प्रकृति का भी दर्शन करता है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि पुरातन और नवीन साहित्य में सामान्जस्य आवश्यक सा है। रहस्यमयी आवरण में वह यथार्थ रूप का दर्शन कराता है और उसी को समाज में भी देखने की चेष्टा करता है। आज का साहित्य मार्क्सवादी सिद्धान्तों से प्रभावित है। वह उसी आधार पर अपनी नींव उठाना चाहता है। इन मूल सिद्धान्तों का जिसका कि वर्णन या समिश्रण अपनी कविता में पाते हैं मार्क्स के शब्दों में Dialectical theory है। हीगल और मार्क्स के सिद्धान्तों में भेद बताते हुए वह कहते हैं।[2]

प्रत्येक नवीनता की धुन में आकर प्रगतिवादी कविताओं का आलम्बन भी सांसारिक स्थलों को लेकर हो रहा है। प्रकृति के सूक्ष्म आलम्बन को बदल कर आज के कवि स्थूलता को ग्रहण कर रहे हैं। फूल, सुरभि तथा झंझा आदि का रूप अब क्रन्दन विप्लव और दीन दुखियों की आहों ने ग्रहण कर लिया है। यथार्थ की अमिट छाप आज के साहित्य पर पड़ रही है। कवि अपनी बातों को सीधे रूप में अपना रहा है। वह उस पर अपनी वैयक्तिकता की छाप न लगा कर तथा उसको किसी रूप में न मोड़ कर सीधे ही कह देता है। यह उसके वास्तविक चित्रण की ओर ही संकेत है। कविता लिखने वाला कवि ही तो है, और वह इसी समाज में रहता है। सामाजिक घात प्रतिघातों की प्रतिक्रिया उसके मस्तिष्क पर होती रहती है इस प्रकार से अपने अहम् को वह एक व्यापक रूप में बदल कर विस्तृत कर देता है। उसका यही समीकरण ही एक नवीन वस्तु को जन्म देता है। इस प्रकार से उसका वह अनुभव होता तो उसके द्वारा है परन्तु वह अपने अनुभव को समष्टि में परिवर्तित कर देता है। उस कवि का अनुभव तो उसकी चिरन्तर प्रवृत्तियों के ही फलस्वरूप होता है। मनुष्य की मनोवृत्तियाँ अपरिवर्तनशील है, इसी अपरिवर्तनशील प्रवृत्तियों के नीचे संस्कार भी चला करते हैं जो समाज एवम् परिस्थितियों की अन्तर्वृत्तियों को

१—प्रगतिवाद—पृष्ठ २०९ से० शिवचन्द्र।

1. Let the literature hanker after cottages, think over the minute problems of life. The literature which thinks of our faccination, builds his basis on no views, is no literature.

2. Hegal's dialectic is the fundamental principle of all dialectic only at its meptical form has been sloughed off and this is precisely which distinguishes my method.

पैदा करते हैं—मनुष्य की व्यापक अन्तर्वृत्तियों के कारण तो कविता में एक शाश्वत गुण पैदा होता है इसीलिये तुलसी और सूर के राम और कृष्ण की लीलाएँ आज भी प्रेरणा देती हैं। राम का विलाप अब भी कारुणिक वातावरण पैदा करता है, कुम्भकरण का युद्ध अब भी वीरता की ओर संकेत करता है, परन्तु इन प्रवृत्तियों के नीचे मनुष्य का अहम् भी कार्य करता रहता है उसकी उस पर (वैयक्तिता पर) तद्-सम्बन्धी समाज और परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि अनजाने रूप में एक ही समय में दो मस्तिष्क में वही भाव उदय होते हैं, जिसका निर्णय किया जाना असम्भव है और साथ ही साथ निरर्थक भी, किसके मस्तिष्क में यह भाव पहिले उठा होगा। यदि एक उदाहरण लें तो अधिक स्पष्ट हो सकता है। एक विस्तृत प्रासाद जिसकी गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ देखने से बड़ी मनोरम प्रतीत हो रही हैं और ठीक उसी से लगी हुई एक टूटी झोपड़ी जिसका छप्पर भी ठीक नहीं, कुछ गिरी हुई कुछ ठीक अवस्था में—इन दोनों उदाहरणों पर दृष्टि पड़ती है एक तीसरे कलाकार की, वह सोचता है, उसके अन्तरंग को स्पर्श करता है—अन्ततोगत्वा वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि दोनों का आधार है सामाजिक पहलू उसकी कोमल भावनाओं पर जब परिस्थितियों का आघात होता है तो वह उद्यत हो जाता है एक क्रान्ति के लिये जो प्रासाद का थोड़ा सा अंश निकालकर उस झोपड़ी को दे दे क्यों कि दोनों के रहने वाले मानव हैं ? दोनों का स्त्रष्टा एक ही है चाहे उसका जो भी रूप हो।

अतः उस झोपड़ी को देखकर दया, करुणा आदि का संचार जो उस मस्तिष्क पर हुआ वह एक शाश्वत प्रवृत्ति के कारण, क्रान्ति की भावना हुई उस सामयिक स्थिति को देखकर। उस समाज को देखकर, जो अनैतिक अधिकारों का उपयोग कर किसी को कुछ विशेष वितरण कर रहा है किसी को कुछ। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुये आधुनिक कविता की रचना हो रही है। संक्षेप में यह आधुनिक कविता की व्याख्या है और प्रतीकवाद, प्रयोगवाद और साहित्य के अतिवस्तुवाद से विमुख हो अनेक प्रतिभाशाली कवि और आलोचक अब स्वीकार कर रहे हैं कि कविता को आधु-निक वास्तविकता के प्रति एक सचेत, प्रगतिशील दृष्टिकोण व्यक्त करना चाहिए। ऐसा करके ही वह एक वर्गहीन समाज के लिए मनुष्यों के भाव जगत का संगठन कर सकता है।[१]

यही भावजगत मनुष्य का क्षेत्र है जिसमें उसकी समस्त चित्तवृत्तियाँ एकत्रित होकर कविता के रूप में स्पष्ट होती हैं। कवि का यही अह्‌म अब तक अलग अपनी ही अनुभूति में लिपटा हुआ प्रतीत होता था यही कारण था कि कवि का अस्तित्व साधारण अस्तित्व से दूर कुछ बोझिल, कुछ अस्पष्ट दिखलाई पड़ता था—इधर की

१. कविता की आधुनिक व्याख्या—शिवदत्त पृष्ठ १०५

कविता धारा में हमें यह भिन्नता स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। आज का कवि अपने उस अह्‌म को त्याग तो नहीं सका, (और त्याग देने पर उसकी अनुभूति भी समाप्त हो जाती) परन्तु उसके सकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकल कर वह व्यापकता लिए है, उसकी यही व्यापकता उसे समाज से मिलाती है। समाज के सुख दुख में वह अपना सुख दुख अनुभव करता है। इस प्रकार कविता अपनी गति से मनुष्य की बाह्य चेतना को तीव्र कर, उसे वातावरण के प्रत्यक्ष ज्ञान से सन्निकट कर, स्वचेतन को अन्तंमुखी न बनाकर, हमारेहृदय को वास्तविकता के गह्वर में उतर कर भावात्मक जगत को प्रत्यक्ष कर देती है—वह भावात्मक जगत, इन कवियों का अधिकतर सीमित ही रह जाता था। एक मजदूर की दुख भरी रात्रि के प्रति यदि उनकी भावात्मक प्रवृत्ति आकर्षित होती है तो बिखरे हुए कुन्तल राशि या उभरे हुये उरोजों की ओर भी आकर्षित हो सकती है—कुछ कवि रागात्मक प्रवृत्तियां कह कर इनको छोड़ देते है। मैं मानता हूं कि कविता में सर्वसाधारण का चित्र हो, समाज का यथार्थ वर्णन हो इसके साथ ही साथ वे वस्तुएं जिन्हें मनुष्य के मानसिक विचार छोड़ ही नहीं सकते उनका त्याग आधुनिक कविता में इस प्रकार से उचित नहीं है। साहित्यकार को चाहिए (और अन्य साहित्यकारों ने उसका वर्णन भी किया है) कि समाज के बर्बतापूर्ण संकुचित वातावरण से हटकर अपने साहित्य में सत्य की सृष्टि करें। चेखव की कहानी में नाद्या परिस्थितियों और सामाजिक वातावरण से ऊबकर बाहर निकल पड़ती है, वह बाहर आकर केवल अपनी आत्मानुभूति को ही शान्त कर बैठ नहीं जाती बल्कि प्रतिक्रिया स्वरूप क्रान्तकारी कार्यों में भाग लेती है। इस प्रकार से लेखक त्रुटियों को दिखलाते हुए भी उनके प्रति उदार और संवेदनशील है, वह अपनी नायिकाओं से एक परिवर्तन भी कराता है केवल कल्पना के ही सहारे नहीं परन्तु एक निश्चित कार्यक्रम रखा कर। नायिकाओं को बाहर न निकाले वह उसी में रहते हुए उसकी दशा में परिवर्तन सुधार की कल्पना कर लेता जिसकी आवश्यकता है। यदि कवि समाज से दूर रखकर अथवा उस नायिका को सर्व साधारण की भाँति न रखकर उसमें कुछ ऐसी असाधारण प्रवृत्ति उत्पन्न कर देते है तो वह जन साधारण का चित्रण न होता साहित्यकार को साधारण मानव की गुत्थियों को सुलझाते हुए उनको प्रति संवेदनशील होना चाहिए। उन नायकों की यही प्रवृत्तियां जो अपने में परिवर्तन देखते हुए समाज को भी अपने कार्यों से प्रभावित कर सकेगी सचमुच प्रगतिशील साहित्य की रचना करने में सहायक हो सकती है। इस प्रकार से साहित्य केवल भावनाओं का ही उदगार नहीं रह जायेगा – उसमें कवि का या साहित्यकार का वह संकीर्ण अह्‌म न बोल सकेगा जिसके विषय में ऊपर कहा जा चुका है। इस प्रकार से साहित्यकार एक संदेश दे सकेगा अपने नायकों के मुख से अपने समाज को, यही बढ़ी हुई अवस्था ही साहित्य को समाज से मिला देती है।[1]

रूसी उपन्यासकारों का उदाहरण देकर मैं उनका ही पक्षपात या उनके ही

१—कविता की आधुनिक व्याख्या—शिवदान सिंह चौहान पृष्ठ १०४

साहित्यादर्शों पर पूर्णरूप से विश्वास नहीं करता परन्तु ऐसे उदाहरण हमको यह अवश्य बता सकेंगे कि साहित्य का वास्तविक रूप क्या होगा जब उनमें सामाजिकता का स्वरूप अपना प्रमुख स्थान ले लेगा। नायक का कथन प्रायः ऐसा ही होना चाहिए जो अपनी समस्याओं में उलझा हुआ होकर भी एक ऐसा सन्देश दे सके जिसमें उस समय की परिस्थितियों के लिए हल मिल जाय।

धर्म तथा कर्तव्य पर यदि आधुनिक दृष्टिकोण से कुछ कहा जाय तो यही कि कवि धर्म आदि का स्वरूप एक विस्तृत दृष्टि से देखता है। उसकी दृष्टि में मानव का सबसे बड़ा धर्म मानवता है और उसके पश्चात् जो कुछ भी हो। पाप का सामाजिक दण्ड उसके लिए निराधार, क्योंकि समाज ने पापी को दण्ड कब दिया। जहाँ पर वैभव के बल से पाप पुण्य हो जाते हैं उस मस्तिष्कहीन समाज में इसका मूल्य हो ही क्या सकता है ? जब किसी वस्तु का मूल्य ही नहीं, उपयोगिता ही नहीं तो उसका प्रयोग क्या ? वास्तविक लाभ क्या ? इस समाज को ठीक ढाँचे में न ढले होने के कारण ही तो पाप और पुण्य का ठीक निर्णय नहीं हो पाता। प्रत्येक कार्य के पीछे हमें उसकी पृष्ठभूमि देखनी चाहिए, यदि उसकी मानसिक प्रवृत्ति से समाज के अधिकांश प्राणियों की हानि होती हो तो उसका ऐसा सभी कार्य उचित नहीं हैं, पाप है। एक समाज की कुरीति दूसरे समाज की अच्छी रीति एवं प्रशंसा प्राप्त करने योग्य हो जाती है। अतएव पाप और पुण्य तो मानव के ही अपने अपने दृष्टिकोण का फल है, उसी की ही प्रतिक्रिया है। समाज के अधिकांश व्यक्ति जो कार्य करते हैं (चाहे वे ठीक हों या न हों) चाहे उनका नैतिक स्तर कुछ भी हो, प्रायः अच्छा समझा जाता है। यही पुण्य का स्तर है और ठीक उसके विपरीत अनैतिकता को अपनाने वाले, पापी कहे जाते हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो अनैतिकता का आधार क्या है किसी भी कार्य को अनैतिक कहने का आधार क्या है, उसी को निश्चित करने वाला समाज है, समाज के इने गिने कुछ लोग हैं जिसका उस पर दायित्व है। अतएव नैतिकता एवं अनैतिकता केवल इन्हीं के मस्तिष्क की उपज है जिन्होंने अपनी पूँजी के बल पर समाज को हथिया लिया है।

इस प्रकार धर्म तथा कर्तव्य के ऊपर यदि प्रगतिवादी दृष्टिकोण से कुछकवियो ने कहा है तो यही कि वह धर्म आदि का स्वरूप विस्तृतरूप से देखता है। उसकी दृष्टि में मानव का धर्म मानवता है और उसके बाद चाहे जो कुछ भी हो। पाप और पुण्य उसके लिए निरर्थक शब्द हैं क्योंकि समाज ने पापी और अपुण्यात्मा को दण्ड कब दिया ?

जहाँ पर वैभव के बल पर पाप पुण्य में परिवर्तित हो जाता है उस समाज का अपना निजी दृष्टिकोण क्या, इसीलिए प्रगतिवादी दिनकर के शब्द इस प्रकार हैं—

> वैभव के बल से जब समाज के
> पाप पुण्य हो जाते हैं,

धन हीन पुण्य को स्पर्श नहीं,
जब ईश्वर भी कर पाते हैं।
पापी महलों का अहंकार
तब देता मुझको आमन्त्रण ॥

इन्हीं कुरीतियों की ओर उनकी दृष्टि गई है, इसीलिए वह सचमुच क्रान्ति चाहते हैं। समाज के जर्जर अभाव की पूर्ति न करके वह उसे नष्ट-भ्रष्ट ही कर देना चाहते हैं, उनकी यह भावना कहाँ तक उचित है यह तो एक दूसरा दृष्टिकोण और दूसरा विश्लेषण ही होगा उनके विचार में समाज के जर्जर अंग जो रोग ग्रसित हैं उन पर मलहम लगाकर ठीक नहीं किया जा सकता। प्रगतिवादी उसे लेप द्वारा ठीक नहीं करना चाहता है।

साहित्य में इन्हीं विचारों को लेकर प्रगतिवाद आया। इसके पूर्व अनेक वाद-अनेक धारा में अनेक विचारों को लिए हुए आये। सब अपने-अपने विचार में महत्व-पूर्ण थे, इनमें सबका एक अपना दृष्टिकोण था। छायावाद काल में साहित्यिक केवल अपने तक ही सीमित रहे। वे केवल एक ही दृष्टिकोण से देखते थे, उनका दृष्टिकोण एकांगी था, वह समाज से दूर कविता को जगत से बाहर की वस्तु समझते थे। अतएव उनके विकास के नए रूप का नाम प्रगतिवाद पड़ा। वह युग की बीन पर अपनी एक विशिष्ट रागनी लेकर थिरक रहा है—इन कविताओं में समाज का यथार्थ चित्रण है। समाज की यथार्थ भावना पर प्रकाश डालने के कारण उसमें वैयक्तिक भावना प्रमुख नहीं—उसका कवि अपने में एक सामंजस्य लिए हुये है, समाज से पृथक उसका कोई अस्तित्व ही नहीं—यही समाजीकरण प्रगतिवादी कविताओं का मुख्य आधार है।

भौतिक जीवन के चित्रण के साथ ही साथ इधर का प्रगतिवादी, मानव की समस्त चेतनाओं पर भी प्रकाश डाल रहा है। इसका कारण है कि वह एकांगी नहीं भौतिक जीवन का चिन्तन ही उसे अपनी चिन्ता में बाँध एकांगी कर रहा है। अतएव उसने सोचना शुरू किया जीवन की अनुभूतियों की ओर जो उसे प्रेरणा देती रही है। नरेन्द्र ने अपनी पुस्तक हंसमाला में एक स्थान पर संकेत किया है—

"मैंने अधिभौतिक के साथ ही साथ अविनैतिकता का भी उल्लेख किया है यह केवल संयोगवश नहीं। मुझे आज भौतिक चित्रण एकांगी लगता है। हमें अपने जीवन दर्शन को भी अधिक मानवीय और व्यापक बनाना होगा जिसमें भौतिक प्रसार तथा चेतना की गहराइयां दोनों ही तत्व विद्यमान हों। जिसमें प्रतिपक्षी की ओर से नवीन के निर्माण के हित की तत्परता हो और परम्पराओं के समझने और अपनाने का सामर्थ्य और शक्ति भी। इस प्रकार केवल भौतिक-चिन्तन ही सचमुच एकांगी है और यदि दूसरी ओर देखा जाय तो रोमाँस और रीतिकालीन अस्वस्थ्य शृंगारिकता के गाने गाना भी केवल एक अधूरी प्रवृत्ति का ही प्रदर्शन है। नरेन्द्र के इस सिद्धान्त का आश्रय लेकर आज के प्रगतिवादी को चलना है तथा नरेन्द्र की हंसमाला उनके कथनानुसार सफल हो सकेगी।

—बन जगत की नई आशा,

उड़ निराशा के गगन में हंसमाला तू निडर ।

कवि अपने साहित्य से यह संदेश देता चलता है कि हंसमाला निडर होकर चले, आशा का पुनः संचार करे। ऐसी ही आशा आज जीवन का सर्वस्व बन सकती है, साहस और गति ये ही दो तत्व है जो जीवन को आगे खींच सकते हैं। साहित्य का सच्चा उद्देश्य केवल समाज का प्रतिविम्ब ग्रहण कर लेना ही नहीं है, उसे तो उस प्रतिविम्ब में मानव की जहां स्वार्थ, पदलोलुप और घृणित प्रवृत्तियों की छाया पड़ रही है उसे धो देना है।

साहित्यकार यह देखता है कि अमुक समाज में अमुक २ बुराइयां है, वह केवल उन बुराइयों को ही अपने साहित्य में रूप नही देता वरन् उन बुराइयों के आधार की ओर संकेत करके यह भी बतलाता है कि इन्हें दूर करना आवश्यक है। आजका साहित्यक इसी व्यापक धर्म और व्यापक निष्ठा की ओर अग्रसित है। प्रभाकर माचवे ने इसी तथ्य का प्रतिपादन अपने "जैनेन्द्र के विचार" नामक पुस्तक में किया है—

"यदि साहित्य पहले दर्पण के तौर पर सामाजिक अवस्थाओं का अपने में बिम्ब प्रतिविम्ब धारण करता था, तो अब वह कुछ ऐसी वस्तु है जो समाज को प्रतिविम्बबित तो करे, पर कुछ चोट भी दे दे और इस भांति समाज को कुछ आगे बढ़ाने का काम भी करे। साहित्य अब प्रेरक भी है। हमारी बीती ही अब उसमें नहीं है हमारे संकल्प और मनोरथ भी उसमें है। साहित्यकार वर्तमान से अधिक भविष्य में रहता है।" साहित्यकार का यही वास्तविक रूप है। समाज के साधारण वर्ग से ऊपर, साधारण बुद्धि से ऊपर एक निर्देशक की सी बुद्धि रखनेवाला ही एक स्वस्थ साहित्य का सर्जन कर सकेगा। माचवे के शब्दों में ही यदि कहूं कि "अधिकतर साहित्य दुनिया के व्यसन और विकास का सामान देते हैं", तो अधिक उपयुक्त होगा। यदि समाज आदर कर पाता है तो ऐसे ही साहित्यिकों का जो वास्तव में समाज को प्रेरणा देता चलता है। समाज के खुशी और नाखुशी से उसे क्या ? वह तो उसका कल्याण चाहने वाला है। इस प्रकार का साहित्य जो जीवन से सामंजस्य रखते हुए भी उसके कल्याण के लिए सोचता हुआ चलेगा, वही शाश्वत और उपयोगी साहित्य है। यदि समाज इतना प्रगतिशील है जो उसके सन्देश को समझ सके तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसे लाभ होगा परन्तु यदि वह रूढ़ि और परम्परा के बन्धन में इतना अधिक जकड़ा हुआ है कि कोई भी सन्देश सुनने तक को उद्यत नहीं तो उसका कल्याण होना असम्भव है। इतना होते हुए भी एक ईमानदार साहित्यकार का फिर भी यह कर्तव्य होता है कि वह समाज से घृणा, स्पर्धा और अपमान पाते हुए भी उसे अमर संदेश देता रहे, किसी न किसी दिन चेतना आने पर समाज उसके सन्देश की महत्ता समझेगा ही, परन्तु वह सन्देश संकीर्णता लिए हुए न हो यदि उसके सन्देश में उसकी आत्मा का उत्तरोत्तर विकास है युग का आधार है तो वह सन्देश अमर होगा।

आदर्शवाद

यद्यपि आदर्शवाद की सर्वमान्य परिभाषा नहीं है फिर भी उसका स्वरूप जिसके सम्बन्ध में प्रायः सभी लोगों की सम्मति एक सी है, वह चरम उत्कर्ष अथवा सीमा की ओर परिलक्षित है। अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ, ऊब जाने के पश्चात् मानव उस असंतुष्ट परिस्थिति से ऊपर उठी हुई परिस्थिति चाहता है, और उन मनुष्यों के उद्देश्य से ऊँचा उठा हुआ उद्देश्य जिसके साथ उसे संघर्षरत रहना पड़ा है, उसका वही लक्ष्य आदर्श है। आदर्श प्राप्त करने का नहीं केवल सीमा के निश्चय कर देने का है, उसका सम्बन्ध एवं असंतुष्ट परिस्थिति अथवा अधूरी मनोकामनाओं से है परन्तु लक्ष्य इन सबसे दूर तृप्ति एवम् पूर्णता की ओर है। जहाँ आदर्श की प्राप्ति हुई वहीं वह आदर्श यथार्थ हो जाता है, जब तक उसकी रूपरेखा मन में कल्पना या विचार के रूप में है तभी तक उसका स्वरूप आदर्श का है। जहाँ हमारे विचार को वह लक्ष्य प्राप्त हो गया उसी विन्दु से फिर नवीन आदर्श की कल्पना एवम् रूपरेखा प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार से आदर्श का स्वरूप स्थापित करते हुए हम उस निष्कर्ष पर आते हैं कि अपनी वर्तमान परिस्थिति से ऊब करके अथवा उसमें अपूर्णता पा करके मानव एक पूर्णता की योजना करता है अतएव—

१. आदर्श में पूर्णता का भाव रहता है।

२. यथार्थ की कड़ुवाहट तथा उसके अभाव ही आदर्श को जन्म देते हैं।

३. मानव समाज की सभ्यता के साथ ही साथ तथा उसके विकास के साथ आदर्श के स्वरूप में परिवर्तन हो गया। अतएव सभ्यता के विकास ने आदर्श के स्वरूप में परिवर्तन ला दिया।

४. परिस्थितियों के अनुसार ही आदर्श की कल्पना की जाती है और इस प्रकार आदर्श के स्वरूप में परिवर्तन एक आवश्यक तथ्य है।

हिन्दी साहित्य में आदर्श के इस स्वरूप का निर्वाह रामायण में हमें देखने को मिलता है। मानस में भगवान राम के चरित्र में हम पूर्ण आदर्श की स्थापना पाते हैं। तुलसीदास के द्वारा राम के व्यक्तित्व में असाधारण रूप विधान तथा अलौकिकता का दर्शन हमें मिलता है। कवि के समय की परिस्थिति ऐसी हो चुकी थी जब पिता और पुत्र राज्य की प्राप्ति के लिए एक दूसरे के रक्त के

प्यासे हो जाते थे। अतएव ऐसे अवसर पर तुलसी ने राम के चरित्र में पिता की आज्ञा का पालन का आदर्श रख करके उस युग को एक नये रूप में मोड़ देने का प्रयास किया। उस समय की परिस्थिति में तो राज्य की प्राप्ति बहुत संघर्ष के बाद भी उचित समझी जाती थी। अतएव उस समय के अभाव में ही एक स्वरूप की कल्पना की और महात्मा तुलसी अपने उस आदर्श को प्रतिपादित करते हुए कह उठे—

"राजीव लोचन राम चले, तजि बाप को राज बटाउ की नाईं।

एक ओर उस समय की परिस्थिति में राज्य की प्राप्ति एक अलभ्य वस्तु समझी जाती थी जिसके लिए बड़े से बड़े नरसंहार हो जाते थे और दूसरी ओर तुलसी का प्रतिपादित आदर्श राम से राज्य को इस प्रकार छुड़वा देता है जैसे एक पथिक पथ में आये हुए वृक्षों और पक्षियों को छोड़ चलता है। इस परिस्थिति में यथार्थ की कड़ुआहट से ऊब करके आदर्श का जन्म हुआ। मानस में दूसरा स्थल जिसमें आदर्श का सम्पूर्ण रूप विकसित हुआ है वह रामराज्य की कल्पना में है।

"मणि दीप राजहि भवन भ्राजहि देहरी विद्रुम मढ़ी"।

कह करके तुलसी अपने स्वप्नों के आदर्श को ही मानस में एक साकार रूप दे पाये हैं। यथार्थ की कड़ुआहट से ऊब कर ही तुलसी का कवि कह उठा होगा।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवस नरक अधिकारी॥

अतएव यह स्पष्ट हो गया कि यथार्थ की कड़ुआहट को झेलते-झेलते प्रतिभाशाली व्यक्ति एक ऐसी महान कल्पना करता है जिस कल्पना में उस यथार्थ का दुख न हो। चतुर्दिक एक आनन्द की ही व्याप्ति हो। तुलसी का राम - राज्य एक आदर्श की स्थापना करता है, जिसकी पृष्ठ भूमि में कवि के समय की राज्य व्यवस्था का अभाव ही रहा है।

बदलती हुई राज्य की परिस्थितियाँ, उसके आदर्श में भी परिवर्तन ला देती हैं। आदर्श का स्वरूप, उसकी मान्यताएँ इन्हीं परिस्थितियों के साथ बदलती रहती हैं। हम रामायण और महाभारत नामक महाकाव्यों को लें इन महाकाव्यों में सम्पूर्ण युग की समस्याओं को सुलझाया गया है। वही महाकाव्य सफल महाकाव्य माना जाता है जिसमें मानवजीवन की समस्यायें अधिक से अधिक आ गई हों और वह सक्रिय होकर उन समस्याओं का निदान प्रस्तुत कर रहा हो। तुलसी का मानस उस समय की फैली हुई दुर्व्यवस्था-सदाचारी और अत्याचारी का संघर्ष, आर्य और द्रविड़ों की संस्कृति का समन्वय आर्यों के जीवन-यापन का एक आदर्श ढंग इन सभी पर प्रकाश डालता है। 'मानस' में राम और रावण दो विभिन्न संस्कृतियों के प्रतीक हैं। जिसमें एक सदाचारी है, बलवान है और अपनी शक्ति का सदुपयोग करता है और दूसरा भी शक्तिशाली है, सभी सुख उसे सुलभ हैं, साधनवान है परन्तु अपने व्यवहारों में वह अराजक है, अपनी शक्ति का दुरुपयोग

सन्तों को सताने में करता है—सीता ऐसी सती साध्वी का हरण कर लाता है ऐसे दो भिन्न-भिन्न आचरण के व्यक्तियों का चित्रण है। इस प्रकार से मानस में हम यही पाते हैं कि परिस्थितियों के यथार्थ रूप का चित्रण कर उस अराजकता को तुलसी ने मिटाने के लिए निदान प्रस्तुत किया है। इस प्रकार से एक राज्य की बदलती हुई प्रवृत्ति ने नए आदर्श को जन्म दिया है। हिन्दू राज्य समाप्त होने के पश्चात् मुगलों के शासन काल का प्रारम्भ हुआ। यह निर्विवाद है कि हिन्दू राज्य काल की समस्याओं तथा मुगलों के राज्य की समस्याओं में आधारभूत अन्तर था। उसी बदले हुए युग की तस्वीर एक ओर तो यथार्थ को जन्म देती है, और दूसरी ओर यथार्थ के आभावों से प्रसित उस युग का प्रतिभाशाली चिन्तक अपने विचारों द्वारा नवीन सिद्धान्तों को जन्म देता है। उसका वही नवीन सिद्धान्त आदर्श बन कर हमारे समक्ष आ जाता है।

अब दूसरा प्रश्न रहा कि महाकाव्यों के अतिरिक्त खण्डकाव्यों में आदर्श की स्थापना कहाँ तक सम्भव हो पाती है। महाकाव्य तो नायक के सम्पूर्ण जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है और कवि उस नायक के अखिल जीवन का वर्णन करता है और ऐसी परिस्थितियों में डाल देता है जिन परिस्थितियों में वह स्वयं (कवि) होकर जा रहा है। नायक का निर्माण, उसके चरित्र का गठन स्वयं कवि अपने आदर्शों के आधार पर ही करता है। इसीलिए यदि यह कहूँ तो अधिक सत्य है कि कवि स्वयं नायक होता है। नायक के आदर्श, उसकी विवेचना स्वयं कवि की आन्तरिक प्रवृत्तियों की विवेचना है। महाकाव्यों में तो उसे फैला हुआ जीवन मिलता है और परिस्थितियों का गुम्फन, उसका उतार चढ़ाव, उन सभी को कवि अपने रूप में, अपने ढंग में रखता हुआ उसका निदान प्रस्तुत करता है। खण्डकाव्यों के कवि को उतना विस्तृत मार्ग नहीं मिलता है। जीवन का केवल एक अंश, केवल सीमित परिस्थितियाँ, उस सीमा में रह करके कवि एक निदान दे बैठता है। इस प्रकार से खण्डकाव्यों में भी आदर्श का निर्वाह हो जाता है। कवि के मन की क्रिया के अनुसार ही वस्तुओं तथा परिस्थितियों का रूप बदलता हुआ दिखलाई पड़ता है। यह तो आदर्श का स्वरूप रहा जिसे भारतीयों ने अपनाया। यूरोप के दो आचार्यों ने भी इसका मूल्यांकन किया प्लेटो और और अरस्टॉटिल ने। प्लेटो तो आदर्शवादी थे मानव जीवन को उन्होंने निकट से देखा, परखा और उसका अध्ययन किया था। उस अध्ययन के आधार पर जो वे विषय बना पाये, वे आदर्श हो गए। इसके ठीक विपरीत अरस्तू ने यथार्थ का पल्ला पकड़ा।[1] इस प्रकार से ये दो धाराये भारत के अतिरिक्त पाश्चात्य देशों

---

1. Plato is an idealist his criticism is based on principles deduced from the study of the life of man. Aristotle is a realist, his criticism is based upon a consideration of the actual literary material which lay before him.

—Principles of Literary Criticism by Worsfold.

में भी प्रचलित थीं, और उनका स्वरूप भी ठीक इसी भाँति था। प्लेटो का आदर्श-वाद बुद्धि पर बहुत कुछ आधारित था। उन्होंने पद पद पर कल्पना को अस्वीकार किया है, भावों का भी उनकी दृष्टि में कोई स्थान नहीं है। प्लेटो ने अपने आदर्श के सम्बन्ध में यही निश्चित किया कि जो तथ्य तर्क अथवा बुद्धि की कसौटी पर न आये वह ग्राह्य नहीं, काव्य का आधार ऐसा ही माना गया, कल्पनाओं को केवल वहीं तक प्लेटो ने स्थान दिया जहाँ तक वह बुद्धि के क्षेत्र में आ सके। अरस्तू प्लेटो से अधिक काव्य, सिद्धान्तों के प्रति उदार थे। उदार इस रूप में कि अरस्तू ने भावों की सत्यता को मान्यता तो दी पर प्रधान रूप से उनके समक्ष काव्यवस्तु का ही स्थान था। काल में probale truth संभव सत्य को उन्होंने स्थान दिया परन्तु कोरी कल्पना जो सम्भव न हो सके आस्तू के लिए काव्य में भी मान्य नहीं थी। हिन्दी के कवि बिहारी की कोरी कल्पनाएँ जो सम्भव न हो सके, नायिका का वह कल्पित स्वरूप जो श्वाँस के बाहर आने पर सात कदम आगे और श्वाँस के अन्दर जाने पर सात कदम पीछे चली जाती है[1], ऐसा वर्णन ऐसी अतार्किक और असम्भव रचनाएँ अरस्तू को मान्य नहीं रहीं। अरस्तू में इस सिद्धान्त का प्रचार हुआ और काव्यकारों ने इसे अपनाया भी। उनका ध्यान Technique of poetry पर अधिक था। इस धुन में औचित्य की चिन्ता कम होने लगी फलस्वरूप अश्लीलता का बोलबाला साहित्य में बढ़ गया। सोलहवीं शताब्दी का साहित्य अश्लील भाव-नाओं का ही साहित्य बन गया और वह इटली जो कि धार्मिक नेता बना बैठा था उसका साहित्य अश्लीलता से भर उठा।

इस प्रकार से आदर्श के रूप में यथार्थ का ही व्यंग सन्निहित रहता है। काव्य-कार अपनी अपनी परिस्थितिओं से ऊब कर जब एक नवनिर्माण करता है तभी पहिले उसकी कल्पनाओं में आदर्श पलने लगता है फिर उसके आदर्श को एक प्रयोग का बल मिल जाता है।[2] संक्षेप में आदर्श का यही स्वरूप है।

---

१. इत आवत चलि जात उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरी सी रहै, लगी उसासनु साथ॥

—बिहारी सतसई।

2. By meams of fancy we are able to understand things more lofty than those of common knowledge, and in them we recognize the idea itself as real. In Art fancy is the faculty of transforming idea into reality.

भक्ति के दार्शनिक स्त्रोत

भक्तिकाल के प्रचारकों में रामानुज का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह बारहवीं शताब्दी के विचारक थे। इन्होंने विष्णु की उपासना का प्रचार किया और शंकर के अद्वैत का खण्डन किया। इन्होंने बतलाया कि मानव आत्मा पूर्ण रूप से ईश्वर का ही रूप नहीं है यद्यपि इन सभी के, उद्‌गम स्थान के रूप में ईश्वर ही हैं, परन्तु आत्मा पूर्ण रूप से ईश्वर ही नहीं है। उसमें उसका प्रतिबिम्ब है अवश्य। आत्मा ईश्वर से ठीक उसी प्रकार से सम्बन्धित है जैसे आग चिनगारियों से। चिनगारी को आग का स्वरूप तो नहीं कहा जा सकता, उसे उसी से निकली हुई अवश्य कहा जा सकता है। उन्होंने सगुण उपासना की ओर अधिक ध्यान दिया और उसका प्रचार करने में भी इनका हाथ रहा। निर्गुण की उपासना का प्रचार करके 'ये ईश्वर को दुरूह और अगम अगोचर नहीं बनाना चाहते थे'। जनता को ईश्वर की भक्ति तक ले जाने का वह पहिला आधार सगुणोपासना को ही समझते थे। अतएव जनता के मस्तिष्क पर जो ईश्वर की दुरूहता के प्रति एक प्रबल भावना बन गई थी उसे इन्होंने उसी प्रकार दूर करने की चेष्टा की। सगुण के प्रचार को साधारण जनता के मध्य इन्होंने इसी लिए अपना लिया क्योंकि निर्गुणियों की गुत्थियाँ तथा उसका दार्शनिक पहलू सभी के लिए उतना सुलभ नहीं हो सकता था जितना विद्वानों के लिए। अतएव रामानुज का यह कदम साधारणीकरण की ओर ही था, जिसके द्वारा साधारण लोग भी अगम अगोचर के स्वरूप को समझ तथा जान लें। भक्ति भावनाओं को किसी प्रकार भी जन साधारण में प्रचलित कर देना, यही उनका उद्देश्य था। युग को भक्ति की ओर मोड़ने में इनका श्री भाष्य भी बहुत अधिक सहायक रहा है।

रामानुज

रामानुज के भाष्य प्रस्तुत करने के पश्चात् शंकर ने भी भाष्य लिखा उन्होंने

केवल इस संसार को माया ही कहा उन्हें इसकी सत्यता पर विश्वास न था।[1] कहने का तात्पर्य यही कि रामानुज ने ही भाष्य की प्रथा का निर्माण किया। भाष्य का निर्माण करना भी उस युग की मान्यताओं तथा आवश्यकताओं के फलस्वरूप था। भौतिक ग्रन्थ तथा उनमें प्रतिपादित विचारों को सर्वसुलभ बनाने के लिए यह माध्यम ही अपनाया जा सकता था। रामानुज ने इस प्रकार से अपने विचारों का प्रचार तो किया ही और उपनिषद पर भी प्रकाश डाला। ये विशिष्टाद्वैत के अनुयायी थे और इसी पर उनका कुछ कार्य भी उपलब्ध है। उस समय वैष्णवों और शैवों का आपसी मत संघर्ष चल रहा था उस संघर्ष को अपनी मीमांसा के आधार पर एक वैज्ञानिक आधार दिया। इस दर्शन का निचोड़ आत्मा को ईश्वर से पृथक मानना नहीं था परन्तु उसके स्वरूप पर ही इन्होंने जोर दिया है। जैसा हम ऊपर कह आये हैं कि आत्मा ईश्वर से ही सम्बन्धित हैं परन्तु सम्बन्ध का तात्पर्य यह नहीं कि वह ईश्वर न का ही प्रतिरूप है। इन्होंने ईश्वर को चित्त और अचित्त से विशिष्ट रूप में माना है। आगे चल करके इनके अनुयायी दो मतो में विभक्त हो गए उनके मत का आधार केवल आत्मा की स्वतंत्रता का ही था। इस मत के अनुयायी भी उत्तर में अधिकतर थे, और जो ईश्वर को सर्वसत्तामान आत्मा की सत्ता पर विश्वास करते थे। उनका प्रचार दक्षिण भारत में अधिक रहा।

रामानुज के विषय में लिखते हुए हम यह ऊपर संकेत कर आये हैं कि इन्होंने शंकर का खण्डन किया। शंकर के विषय में भी यह स्पष्ट कर देना है कि रामानुज आत्मा को स्वतंत्र रूप से मानते थे, शंकर का इनमें यही मतभेद था। शंकर दक्षिण भारत के एक विद्वान थे। इन्होंने अद्वैत का प्रतिपादन किया।[2] जगत को ईश्वर

---

1. He (Shankar) worked out the Vedant Philosophy so as to make it more self consistent than it ever was before. Necessarily in the process certain points became elaborated which give form and character to his interpretation of those the most important is the emphatic declaration that Brahma is impersonal, the equally expressed declaration that the world is not only worthless as compared with Brahma, but it is very true illusion, maya and the position of an illusory personal God the lower Brahma. Brahma as the ruler of the world of Maya and the objects of thesistic worship.

   —The Crown of Hinduism by Farquhar pp. 244

2. Shankar was a Brahman of South India who acquired enormous barmitting commented upon many Vedic Texts and travelled widely to enter into disputationed with the Buddhists within

की छाया माना और वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् फिर साधक के मस्तिष्क में इस संसार की उपयोगिता कुछ ज्ञात ही नहीं होती, इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जगत को ईश्वर की छाया मान कर इन्होंने उपनिषद् के सिद्धान्तों का ही प्रचार किया। इनके सिद्धान्तों का आधार था उपनिषद परन्तु अपनी अनुमति और आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन भी किया। इनके मतानुसार अद्वैत एकेश्वरवाद का ही दूसरा नाम है। ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है। तभी से इनके इन सिद्धान्तों का प्रचार होना प्रारम्भ हुआ। यद्यपि गुप्त काल से ही अपने इष्टदेव की पूजा का वर्णन मिलता है। इष्टदेव से तात्पर्य विष्णु और शिव इन दोनों में से किसी एक की पूजा, उपासना तथा आस्था रखने से है। ऐसे इष्टदेव पर विश्वास करने वाले उपासक केवल एक ही देव को प्रमुखता देते हैं और उन्हीं को सर्वस्व मानकर केवल उन्हीं की उपासना करते थे। इस समय तक आते - आते दोनों उपासकों में बड़ी तनातनी चलने लगी और दोनों अपने ही मतों पर अडिग थे। शंकर ने इस सम्बन्ध में भी अपना मतभेद प्रकट किया केवल एक इष्टदेव को मानकर चलने पर इनका विरोध आधारित था। इन्होंने तो आपस में उसे दोनों मतावलम्बियों में मतभेद के कारण वैमनस्य पैदा हो गया था उसकी तीव्र आलोचना की। कोई भी देववाद हमें पारस्परिक मतभेद अथवा वैमनस्य नहीं बताता। एक देवता पर विश्वास केवल यही संकेत करता है कि एक देवता पर विश्वास करो परन्तु जिस पर तुम्हारी आस्था है उस पर आस्था रखते हुए दूसरों की आस्था को धक्का मत दो। इस प्रकार से भक्तों के बीच जो आपसी मतभेद चल रहा था, वैमनस्य और स्पर्धा ने स्थान ले लिया था, इसका इन्होंने पूर्णरूप से खण्डन किया।[1] इनके विद्यार्थी अथवा

---

a short life of thirty two years. He propounded a system of philosophy known as Adwaitya which believed in the absolute identity of the individual and Supreme being the manifoldness of the world being regarged only as an illusion which disappear with the acquisition of the true knowledge.

—Indian Civilization History of India by
Dr. Ishwari Prasad pp. 240

All worshippers of Vishnu he proclaimed of whatever occupations or tribe annurated by true devotion might share their needs and eat together. He threw down the walls of castes, devotion and called his followers the avadhut as or emancipated who have tried themselves of the bands of ancient prejudice.

—Theism in Medivedial India,
—Carpenter pp. 428.

शिष्य सभी हो सकते थे। जाति, वर्ग भेद, तथा अन्य आर्थिक विषमताओं के रहते हुए भी इन्होंने ईश्वरोपासक को एक ही दृष्टि से देखा। स्त्री पुरुष में भी, भक्ति के क्षेत्र में इन्होंने कोई अन्तर रखा ही नहीं। इस प्रकार से पुरातन काल से जो एक परम्परा चली आ रही थी, जागरुकता के एक झटके से उन्होंने उसका भी खण्डन कर दिया। कार्पेन्टर के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि इनकी शिष्य परम्परा में सभी जाति तथा वर्ग के लोग थे। थीस्मइन मेडीवल इण्डिया में वह एक स्थान पर सङ्केत भी करते हैं कि उनकी शिष्य मण्डली में एक तो नाई था. दूसरा ब्राह्मण तीसरा चमड़े का कार्य करने वाला चौथा एक राजपूत और पाँचवीं एक महिला। उन्हीं के शब्दों से यह स्पष्ट होता है—One was a barber another a Brahman, a third a despised lether worke a fourth a Rajput and fifth an woman इस प्रकार से इन्होंने एक ऐसे संतमत की पुष्टि का उसे प्रतिपादित किया जिसका उद्देश्य जन-जन में जागरुकता और चेतना का प्रचार करना था। जाति-पाँति का बन्धन जो भारत की विशेषकर हिन्दू जाति को पंगु कर रहा था, आपसी मतभेद, ईश्वरोपासना को केन्द्र बनाकर एक सीमा में बँधकर चलने की भावना मानव समाज में प्रचलित हो गई थी संत होने के कारण इन्होंने इन सभी का खण्डन किया खन्डन केवल सैद्धान्तिक रूप में ही नहीं वरन् अपने शिष्य समुदाय से सभी को मिला कर तथा सभी वर्ग के लोगों को ज्ञान देकर एक परम्परा का इन्होंने खण्डन ही नहीं किया वरन् एक मनोवृति को बढ़ावा भी दिया।

रामानन्द

धर्म के क्षेत्र में रामानन्द ने आते आते ही एक नई चेतना ला दी। ये उत्तरी भारत के संत थे और चौदहवी शताब्दी में भक्ति के क्षेत्र में उतरे। चौदहवीं शदी भक्ति के आन्दोलनों के लिए बहुत ही प्रसिद्ध रही है। रामानन्द के समक्ष हिन्दू धर्म को एक व्यापक रूप देने की एक समस्या थी,इसका कारण था इस्लाम धर्म का प्रचार और हिन्दू धर्म की प्रचलित रूढ़ियां। इस्लाम का प्रचार किया जा रहा था और कुछ अंश तक उनके प्रचार में उन्हें सफलता भी मिल रही थी। इस्लाम में सभी जातियों के लोग सम्मिलित हो सकते थे, उसे अपना सकते थे, उसके लिए कोई जाति बन्धन स्वरूप नहीं थी। इसी समय भूत-प्रेत पर भी विश्वास करने वालों का सूत्रपात हो चुका था। ऐसा समय संघर्ष का समय होता है जब सभी प्रचचित धर्मों को मान्यता मिल रही हो, तब रूढ़ियों से मुक्त, युग की आवश्यकता के अनुरूप ही चलने वाला धर्मं पनप तथा फैल सकता है। रामानन्द का पहिला प्रयास आपसी भेद-भाव को मिटाने का ही हुआ। वैष्णव धर्म में ऊँच-नीच का भेद-भाव प्रचलित था, उसी को हटाने में वे सक्रिय रहे। निम्न वर्ग के लोगों को मंत्र भी देना वर्जित था, इन्होंने ऐसे लोगों को मंत्र देना प्रारम्भ कर दिया और उन्हें अपना शिष्य बनाना शुरू किया। यदि यह कदम रामानन्द जी द्वारा न उठाया जाता तो अन्य विदेशी धर्मों के समक्ष वैष्णव धर्म टिक न पाता। इस प्रकार से भक्ति के क्षेत्र में इन्होंने समानता

का व्यवहार रखा। यद्यपि जीवन के क्षत्र में भेद-भाव का वही व्यवहार प्रचलित रहा परन्तु भक्ति के क्षेत्र में इस व्योहार को कम किया जाने लगा।

वे लोग जो अपने को धर्म गुरू कहते थे अथवा समझते थे, रामानन्द जी ने उन्हें भी उपदेश दिया। उस समय की परिस्थिति यह थी कि धर्म के नाम पर पाखण्ड तथा धूर्तता प्रचलित थी। अतएव हिन्दू धर्म की ओर से तथा उसके उपदेशकों की ओर से आस्था हटने सी लगी थी। इन्होंने ऐसे लोगों से यह भी कहा कि वे कम से कम शिष्य अपने पास रखें कम से कम शिष्य रखने की ओर से यही मतलब था कि वे सभी के प्रति एक न्याय कर सके तथा धर्म की शिक्षा दीक्षा वे सभी को तत्परतापूर्वक दे सकें—अतएव कम से कम शिष्य रखने की ओर उनका संदेश परि-स्थितिजन्य तथा अनुकूल ही था। दूसरा कारण यह भी था कि ये लोग उन शिष्यों का निरीक्षण ठीक से नहीं कर पाते थे फल यह होता था ये शिष्य अपनी धार्मिक दीक्षा में अधूरे रहते थे और अपने गुरू के सिद्धान्त एवम् दृष्टिकोण को समाज तथा जनता के बीच ठीक से कह भी नहीं पाते थे। इस प्रकार से वे गुरू का सही प्रति-निधित्व करने के योग्य ही नहीं रहते थे। कम से कम शिष्यों को रखने का यही उद्देश्य था कि सभी शिष्य अपने गुरू के व्यक्तित्व की छाप लेकर जायें। यह तभी सम्भव हो सकता था जबकि गुरू शिष्य दोनों ही जागरूक, कर्मठ एवम् योग्य हों। धर्म क्षेत्र में फैली हुई भ्रान्तियाँ तभी तो दूर की जा सकती थीं जब उनका निरा-करण करने वाला विद्वान भी उतना ही जागरूक एवम् चेतनशील हो। रामानन्द जी का यह कदम सराहनीय रहा।

इनका दूसरा सराहनीय कार्य था अपने सिद्धान्तों का हिन्दी में प्रचार करना। उस समय प्रचार की आवश्यकता तो थी ही और ऐसी आवश्यकता थी जो जन-जन के कानों में गूंज सकें, सभी भाषा भाषी समझ लें, भाषा दुरूहता उनके और धर्म-सिद्धान्तों के मध्य न आये। इसीलिए संस्कृत को हटाकर माध्यम के रूप में हिन्दी को स्थान मिला। सम्भवतः रामानन्द इतने सफल धर्म-प्रचारक न हुए होते यदि उन्होंने उस युग की धमनियों में बहने वाले रक्त का रंग एवम् गति पहिचान न ली होती। जनता के अभावों को जानकर ही जब सुधारक कुछ दे पाता है तो वह सफल होता है। रामानन्द जी के लिए भी यह बात सही उतरती है। इसलिए उन्होंने रामानुज के द्वारा प्रचार किए गए सिद्धान्तों में भी कुछ अन्तर किया। इस अन्तर का आधार भी परिस्थिति जन्य था। उनके सिद्धान्तो का प्रचार केवल गद्य के ही माध्यम से नहीं हुआ। पद्य साहित्य में भी उन्ही के सिद्धान्तों से प्रभावित कवि आए—तुलसीदास और कबीरदास ऐसे कवि अपने विचारों की निधि हिन्दी जगत को उन्हीं के सिद्धान्तों का आधार लेकर दे गए हैं। कबीर ने निर्गुण उपासना की है अवश्य परन्तु उस काव्य में ये लहर इस सुधारवादी की ही है। उनके काव्य में स्वर, जागरूकता तथा चेतना का निर्वाह इन्ही को दीक्षा के फलस्वरूप स्पष्ट दिखलाई

पड़ता है। रामानन्द ने इन्हीं सिद्धान्तों का प्रचार किया, जो कवीर के स्वर में भी स्पष्ट मिलता है। जाति-पाँति का खण्डन, जीवन की सत्यता पर अधिक जोर देना, वाहरी और दिखावटी कार्यों का खण्डन गुरू की महत्ता एवम् उनका गौरव— ये सभी तथ्य रामानन्द जी के ही हैं जो कवीर के काव्य में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त कवीर ने एकेश्वरवाद का भी प्रतिपाद न किया। हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि उस समय के वहुत से ऐसे कार्य हैं जो परिस्थिति और आवश्यकताजन्य हैं विभिन्न मतों के मानने वालों में वैमस्य की धारणा थी, शैव, वैष्णव, राम तथा कृष्ण भक्त भी एक दूसरे का विरोध कर रहे थे—विरोध न भी सही तो वैमस्य तो था ही। आवश्यक यह समझा गया कि ऐसे मत की पुष्टि की जाय जिसके नीचे एक स्वर हो, एक धारणा हो, एकेश्वरवाद इसी रूप में आया। जाति-पाँति का भेदभाव उन्होंने नहीं माना इसके अतिरिक्त 'हरि को भजै सो हरि का होइ' कह कर सभी के लिए उपासना का मार्ग खोल दिया। ईश्वर के हाथ इतने लम्बे दिखलाये गये कि सभी उसके भुजपाशों में आ सकते हैं—वह छूत-छात, जाति-कुजाति से दूर है। तुर्क और अन्य जातियों की ओर भी यह संकेत था। कवीर ने तो हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये एक ही मार्ग और एक ही पंथ वतलाया। उन मिट्टी के वने हुए वर्तनों में ईश्वर की किरणों का ही प्रकाश है। उन्होंने मूर्ति पूजा और गंगा स्नान की भी कोई धार्मिक उपयोगिता नहीं माना है।[1]

कवीर के अतिरिक्त तुलसी भी अपने एक स्वस्थ दर्शन को लेकर जनता के समक्ष आये। रामानन्द ने अपने सिद्धान्तों का यदि हिन्दी में प्रचार किया था तो तुलसी ने भी इसीके अन्तर्गत रामगाथा गा कर जनता को जनता की ही भाषा में सुना दिया। तुलसी के इस विचार का उस समय के समाज ने विरोध भी किया परन्तु रामकथा, आदर्शों और भक्ति के सिद्धान्तों को, सर्वजन सुलभ बनाने का यह प्रयास तुलसी को रामानन्द के द्वारा ही मिला होगा। भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति में समानता तुलसी ने भी स्थापित की है।[2] 'हरि को भजे सो हरि का होई' लिख

---

1. Of what avail is the worship of stone and bathing in the Ganges, if the heart is not pure. Of what avail is the pilgrimage to Mecca, if the pilgrim marches to the Kaba with a decietful and impious heart. Men all saved by faith and not by works, None can understand the mind of God. Put your trust in him and let him do what seemeth him good. Kabir reproached Brahmans and Muslims alike for their barren disputes and asked them to give up their petty pride.

—Society & culture in medeival India
by Dr. Iswari Prasad

२. राम का शवरी के वेर खाना, निषाद को सम्मान देना—आदि ऐसे स्थल तुलसी ने भी व्यक्त किया है जिसमें जाति-पाँति में भेदभाव का खण्डन है, परन्तु भक्ति के क्षेत्र में ही समाज में नहीं।

कर इसी की ओर उनका संकेत है कि भक्ति के क्षेत्र में सभी समान हैं। भक्ति के द्वारा जो भक्त साधारण जनता के ऊपर उठ जाता है फिर उसमें और अन्य भक्तों में अन्तर कैसा ? अतएव भक्ति के क्षेत्र में जाति - पाँति का बन्धन ढीला कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त राम और सीता के कथानक के माध्यम से उन्होने उस युग की क्या आज की भी बहुत सी समस्याओं को सुलझा दिया है। राज्य के प्रति वैराग्य 'तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं।' साधारण सी उक्ति नहीं है। एक आदर्श और संदेश इसके पीछे निहित है। वैराग्य का साधारण जीवन से समन्वय इसी स्थल पर है। तुलसी ने रामानन्दी धार्मिक सिद्धान्तों को काव्य में ढ़ाल कर उन्हें जनता के समक्ष लाने का सफल प्रयास किया है। वह प्रयास केवल आदर्शोन्मुख हो, ऐसी बात भी नहीं जनता के मध्य उसे प्रचलित एवम् मान्य भी बताया गया है। हिन्दी में लिखे होने के नाते जनता अपने आदर्शो को इनके महाकाव्य में ढूढ़ने लगी और उसने बहुत कुछ प्राप्त भी किया।[1]

वल्लभाचार्य

भक्ति के क्षेत्र में रामानन्द के विचारों के पश्चात् हम वल्लभाचार्य द्वारा निर्मित वल्लभ सम्प्रदाय को लेंगे। राम भक्ति शाखा का अब तक खूब प्रचार हो चुका था। रामोपासक धर्म प्रवर्तक राम के अन्दर ही रूप, गुण, शील और आदर्श की स्थापना किये हुए थे। उनके आदर्शो की जनता के समक्ष रख करके वे यही बतलाना चाहते थे कि युग का कल्याण इन्हीं आदर्शों की उपासना करने से है। राम की भक्ति के पीछे शील और मर्यादा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। उनके आदर्शों का मूलाधार तो शील और मर्यादा पर ही आधारित रहा है परन्तु युग के अनुसार उसे निर्वाह करने की परम्परा में परिवर्तन होता गया है, यही कारण है कि बाल्मीकि और तुलसी के वर्णन में अन्तर प्रस्तुत होता गया है वह अन्तर मौलिक धारणाओं एवम् आस्था का तो है ही इसके अतिरिक्त उस समय की प्रचलित मान्यताओं का तथा परम्परा के निर्वाह का भी।

जिस प्रकार से रामानन्द राम की उपासना पर अधिक बल दे रहे थे उसी प्रकार वल्लभ ने कृष्ण की उपासना पर अधिक बल दिया। दोनों की उपासना के विचारों में अन्तर अवश्य था, एक ने शील और मर्यादा को आदर्श बनाया दूसरे ने

---

1. One of the greatest reformers and one of the greatest poets that India has ever produced to the present writers he is in both charcters the greatest. He desdained to found a church and contended himself with telling his fellow men how to work out each his own salvation amongst his own kith and kin.

Sir George Grierson
Imperial Gaz. II p 418

लीला और रास को, यौवन और शक्ति के साथ ही साथ रूप, लावण्य और रास लीला को। वल्लभ दक्षिण के तेलंगाना के ब्राह्मण थे। इन्होंने एक भक्त की सत्ता को ईश्वर की सत्ता के अतिरिक्त कुछ माना ही नहीं है। अपनी सारी वस्तुओं को कृष्णार्पण कर देना ही इनकी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य रहा है।१ कृष्णार्पण का सिद्धान्त ही उनका अपना सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त के पीछे उनकी अपनी यह धारणा थी कि यदि मनुष्य जो कुछ करता है यह समझ कर करने लगे कि वह अपने सभी कार्य चाहे वे जैसे भी हों सभी को कृष्ण (पारमार्थिक सत्ता) को समर्पण करता है तो उन सभी कार्यों के पीछे राग, द्वेष, आकर्षण, विकर्षण आदि की भावनाओं से परे हो जायेगा। वल्लभ का यही संदेश था कि सभी कार्यों को मानव तटस्थ रह करके करे, कार्यों के पीछे राग की भावना अथवा लिप्त रहने की भावना न रहे। इस प्रकार से निलिप्त रह करके कार्य करने की ओर उनका संदेश था निर्गुणियाँ कबीर की भाँति वल्लभ ने भी तटस्थ रहने की ओर संकेत किया है। कबीर यदि एक ओर 'कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुआठी हाथ, जो घर फूंके आपना चलै हमारे साथ।' कह उठते हैं तो दूसरी ओर वल्लभ का कृष्णार्पण भी इसी की ओर—घर फूंकने की ओर—ही संकेत कर रहा है। सारांश यह रहा कि कृष्णार्पण के पीछे व्यष्टि नहीं परन्तु समष्टि के हित की ओर संकेत है। 'मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सब तोर' की भाँति अपनेपन की तिलाञ्जलि ही सर्वश्रेष्ठ है। और जब कवि में अपनेपन का मोह समाप्त हो गया तो वह व्यक्ति के हित से ऊपर उठकर समष्टि के हित तक स्वयं आ गया। भक्ति के क्षेत्र में यह सिद्धान्त अद्वितीय था परन्तु अधिक दिनों तक यह चल नहीं सका—इसके पश्चात् इनके इस सिद्धान्त को प्रचलित करने के लिए कोई उत्तम, सशक्त तथा तार्किक प्रचारक रहा नहीं। उनके पश्चात् उत्तराधिकार का भार आया उनके पुत्र विश्वनाथ जी पर—इनके अनुयायी उतने पटु और अपने प्रति उतने विश्वासी नहीं रहे, फलतः वल्लभाचार्यजी के पश्चात् उनका धर्म-संदेश उतना सशक्त नहीं हो पाया।

वल्लभ ने अपने विशिष्ट दर्शन एवम् सम्प्रदाय के द्वारा अपने युग की धार्मिक समस्या को जिसमें विशेष कर सगुण और निर्गुण का झगड़ा था, हल करना चाहा ईश्वरोपासना के दो रूप—सगुण और निर्गुण तथा दूसरा शैव तथा वैष्णव का झगड़ा चल रहा था। वल्लभ क्या इस समय के सभी प्रचारक अपने तर्क के द्वारा इसे दूर

---

1. He asked his followers to offer everything in the service of Lord Krishna. The formula of dedication which every disciple had to utter meant that everything was to be dedicated to Krishna.

–Society and Culture
Med. India pp. 480.
Dr. Iswari Pd.

करने में संलग्न रहे। वल्लभ ने दोनों को दो रूप बता कर इस विवाद को समाप्त करना चाहा, इन्होंने भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति का बन्धन स्वीकार नहीं किया है। जहाँ तक लौकिक जीवन का पक्ष है वहाँ तो ये जाति पाँत को समूल नष्ट नहीं कर पाये वस्तु भक्ति के क्षेत्र में भक्ति की ही प्रधानता मानी, जाति का बन्धन गौण रूप से। जात-पाँत के अतिरिक्त स्त्रियाँ की समस्या भी उस समय जटिल थी। स्त्रियाँ भक्ति की अधिकारी.नहीं मानी जाती थी, इस सम्प्रदाय ने भक्ति के क्षेत्र में उन्हें भी वही स्थान दिया जो पुरुषों को। गोपियाँ, राधा आदि का रूप कृष्णभक्ति में अपना एक विशिष्ट महत्व एवम् स्थान रखता है। इस प्रकार से भक्ति की वह दुरूहता तथा हठयोग का वह हठीलापन जो भक्ति मार्ग में एक जटिल रूप लेकर आ गया था, लीला का निर्माण कराके तथा गोपियाँ एवम् राधा को कृष्ण की विशेष अनुरक्त भक्त बना कर भक्ति की वह दुरूहता इनके द्वारा समाप्त कर दी गई। इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में एक नवीन अध्याय इनके द्वारा जोड़ दिया गया।

वल्लभाचार्य की मृत्यु के पश्चात् जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं उनका यह सम्प्रदाय ढीला पड़ने लगा। विट्ठलदास के अनुयायी अष्टछाप के नाम से जाने गए, अष्टछाप का तात्पर्य आठ सीलों से होता है। इनके सिद्धान्तों के आठ प्रमुख प्रचारक थे। वल्लभ जी ने जो सिद्धान्त तथा दर्शन स्थापित कर दिया था कवि उन्हीं को गाकर जनता के मध्य उनका प्रचार किया करते थे। इन आठ प्रमुख प्रचारकों में सूरदास जी का प्रचार उल्लेखनीय है। सूरदास जी व्रजभाषा के माध्यम से अपनी भक्ति-भावना का प्रचार किया करते थे। सूर ने राधा और कृष्ण दोनों की समान रूप से उपासना की। राधा और कृष्ण को क्रमशः प्रकृति और पुरुष के रूप में वे जनता के मध्य लीला के माध्यम से लाने में सफल हुए। दूसरे विवाद ग्रस्त विषय को भी सूरदास जी ने बड़ी मार्मिकता के साथ स्पर्श किया है। निर्गुण और सगुण का विवाद उस युग के प्रमुख विवादों में से था। सगुण का दार्शनिक पहलू जो हो परन्तु सूरदास जी ने उसे 'सब विधि सुगम' समझ कर अपना लिया। कृष्ण को इन्होंने भी युग-नायक के रूप में लिया, उनके अन्दर प्रतिभा और शक्ति की स्थापना करके इन्होंने उनकी उपासना का भी तर्कपूर्ण समर्थन किया है। लीला के पदों की रचना करके ये स्वयं तो उसे गाते ही थे इसके अतिरिक्त इनके शिष्य भी उसे सस्वर गाते फिरते थे, इस प्रकार साधारण जनता में सगुणोपासना का प्रचार करके तथा निर्गुण को नीरस तथा उतना सर्वजन सुलभ न बता करके सगुण के पक्ष को प्रबल कर दिया। कृष्ण की बाल लीला पर इन्होंने अधिक जोर दिया था। सम्भवतः रूप इन्हें अधिक प्रिय था। बाल रूप में ही समस्त विकासशील शक्तियों का निवास मान लिया गया है। सत्, चित और आनन्द की स्थापना सूर ने बालकृष्ण में ही कर दिया है। स्थापना का तात्पर्य यही कि ये तीनों तथ्य उनमें बीज रूप से वर्तमान रहे हैं जो समय पाकर उनके व्यक्तित्व का अंग बन करके फले फूले हैं। सूर

ने भक्ति के क्षेत्र में गोपिकाओं को प्रमुख स्थान दे करके स्त्रियों की भक्ति समस्या का निदान तो किया ही दूसरी ओर उन्हें शक्ति का प्रतिरूप भी मानकर एक इकाई और जोड़ दी है।

अन्त तक आते-आते वह सम्प्रदाय दो भागों में विभाजित हो गया एक ओर कृष्णोपासना और दूसरी ओर राधा की उपासना करने वाले लोग हो गए। यहीं पर आ करके पुरुष और प्रकृति की समन्वयवादी भक्ति-पद्धति की यह शृंखला झनझना कर टूट गई जिसकी लड़कियों को जोड़ने में वल्लभ का हाथ रहा है और अष्टछाप के सभी कवियों ने इसी भक्ति-पद्धति की समन्वयवादी पद्धतियों में अपने-अपने तर्क की गांठ मजबूत की थी। इसी समय 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' भी लिखी गई और राधावल्लभ- सम्प्रदाय की नींव दी गई। हरिवंश के द्वारा प्रकृति को ही प्रधान रूप देकर वे राधा सम्प्रदाय के अनुयायी प्रकृति के द्वारा पुरुष तक आना श्रेयस्कर मानते थे। इस प्रकार से वल्लभ सम्प्रदाय में भी दो दल हो गए। भिन्नता का आधार था विचारों की विषमता—पुरुष और प्रकृति को एक सूत्र में बांध कर न पूजना परन्तु दोनों को विभिन्न रूप से देखना था। पुरुष की प्राप्ति प्रकृति की उपासना के पश्चात हो सकती है, यही उनका सिद्धान्त था।

इस प्रकार से भक्ति काल के प्रमुख विचारकों के सिद्धान्तों एवम् मान्यताओं का चित्रण करने का यहाँ यही उद्देश्य रहा कि इन्हीं की चिन्ताधारा को लेकर भक्तिकालीन कवि अग्रसित हुए। कबीर, तुलसी तथा सूर के स्वर के पीछे इन्हीं विचारकों की ही अनुभूतियाँ एवम् वाणी का सबल आधार बोल रहा है जिससे उस समय हिन्दू समाज को शाश्वत प्रेरणा मिली और आज भी आपत्ति एवम् अभाव के क्षणों में उद्विग्न मानव इन्हीं सन्देशों को दुहराकर एक नवीन स्फूर्ति, चेतना तथा प्राण प्राप्त कर लेता है।

दिनकर का व्यक्तित्व और उनका काव्य

दिनकर का व्यक्तित्व उस अंगार की भाँति है जिस पर इन्द्र धनुष खेल रहे हैं। उन्होंने यौवन की शीतल छाया के नीचे विश्राम भी किया है, उद्वेगपूर्ण गीत भी गाये हैं, और यही व्यक्ति का उद्रेक समष्टि में क्रान्ति बन गया। यदि एक ओर वह दार्शनिक हैं तो दूसरी ओर शान्तिमयी सेना के सेनानायक। समय की शिला से टकरा कर उनमें एक जागरुकता आ गई है। यदि 'रसवन्ती' में वे यौवन के उद्दाम वेग को रोक नहीं पाये हैं तो 'हुंकार' में यथार्थ में देश को जगाने के लिए एक हुंकार है, पुकार है जो इतनी सबल है कि सुप्त प्राणियों को भी जगा सके। आज के युग के कृषकों के आर्तनाद और क्रन्दन को ये पूर्ण रूप से सुन सके हैं। इसको सुनकर वे उसे दबा नहीं सके, वे उद्विग्न होकर पूँछ उठे——

पूँछे सिकता कण से हिमपति,
तेरा वह राजस्थान कहाँ,
वन - वन स्वतन्त्रता दीप लिए
फिरने वाला बलवान कहाँ।।

अतीत भारत के प्रति भी कवि अधिक सहानुभूति दिखलाता है। उसका प्रत्येक रोम - रोम अपने देश का है और वह अपने देश पर ही मुग्ध है उसकी यह दशा देख कर उसके मुख से हठात निकल ही जाता है——

ओरी ! उदास गाण्डकी बता,
तू विद्यापति के गान कहाँ।
वैशाली के भग्नावशेष तू बोल।
लिच्छवी शान कहाँ।।

कवि लिच्छवी शान तथा विद्या पति के गान को एक बार फिर से सुनना चाहता है। ऐसी सुन्दर तथा गौरवपूर्ण वस्तुओं के प्रति वह अपनी आस्था त्याग नहीं पाया है।

कवि ज्यों - ज्यों प्रौढ़ता को प्राप्त होता जा रहा है त्यों-त्यों वह कल्पना के क्षत्र से हटता जा रहा है।

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अब समष्टि की ओर चलता है और उनकी भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता का विकास हो रहा है। वाह्य सौन्दर्य में से वे इतना अधिक नहीं रीझ सके हैं जितना कि आन्तरिक सौन्दर्य उन्हें रिझा सका है।

अपनी कविताओं के मूलभाव में सौन्दर्याङ्कन करते समय सौन्दर्य की अवहेलना उनके द्वारा नहीं की गई है।

वे क्षयी कल्पना से खेले अवश्य हैं परन्तु उसका आलिंगन नही कर सके, वे उसके निकट होते हुए भी अपना सामञ्जस्य उससे नहीं कर सके। सुन्दरता (भौतिक) को तो वे शाप कहते हैं :—

सुन्दरता पर कभी न भूलो
शाप बनेगी वह जीवन में।
लक्ष्य विमुख कर भटकायेगी,
तुम्हें व्यर्थ फूलों के वन में॥

अतः कवि ने सुन्दरता का स्थान अपने जीवन में विशिष्ट रूप का रखा है वह केवल स्वप्नों से न खेल कर यथार्थ का भी अनुभव करते हैं। 'मिट्टी की ओर' नामक पुस्तक में उनका स्वयं का दृष्टिकोण कुछ ऐसा ही है। सौन्दर्य के प्रति उनका आकर्षण तो अवश्य है, (क्योंकि वह स्वाभाविक है) परन्तु सौन्दर्य उनके कर्तव्यों को भी आच्छादित नहीं कर लेता। सौन्दर्य के साथ ही साथ वह असुन्दर जगत की ओर भी ध्यान रखते हैं। उनके अपने शब्द हैं—

"सौन्दर्य सृष्टि के लिये कला को ऐसी कल्पना की आवश्यकता है जो उन्मुक्त हो जिस पर विधि या निषेध के कठिन बन्धन नहीं हो। कल्पना की यह रोमांटिक धारा अपने नियमों का अनुगमन करना चाहती हैं। उसे बाहर के अनुशासन या दमन सह्य नहीं है। उपमा की नपी तुली रस्सी उसे बांध नहीं सकती। यमक की कोरी मधुरता उसे रिझा नहीं सकती।"[1]

कवि की दृष्टि में, यमक आदि की मधुरता ही काव्य में जीवन नहीं ला सकती। सजीवता लाने के लिये तो कवि की आन्तरिक अनुभूति है जो उसे अन्त-स्तल को भेद कर निकली।

ऐसी ही भावना कवि के गीतों में आ, गीतों को चमत्कृत कर देती है। दिनकर के 'हाहाकार' अथवा 'रेणुका' में ऐसी ही गीतों की प्रधानता है। अतएव वे इस स्थल पर सफल कवि माने जा सकते हैं। उनकी कविता का प्रत्येक शब्द बोलता है। चित्रों में सजीवता और प्राकृतिक तथ्य का निरूपण बहुत अधिक मात्रा में हो पाया है। अतएव ऐसे ही स्थल काव्य में देखे जाते हैं जहाँ कवि की मौलिकता का यथार्थ रूप से संतुलन किया जाता है। वह पूर्ण रूप से भावना से ओत-प्रोत कवि हैं जहाँ कहीं भी अथवा जिसके प्रति भी उनकी जो भावना हृदय में बसी हैं।' उसे वह उसी रूप में व्यक्त कर पाये है, उसे वह दबा अथवा छिपा नहीं सके हैं। कवि की समस्त कृतियों में यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन्हीं मनोवृत्तियों के अनुसार अथवा युग के अनुसार इनकी भावनाओं में अन्तर दिखलाई पड़ा। मनोवृत्तियों की दृष्टि से इन

---

१. मिट्टी की ओर पृष्ठ ४८

की कवितायें तीन भाग में विभाजित की जा सकती हैं। पहली वे प्रारम्भिक रचनायें जो अधिकांश कल्पना प्रधान हैं और जिसमें कवि का भावुक हृदय बोल रहा है। दूसरे भाग में इनकी दार्शनिक रचनाएँ आ सकती हैं—इनका दार्शनिक पक्ष भी बड़ा मौलिक है। अन्त में उनके राष्ट्रीय गीतों को एक पृथक स्थान दिया जा सकता है। इसी के अन्तर्गत हम इनके सामाजिक गीतों को भी ले सकते हैं जिसमें समाज के स्तम्भ कृषक मजदूर क्या अन्य दलितवर्ग के लोगों का चित्रण हुआ है। इसका सामाजिक पक्ष तो यहाँ गीतों में बिखरा हुआ मिलता है। कवि का भावुक मन जो कि समाज की दुर्व्यवस्था से ही घायाल हो गया है, इन गीतों में एक पुकार करता हुआ दिखलाई देता है। यथार्थ में कवि द्वारा सामाजिक चित्रण बड़ी ही सुन्दर रीति से हो पाया है। वह यथार्थ की भूमि पर खड़ा है—वहीं से वह कृषकों का रुदन तथा मजदूरों की क्षीण दशा को देख रहा है। एक ओर तो वह इन विभीषिकाओं को देखता है, दूसरी ओर वैभव की प्रतीक अट्टालिकायें, उनमें मदिरा का उल्लास तथा दानवता का नंगा नृत्य। कवि इन्हीं भावों में डूबता उतराता आगे बढ़ता है। उनके ऐसे समाज के प्रति किसी की क्या भावना हो सकती है, तथा इस आधार पर समाज कब तक जीवित रह सकता है यह तो सोचने की ही वस्तु है। इसमें परिवर्तन होना आवश्यक है।

कवि का प्रथम चरण गीति काव्य में ही पड़ा है। वह भी अन्य कवियों की भाँति वासना के गीत गाता हुआ सूनी डगर पर चला है। उसने अपने ग्रन्थों में कल्पना से भी खेल किया है। उसने एक दिन सोचा अवश्य था कि कल्पना ही जीवन को सतरंगी रंगों से रंग देती है। इस लिए वह मर्माहित हो सूनसान की संगिनी को ढूंढ सका :—

> **अयि ! संगिनी सूनसान की।**
> **तुम जागती दिन रात हो, दिन हो कि आधी रात हो**
> **मैं जागता रहता विकल मञ्जीर कि आहट मिले।**
> **मेरे कमल वन में उदय, किस काल पुण्य प्रभात हो।**

कवि में आज भी इस रंगीन कल्पना की मूर्ति जागरूक है। 'दिनकर' के इस पक्ष को देख-करके हम यह कदापि नहीं कह सकते कि उनमें इसके विपरीत पक्ष अर्थात ओजस्वी भावनाओं का अभाव होगा। कवि भी तो मानव है। उसके भी हृदय है—वह भावुक है अतः वह जागता रहता है, 'विकल मञ्जीर की आहट मिले' इसी बात की सूचना देता है। 'रसवन्ती' की भूमिका में कवि का लिखने का तात्पर्य ही कुछ ऐसा ही है। उसने लिखा है कि मनुष्य के हृदय में दोनों पक्ष रहा करते हैं। पहाड़ यदि जलता है तो उसके नीचे हरियाली रहा करती है, उसकी तपन को मिटाने के लिए लहलहाती हरियाली, अथवा द्रुमों की छाया की भी आवश्यकता होती है। कुछ ऐसा ही चित्र 'रसवन्ती' में खींचा गया है। कहने का तात्पर्य यही कि दिनकर में भी कल्पना की उड़ान है, रंगीनिया है परन्तु वह उसी में पूण रूप

में लीन नहीं है। यदि वह एक ओर कल्पना से खेलता है तो दूसरी ओर यथार्थ के सूक्ष्म तत्वों में भी उलझता हुआ दिखलाई देता है।

इस प्रकार 'रसवन्ती' का कवि गीतों में भावुकता का समावेश अधिक कर सका है—इसमें उसके हृदय की अधूरी साधना है।

कवि का दूसरा पक्ष दार्शनिक पक्ष है। उनकी कविताओं में दार्शनिक भावनाओं का तो एक अपना अलग ही स्थान है। जहाँ भाषा की क्लिष्टता है वहां भाव भी उतने ही गहरे हैं। कवि ने संसार की कल्पना—नश्वरता लिए हुए की है। वह समझता है कि संसार अपनी गति से चला करता है, मानव की चाहें इसमें अधूरी ही रह जाती है। देखिये कितने सुन्दर ढंग से यह वर्णन हुआ है।

मृत प्रस्तर मेघों का पुंज,
लिये मैं देख रहा हूँ राह,
कि शिल्पी आयेगा जिस रोज,
पूर्ण करने को मेरी चाह ॥[1]

ऐसे क्षण की प्रतीक्षा एक दार्शनिक कवि के लिए स्वाभाविक ही है। जीवन के भार को ढोता हुआ मानव यह देख रहा है कि उसकी चाह पूर्ण करने के लिये शिल्पी (भगवान) कब अवसर देगा। उसे इस जीवन में तो आशा नहीं वह, इसके उपरान्त ही मिल सकता है। कहीं-कहीं तो उसे हम सोच करते हुये पाते हैं। वह जानता है जो कहने के लिए ईश्वर ने उसे भेजा था वह उसे ठीक प्रकार से कह न सका —

धरती से व्याकुल आह उठी, मैं दाह भूमि की सह न सका।
दिल पिघल-पिघल उमड़ा, लेकिन आँसू बन कर वह बह न सका ॥
जो कुछ मैं कहने आया था, वह भेद किसी से कह न सका।[2]

इस प्रकार से कवि के हृदय में द्वन्द चल रहा है। वह जानता है कि अभी उसे अज्ञात के संदेश को कहना है, परन्तु स्वयं उसकी वाणी में इतनी शक्ति कहां जो कह दे। जीवन के प्रति उसका अपना सिद्धान्त है। उसे रूप, कुरूप, जीवन के कुछ क्षणों की देन दिखलाई देता है तभी तो—

अचेतन मृति अचेतन शिक्षा,
रूक्ष दोनों के वाह्य स्वरूप,
दृश्य पट दोनों के श्री हीन,
देखते एक तुम्हीं, वह रूप।
जो कि दोनों में व्याप्त विलीन ॥
ब्रह्म में जीव वारि में बूँद
जलद में जैसे अगणित क्षीण।

---

१. १ तथा २ छंद गीत—दिनकर
हिमालय—कविता से दिनकर।

कवि यहाँ पर एकमेव सत्ता की ओर संकेत कर रहा है, उसकी कुशल तूलिका से ब्रह्म का रूप रंगकर सतरंग हो गया है। जीव तथा ब्रह्म का अस्तित्व पृथक नहीं, दोनों में एक घनिष्ट सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा कि जल से बूँद का है। बूँद की सत्ता, अपना आधार जल पर ही रखती है। इसलिये रूप को दोनों में व्याप्त दिखलाया गया है। कबीर की भाँति आपका ब्रह्म भी सबमें, सब स्थानों में, व्याप्त दिखलाया गया है।

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढ़े बन माहि।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनिया देखै नाँहि॥

दिनकर ने भी इसी का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म भी दोनों में व्याप्त है। दोनों से तात्पर्य अचेतन तथा चेतन से है।

अन्त में 'दिनकर' का रूप प्रगतिवादी भावनाओं में कितना निखरा है, इसे भी हमें देखना है। परिस्थितियों के साथ-साथ भावनाओं का अन्तर हुआ, और भावनाओं के साथ विचारों में भी अन्तर होना स्वाभाविक था। कवि अपनी 'रसवन्ती' से 'हाहाकार', में बिल्कुल बदला हुआ दिखलाई देता है। हाहाकार में वह भूखों, नंगों का कवि है। उसमें उसकी कविताओं का विषय कृषक, ग्राम बधूटियाँ तथा समाज के निम्न कोटि के नहीं रह सके हैं। वह कल्पना से यथार्थ की ओर मुड़ा। कंगालों की दशा देख कवि को सचमुच ही बड़ा दुख हुआ, उसे वह शब्द देना चाहता है। उसे ध्वंस में एक सच्ची झलक दिखलाई देती है—

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
रे तपी! आज तप का न काल।

आज मौन साधना का समय नहीं, आज तो संसार उसी को जानता है जो नाद करता है। अतएव तू भी सिंहनाद कर, ऐसा कवि का संदेश हिमालय को है। हिमालय को उसने एक तपी की उपमा दी है जो अपने व्रत में मौन, अपनी तपस्या में लीन खड़ा है। परन्तु तपस्या—और ऐसी तपस्या जीवन में नहीं काम देगी। आज तो सिंहनाद की आवश्यकता है जो यथार्थ में बतला दे कि तुझमें क्या शक्ति है। कवि को समय का पूर्ण ध्यान है। उसकी एक ठीक-ठीक रूप रेखा उसके मस्तिष्क में खीच दी गई है। समय का सुन्दर वर्णन देखिये—

शोणित से रंग रही शुभ्र पट,
संसृति निठुर लिए करवाले,
जला रही निज सिंह पौर पर,
दलित दीन की अस्थि मशाले।[१]

अतएव ऐसी अवस्था में, जब दलितों के रक्त चूसे जा रहे हों, तब एक क्रान्ति की आवश्यकता होती है। उसने इस समाज की गहराइयों में जाकर देखा है कि

[१] बन ।

वह कितना खोखला है। ऊपर से जो उसका रूप है नीचे से नहीं, उस पर तो एक प्रकार का आवरण सा चढ़ा दिया गया। वैभव के बल पर तो समाज न मालूम क्या-क्या करा लेता है। यदि कोई वैभवशाली है तो उसका पाप भी पुण्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है। एक चित्रण देखिये —

वैभव के बल में जब समाज के,
पाप, पुण्य हो जाते हैं,
धनहीन पुण्य को स्पर्श नहीं,
जब ईश्वर भी कर पाते हैं।

तब पाप पुण्य की परिभाषा कैसी। जब उसकी महत्ता धन पर ही निर्भर करती है तो धन ही सब कुछ है। अतएव एक निर्धन पापी बनकर इस जगत में आया ही है। यथार्थ में जीवन विराट है, जीवन महान है, इस प्रकार से वर्ग भेद के द्वारा बांटा नहीं जा सकता। आज के युग में तो सब,

मानव मानव है समान,
जगती में गूंजे यही गान।

इसकी उपासना हो रही है। पाप एक दरिद्र के द्वारा हो अथवा एक पूंजी-पति के द्वारा वह उसका भागी अवश्य होगा। यदि राष्ट्र को जीवित रखना है तो हमें यह भेद को मिटाना होगा। आज का समाज पाप का दण्ड स्वयं न देकर एक अज्ञात सत्ता की ओर संकेत करके कहता है कि वह ही उसे दण्ड दे देगा। समाज की यह प्रवृत्ति क्षीण शक्ति को बतलाती है। इसमें तो स्वयं इतनी शक्ति नहीं रही जो पापी को समुचित रूप से दण्ड प्रदान कर सके, तब वह उस सत्ता की ओर संकेत कर लेता है। आज का कवि उस देवता पर विश्वास नहीं करता जो धनवानों को तो और धन देता है परन्तु गरीब के बच्चे को पीने के लिए दूध भी नहीं देता। इसी चित्र को दिखाते हुए कवि को ऐसे भगवान की ओर से विश्वास नही होता, तभी तो वह कहता है—

दूध-दूध ओ वत्स, मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं।
दूध-दूध सारे बोले, इन बच्चों के भगवान वहाँ हैं॥[१]

अतएव ऐसे भगवान के प्रति कवि को विश्वास नहीं। उन्हें तो ऐसा भगवान चाहिये जो मानव को मानव कर दे। कवि को अपने अतीत की ओर से बड़ा ही प्रेम है। अतीत की ओर ध्यान जाते ही वह कराह सा उठता है। उन्हें अपने खोये वैभव की याद आ जाती है वह हतभ्रम हो अपनी बीती स्मृति को मस्तिष्क में दुहरा लेते हैं। सुधांशु के शब्दों में—

"जिस दिन उसके हृदय में हिमालय फूटा उसी दिन से उनकी प्रतिमा ने एक नई दिशा की ओर अपनी गति की। अतीत गौरव की सृष्टि तथा खण्डहरों के प्रति

---

१. विपथगा—दिनकर।

दिनकर' ने जिस भावुकता का परिचय दिया वह अप्रतिम है। अन्त में हम हिमालय दिनकर की कविता का मेरुदण्ड है यही कह कर संतोष करते हैं।"[1]

यथार्थ मे यदि देखा जाय तो यह वाक्य ठीक ही प्रतीत होता है। हिमालय शीर्षक कविता मे कवि ने अपनी समस्त भावनाओ को सञ्चित कर दिया है। उसके हृदय मे— मेरे नगपति ! मेरे विशाल !!

के प्रति कितनी आत्मीयता है। उसी आत्मीयता के कारण ही, उसका नष्ट हुआ वैभव उसे कष्ट देता है। उसके हृदय में एक पीड़ा का अनुभव होता है। मिथिला के प्रति शोक प्रकट करता हुआ कवि उसे भिखारिणी कह कर सम्बोधित करता है—

पैरों पर ही है पड़ी हुई,
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूँछ कहाँ इसने खोई,
अपनी अनन्त निधियाँ सारी।
रे कपिलवस्तु कह बुद्ध देव के,
वे मंगल उपदेश कहाँ ॥

केवल इतना ही कहके कवि आत्म विभोर हो जाता है। मिथिला जो कि एक दिन अन्यन्य राशि की सिद्धि थी, जिसमें वैभव के अगणित दीप जला करते थे—वह आज भिखारिणी हो गई है। अपने धन राशि को लुटा कर आज वह दीन है। यही नही बुद्ध देव के गान भी जो शान्ति का उपदेश देते थे, वे सब जाने कहाँ सबके सब विलीन हो गए हैं। नियति ने सबको परिवर्तन चक्र में लाकर बदल डाला है। इसी लिए कवि की अन्तर्दृष्टि उसे देख भी लेती है। वह उसे देखकर विकल हो जाते हैं। कविता लिखते-लिखते वह आत्म-विभोर होकर कहदेते हैं, परन्तु उसे गान अपने अतीत के ही याद हो जाते हैं। उदाहरण के लिए—

कलम उठी कविता लिखने को,
अन्तस्तल में ज्वार उठा रे,
सहसा नाम पड़ा कायर का
पश्चिम पवन पुकार उठा रे।

उसकी कलम उठी थी कुछ दूसरा ही लिखने को, परन्तु वह अपनी उबलती हुई भावना को दबा कैसे लेता, तभी तो उसने—

देखा शून्य कुँवर का गढ़ है,
झाँसी की वह शान नहीं है,
दुर्गादास प्रताप बली का—
प्यारा राजस्थान नहीं है ॥

कह कर संतोष किया।

---

१. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त—सुधांशु।

कवि की दृष्टि झाँसी तथा राजस्थान पर पहुँच गई। उसने वहाँ की प्रत्येक वस्तुओं को उलट पुलट कर देखा। ऐसी भावनाओं का चित्रण उनके अधिकांश रचनाओं में मिलता है। यही तो दिनकर की सफलता का कारण बन गया है। किसी भी वस्तु का वर्णन वे कर रहे हैं, उसमें उनके अन्तर की यह चीत्कार स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। नई दिल्ली शीर्षक कविता का उदाहरण लीजिए—

आहें उठी दीन कृषकों की,
मजदूरों की तड़प पुकारें,
अरी गरीबों के लोहू पर,
खड़ी हुई तेरी दीवारें,
कृषक मेघ की रानी दिल्ली ॥

दिल्ली का वर्णन करते-करते इन पंक्तियों में कवि, मजदूरों तथा कृषकों की पुकारों पर चला गया। उसे दिल्ली का वैभव, उसी गरीबों के लोहू से सना हुआ दिखलाई देने लगा। अन्त में कृषक मेघ की रानी दिल्ली कहकर कवि ने अपना पीछा छुड़ाया है। इसी प्रकार का द्वंद हम दिनकर की कविताओं में देखते हैं—और फिर वे अपने राष्ट्रीय पक्ष को ही सबल कर देते हैं। प्रकृति का वर्णन रुक जाता है। उनके समक्ष फिर वही लोहू की नदियाँ, मजदूरों की तड़प पुकारें फिर अपना भीषण रूप धारण कर लेती हैं। वे अधीर हो कह उठते है—

लाखों क्रौञ्च कराह रहे हैं,
जाग आदि कवि की कल्याणी।
फूट फूट कर कवि कण्ठों से,
बन व्यापक युग की तू वाणी ॥

अन्त में कवि पंच परमेश्वर पर विश्वास करने वाले हैं। जनता का उनके सम्मुख एक बड़ा ही उच्च स्थान है। आज के जनतंत्र के युग में वे जनता को शासक तथा शासित भी मानते हैं। उसकी शक्ति पर उन्हें पूर्ण विश्वास हैं। अतएव उसी के लिए सिंहासन भी खाली करवाना चाहते है। यह आपका आधुनिकतम विचार है—

सिंहासन खाली करो कि,
जनता आती है।
हुंकारों से महलों की नींव उखड़ जाती,
सांसो के बल से ताज हवा में उड़ता है,
जनता के सम्मुख टिके, समय में ताव कहाँ,
वह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।[1]

---

१. 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है'। —दिनकर

आपका जनतंत्र पर ऐसा ही विश्वास है। समय में भी वह शक्ति नही जो जनता के बल पर रुक जाय। इन पक्तियो में वे सच्चे प्रगतिवादी के रूप में आते हैं। उनके लिये तो देवता का स्थान देवालय के अतिरिक्त कहीं और है, वह इस प्रकार है—

आरती लिए तू किसे खोजता है मूरख,
मंदिरों, राजप्रसादों में, तहखानों में।
देवता कहीं सड़कों पर मिट्टी- कूट रहे
देवता खड़े हैं कहीं खेत खलिहानों में।

अतएव देवता का स्थान इन्होंने सचमुच ही खेत खलिहानों में माना है। देवता देवालय में नही, राजप्रसादों में नही वे तो खेतों में हैं अपने अंगों को मिट्टी से साने हुए। आपको ऐसा ही दृष्टिकोण जनतंत्र की ओर है। जनता का राज्य सदैव ही सुखकारी होगा।

भारतीय आदर्शों का निर्वाह कवि के भावों में पूर्ण रूप से मिलता है। वह वास्तव में प्रगतिवादी कवि है। समय की प्रगति के साथ ही साथ कदम मिला करके आगे बढ़े हैं। अन्त में हम सुधांशु के शब्दों में यही कह सकते है—

"दिनकर प्रगतिशील कवि नही, वास्तव में प्रगतिवादी कवि हैं। भारतीय लोक जीवन के सम्मुख राष्ट्रीयता का रसात्मक स्वरूप रखने की आशा इन्हीं से की जा सकती है।[२]

इस प्रकार से दिनकर को हम एक प्रगतिवादी कवि कह सकते हैं। दिनकर के कवि में एक क्रान्ति का दर्शन भी होता है। उनका उद्देश्य स्वयं का ही बनाया उद्देश्य है, उसमें मौलिकता है, शब्दों की प्रखरता तथा सुन्दर प्रयोग है। इसमें वह कहाँ तक सफल हुए हैं इसका स्पष्ट उदाहरण हमें उनकी पंक्तियों से प्राप्त हो चुका है। उनका मजदूरों के प्रति एक पृथक तथा सहानुभूति लिए हुए दृष्टिकोण है। सचमुच में कृपकों तथा मजदूरों के कवि वे ही हैं, उनके जीवन में रमे हुए हैं और मजदूरों की गीत उनमें (अर्थात उनके कवित्व) में अपनी एक पृथक सत्ता बना पाया है।

समाज की समस्या सदा से ही कवि को सताती रहती है—क्योंकि समाज ही राष्ट्र का प्रमुख अंग है। जब तक समाज को प्रेरणा नहीं मिलेगी, तब तक समाज एक उचित मार्ग पर नही जायेगा, तब राष्ट्र का निर्माण उचित रूप में नही हो सकता। अतएव 'दिनकर' की भावना सदा से ही समाज के दलित वर्ग की ओर से अधिक द्रवीभूत हुई है। वह सजग है, समाज के अन्तरंग से पूर्ण रूप से परिचित है।

१—'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' संसार
२—जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त—सुधांशु

उनकी दो कृतियाँ हैं 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी'। अब तक हमने उनके स्फुट गीतों का अध्ययन किया था उन गीतों में उनके विचार भी कुछ विशृंखलित हैं परन्तु प्रबन्ध काव्य में जबकि कवि को अपने भावों में एक प्रवाह लाने की आवश्यकता पड़ी, तभी वे भावों में एक गति लाने में भी सफल हुए। इन ग्रन्थों में भी कवि जीवन से दूर नहीं जा सका है। समाज की प्रचलित बुराइयों, आदर्शों और परम्परा का ही खण्डन इनमें भी हुआ।

अब हम उनकी कृति, कुरुक्षेत्र की समस्याओं पर विचार करेंगे।

कुरुक्षेत्र :—

कुरुक्षेत्र आधुनिक युग के मानव की समस्त प्रवृत्तियों, भाव और चिन्तन की एक सामूहिक परिभाषा है। युधिष्ठिर और भीष्म दो पात्र सम्पूर्ण कथा साहित्य को आगे लेकर बढ़े हैं। दोनों के अपने दो विचार हैं। एक जगत से दूर अध्यात्म की ओर उन्मुख और दूसरा जगत में ही रहकर जगत के प्राणियों को सुखी करने के पक्ष में है। युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र में हुए युद्ध को केवल जनसंहार का कारण बतलाते हैं। जिनका परिणाम कुछ भी नहीं है। कलिंग के अशोक की भाँति कुरुक्षेत्र के युधिष्ठिर को भी संताप होता है और साथ ही साथ वैराग्य भी। विजयी हो जाने के पश्चात् विजय उन्हें डसती है, विजय पर उन्हें पश्चात्ताप होता है। युधिष्ठिर का यह अध्यात्मिक चिन्तन की ओर उन्मुख विचार है। वे तपोबल छोड़ मनोबल से लड़ने की इच्छा रखते हैं—

> जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
> भुजबल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता।
> तप से, सहिष्णुता से, त्याग से, सुयोधन को
> जीत, नई नींव इतिहास की मैं धरता॥

इन विचारों के अतिरिक्त युद्ध की समस्या पर भी विचार किया गया है। युद्ध किन अवस्थाओं में उचित है और किन - किन अवस्थाओं में उसका औचित्य अपनी कोई उपयोगिता नहीं रखता, इस समस्या को भी सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। आज के युग के लिए विज्ञान वरदान और अभिशाप दोनों ले आया है। उससे ध्वंस अधिक हो रहा है, रचनात्मक कार्य कम। युद्ध की विभीषिका और ज्वाला विज्ञान की आहुति लेकर और भी प्रखर हो उठती है। नरसंहार के यज्ञ में विज्ञान घृत डालता चलता है। इन विचारों को लेकर कुरुक्षेत्र का कवि आगे बढ़ा है। युद्ध को एक निन्दित कर्म अवश्य कहा गया है परन्तु इस निन्दित कर्म का दूसरा उपचार है भी क्या? शान्ति स्थापित करने के लिए जिस मार्ग को अपनाना पड़ता है वह मार्ग काँटों से पूरित है, उसमें झंझा, तूफान और बवंडर है। शान्ति तक पहुँचने के लिए इस मार्ग को पार करना ही पड़ता है। युधिष्ठिर उस मार्ग को पार कर रहे थे उसी के फलस्वरूप उन्हें कुरुक्षेत्र का युद्ध ठानना पड़ता है, उस युद्ध

के अन्त में एक निराशा के अतिरिक्त उन्हें और मिला क्या ? उस समय की परिस्थिति तो ऐसी हो गई——

कौरवों का श्राद्ध करने के लिये,
या कि रोने को चिता के सामने।
शेष जब था रह गया कोई नहीं,
एक बुड्ढे एक अन्धे के सिवा ॥

इस महा नरसंहारकारी युद्ध में केवल एक निराशा युधिष्ठिर के हाथ लगी। उन्हें वैराग्य हो गया। जहाँ भी उनकी दृष्टि गई उन्होंने सुहागिनी के भाल का सिन्दूर पुंछा हुआ देखा, बालहीना माता की आर्त्तनाद सुनी और सोते - सोते उठकर (आवेश में आकर) अर्जुन के लाल के शोणित को पुकारते हुए सुना। यह वह युधिष्ठिर है जिसमें एक राजनीतिज्ञ, शासक और हठधर्मी का हृदय नहीं बोल रहा है, परन्तु यह उस युधिष्ठिर का हृदय बोल रहा है जो त्यागी है, हिंसा करता है। परन्तु उसके फल याद आने पर हिंसा के भय से कांप भी उठता है, वह अध्यात्मवादी है। भीष्म ने युधिष्ठिर में वैराग्य की ऐसी भावना उग्र होते हुए देख करके उन्हें क्षत्रियोचित फटकार भी दी है। पाप और पुण्य अपने में ही सीमित नहीं है। कोई भी काम अपनी विशेष अवस्था के कारण पुण्य हो सकता है और वही कार्य उन स्थलों और परिस्थितियों के परिवर्तित हो जाने के कारण पाप भी कहा जा सकता है। महाभारत ऐसा युद्ध जो प्रतिशोध की भावना से आगे बढ़ा हो पापकर्म नहीं कहा जा सकता।

जानता हूँ किन्तु जीने के लिए,
चाहिये अंगार ऐसी वीरता।
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है,
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

अपने अधिकारों को बचाना, चाहे वह किसी प्रकार बचाया जा सके, मनुष्य का कर्तव्य है। अधिकारों का इस प्रकार उपयोग करने में भी, दिनकर के शब्दों में——

'चाहिए अंगार जैसी वीरता',

और आगे भी,

छीनता है स्वत्व कोई और तू,
त्याग तप से काम ले यह पाप है,
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

इस प्रकार से एक ओर तो भौतिक सुखों को तुच्छ समझने वाले युधिष्ठिर के विचार हैं दूसरी ओर भीष्म अपने स्वत्व, अधिकार और कर्तव्यों के प्रति सजग हैं।

युधिष्ठिर के सिद्धान्त तो कहीं - कहीं भीष्म को निढा देते हैं। इन कोरे सिद्धान्त-वादियों को तो उन्होंने कायर तक कह दिया है।

कायरों सी बात कह, मुझको जला मत, आज तक,
हो रहा आदर्श मेरा वीरता बलिदान ही,
जाति मन्दिर में जलाकर शूरता की आरती,
जा रहा हूँ विश्व से चढ़ युद्ध के ही यान पर।

युद्ध के विषय में भीष्म का ही दृष्टिकोण कवि का दृष्टिकोण है, इसलिए उसने इसके वर्णन में उतनी ही तन्मयता और शब्दों की सजग वृत्ति को लाकर सजीव वर्णन कर दिया है। युद्ध के विषय में यह एक सुझाव है। यदि अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए, जीवन में जीने के लिए नरसंहार और ऐसे ही अन्य उपकरणों का प्रयोग किया जाय तो हानिकर नहीं। कवि के लिए व्यष्टि का हित समष्टि के समक्ष कुछ भी नहीं है। एक पुरुष के हित के लिए यदि समाज का अहित होता है तो उन व्यक्ति का हित समष्टि के हित के लिये बाधक है। द्रौपदी के साथ उस समस्त समुदाय की लज्जा हारी गई थी जो पाण्डवों के साथ था।

द्रौपदी के साथ ही लज्जा हरी थी जा रही,
उस बड़े समुदाय की जो पाण्डवों के साथ था।

युधिष्ठिर के प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपना एक दृष्टिकोण भीष्म ने रखने का प्रयत्न किया है। भीष्म यह कह कर युद्ध के विपक्ष में शुरू से ही नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि युद्ध की विभीषिका को वह चाहते हैं। उनके विचार से दया एक शक्तिशाली का ही भूषण है, जिसमे शक्ति नही वह दया क्या कर सकता है। यदि कायर किसी को क्षमा दान देने चले तो यह उसका गुण नही। भीष्म के अनुसार —

सच पूछो तो शर में ही, बसती है दीप्ति विनय की।
सन्धि वचन संपूज्य उसी का, जिसमें शक्ति विजय की ॥

यदि युधिष्ठिर के पक्ष में ही लिया जाय तो युधिष्ठिर ने दुर्योधन को पहले क्षमा किया उसके अपराधों पर दृष्टि न डाल उसे टालते ही रहे परन्तु इसका परिणाम क्या हुआ ? उसका अत्याचार दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया। युधिष्ठिर ने जब तक शक्ति की पूजा नही की, अपने अधिकारों को बलपूर्वक छीनने की चेष्टा नही की तब तक दुर्योधन का अत्याचार बढ़ता रहा। संसार के पीछे एक निश्चित एवं स्वस्थ आधार था धर्म का तथा अपने अधिकारियों की रक्षा का। महाभारत का युद्ध केवल युद्ध के लिए नहीं हुआ, उसमें तो न्याय के पक्ष और अधिकार के स्वत्व की रक्षा करनी थी।

कुरुक्षेत्र में जली चिता जिसकी, वह शान्ति नहीं थी,
अर्जुन की धन्वा चढ़, बोली वह दुष्क्रांति नहीं थी।

थी परस्वग्रासिनी भुजंगिनी वह जो जली समर में,
असहनशील शौर्य था जो बोल उठा पार्थ के स्वर में ॥

युद्ध की समस्या के पश्चात् दूसरी बात उठती है कि युद्ध किसके कारण हुआ। युधिष्ठिर अपने को युद्ध का कारण समझते हैं और भीष्म अपने को। भीष्म का विश्वास है कि यदि वे कौरवों की ओर से युद्ध न करते तो शायद दुर्योधन युद्ध के लिये न उठ खड़े होते, भीष्म के अभाव में युद्ध होता ही नहीं। भीष्म को अब भी पश्चाताप होता है कि

सच है था चाहता, पांडवों का हित मैं सन्मन से।
पर दुर्योधन के हाथों में, बिका हुआ था तन से॥

मन से भीष्म युधिष्ठिर की ओर थे और तन से वे दुर्योधन की ओर। 'प्रसाद' की भाँति दिनकर ने भी कोरे बुद्धिवाद की आलोचना की है। भीष्म बुद्धि से अधिक श्रेयस्कर स्नेह और प्रेम को कहते है। यद्यपि वे जीवनपर्यन्त बुद्धिवादी रहे हैं कर्मों को ही प्रधान समझा है, अन्त मे जीवन के अवसान में ही उन्हें स्नेह और प्रेम का ज्ञान होता है। बुद्धि और तर्क का ही अवलम्ब लेकर युधिष्ठिर के विरोध में दुर्योधन की ओर से उन्होंने युद्ध किया है। जब कि युद्ध का समय था वे न्याय पक्ष की शरण ले सकते थे ? परन्तु उनके बुद्धिवाद ने, तर्क ने, उन्हें युधिष्ठिर की ओर न जाने दिया। मस्तिष्क पक्ष जब भी इस प्रकार से विजयी होता है तभी मानव एक अज्ञात ज्वाला और विप्लव से ग्रस्त रहता है। जैसा कि ऊपर संकेत कर चुका हूँ कि 'प्रसाद' के मानव (कामायनी) की भाँति भीष्म भी जब बुद्धि की ओर आकर्षित हुये तब ही उन्हें पराजय मस्तिष्क और हृदय की खानी पड़ी। अब वे उसे समझ रहे हैं।

किन्तु बुद्धि ने मुझे भ्रमित कर
दिया नहीं कुछ करने।
स्वत्व ही अपने हाथों का,
हृदय वेदि पर धरने।

हृदय वेदि पर वे अपने समस्त स्वत्व को, बरबस रख देना चाहते हैं परन्तु विवश थे। मस्तिष्क का यह संघर्ष हृदय से चल ही रहा था कि बीच मे राजद्रोह की भी चर्चा छिड़ जाती है यदि दूसरे रूप मे देखा जाय तो मस्तिष्क में संघर्ष की ही प्रतिध्वनि है। भीष्म सोचने लगते हैं कि मैं जो सोचता था उसी पर चलकर युधिष्ठिर का साथ देता तो संभवतः यह नरसंहारक युद्ध न होता। वह अपने न्याय पक्ष पर ही डटे रहते, क्योंकि यह समझते थे कि युधिष्ठिर सत्य मार्ग पर है, उनके साथ अन्याय किया जा रहा है। अतएव उन्हे यह सोचते हुए युधिष्ठिर का साथ देना चाहिये था। परन्तु बुद्धि ने, तर्क के जाल ने उनके इन विचारों को अपने में प्रायः लुप्त कर दिया। वे भूल गये कि कर्त्तव्य के मोह मे स्नेह और न्याय पक्ष की

भी सत्ता है ? यहीं मानव मस्तिष्क का विश्लेषण किया गया है जब वह एकांगी होकर सोचने लगते हैं, और जब भी वह अपनी प्रतिभा को त्याग कर कोरे तर्क का आश्रय लेने का प्रयास करते हैं तभी उसे इस प्रकार से नीचे गिर जाना पड़ेगा। यथार्थ जीवन में लोभ ही एक पुरुष को अपने सत्कर्मों को कभी-कभी करने से रोक देता है। यह सत्य था कि भीष्म ने दुर्योधन का साथ सदैव दिया था। उनका कर्त्तव्य उनके शब्दों में यह होता था कि वह उन्हीं का साथ दें। परन्तु इस परम्परावाद का निर्वाह ही कुरुक्षेत्र के इस महायुद्ध का कारण रहा। दुर्योधन युधिष्ठिर भीष्म के लिये पृथक-पृथक रूप से कुछ नहीं थे। उन्हें आदर्शों का सहारा लेना था। वे समझते थे कि युधिष्ठिर के साथ अन्याय हो रहा है तो अन्यायी का साथ उन्होंने दिया क्यों ? क्या केवल कर्मवाद उन्हें प्रभावित कर रहा था ? अन्त में स्मृतियाँ सजग हो उठती हैं। भीष्म के सम्मुख एक-एक करके सम्पूर्ण चित्र आते हैं।

राजद्रोह की ध्वजा उठाकर,
कहीं प्रचार होता।
न्याय पक्ष लेकर दुर्योधन
को ललकारा होता।

सप्तम सर्ग में भाग्यवाद पर विश्वास रखने वालों के लिए चुभता हुआ संदेश है। इसके पहले कुछ समाजवादी धारणाओं को ही परिपुष्ट किया गया है। कवि युद्ध की बात करते-करते इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि शान्ति तभी हो सकती है जब समाज में सभी व्यक्ति बराबर कर दिये जाँय। वट और अनेक छोटे वृक्षों की उपमा लेकर कवि यह बताना चाहता है कि सभी को रहने का और बढ़ने का अधिकार चाहिये—

वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं उन्हें बढ़ने का वर दो।
जल सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिरायें तोड़ो, डालियां कतर दो।

इसी वृक्ष की भाँति वह मनुष्य जो धरती का रस सोख रहा है जो शोषण कर रहा है उसको दंड देना चाहिये। ठीक उस वृक्ष की भांति उसकी भी शिरायें और डालियाँ कतर देनी होंगी।

अब भाग्य वाद की चर्चा करेंगे। कवि ने केवल भाग्यवादियों को भाग्य पर निर्भर रह करके, कार्य करने पर उनकी आलोचना की है। आज के युग में सचमुच भाग्य को विज्ञान ने पछाड़ दिया है। प्रकृति कुछ नहीं देती कुछ नहीं करती। मनुष्य यदि चाहता है तो उससे लड़कर अपने अधिकार ले ही लेता है। अधिकार वह भीख नहीं, जिसे मांगने के लिये दर - दर की ठोकर खाई जायं। वह प्राप्त किया जा सकता है। शान्ति से नहीं लड़कर, यही कुरुक्षेत्र का संदेश है। युधिष्ठिर

को इसकी शिक्षा भी भीष्म ने दी है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि यदि तुम इस प्रकार से अपने अधिकारों की अवहेलना चाहते थे तो तुम्हारे लिए उचित था कि जगल मे निवास करते। मेरी समझ में यह पलायनवादी प्रवृत्ति है,— निरी पलायनवादी प्रवृत्ति है। संक्षेप में यही कि कुरुक्षेत्र मानव की यथार्थ से पूर्ण काव्य है। जीवन को वह जीवन स्तर पर लाकर विचारक के रूप में देखता है। उसने कल्पना की है कि यहां कोई किसी का राजा प्रजा नही। राजा और प्रजा, अमीर और दीन यह मानव ने ही बनाये हैं। समाज में श्रेणियों का विभाजन शोषण करने वालों ने अपने हित के लिये किया। कवि के समक्ष पहले का समाज जब कि मानव पर किसी भी मानव का शासन नही था, नाँच उठता है। मानव सभ्यता के शिशुकला में जब मानव स्वच्छन्द था वह समस्त धरती पर विचर सकता था मुखर हो जाता है धीरे-धीरे लोभ का उदय हुआ। मनुष्य के विचार एक दूसरे को नोच कर खा लेने की ओर अग्रसर हुए, तभी तलवार आई, शासन हुआ, और आज का समाज, जिसको हम अपने समक्ष देख रहे है उसकी रचना हुई, लोभ के सामने विश्वास, स्नेह और वास्तविक सौन्दर्य नत हो गये घुटने टेक दिए, क्यों ? इसका कारण था मनुष्य का पाशविक बल, उसकी लोभ और अन्याय की ओर झुकी हुई प्रवृत्ति। एक ही आदमी सभी आदमियों के अधिकार, स्वत्व और न्याय हड़प कर जाने की चिन्ता में लीन हो गया। तभी तो क्रान्ति और तलवार की आवश्यकता पड़ी। सबसे बड़ा आधार जिसपर शांन्ति टिक सकती है यह है मानवता। मानव यदि अपने स्वार्थों को भूल जाये तो युद्ध बन्द हो सकेगा।

कुरुक्षेत्र में जीवन और मानव दो समस्यायें है। जीवन जीने की वस्तु है मुँह फेर कर उससे भागा नही जा सकता। भीष्म का सन्देश आज के प्रत्येक मानव के लिए है कि भाग्य कभी किसी पर हंसता नही, न्याय कभी किसी को प्राप्त नही होता। अन्यायी यदि सशक्त है तो जग उसका साथ देता है तथा न्याय शक्ति से छीना जा सकता है। युधिष्ठिर की विचारधारा में वह एक मोड़ ला देना चाहते हैं, यदि केवल अध्यात्म का अवलम्ब लेना था तो युधिष्ठिर जंगल में ही तपस्या करते. उन्हे इस जगत में जहाँ प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भट्ठियां सुलग रही हैं आने की आवश्यकता ही क्या थी। यदि इस जगती मे कोई रहना चाहता है, और यहाँ के संघर्ष से मुँह मोड़कर केवल तर्क का ही आधार ले, कोरे सिद्धान्तों को मान कर चलता है तो वह जीवन में सफल नही हो सकता, परन्तु उन सिद्धान्तों को मानने के लिए भी ......

'चाहिये अंगार जैसी वीरता'

जीवन के वास्तविक कगारो को स्पर्श करके ही इस प्रकार से कुरुक्षेत्र की काव्यधारा आगे बढ़ी है। युग मानव तभी मानव है जब वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को त्याग कर समष्टि की भलाई की चिन्ता करे। अपने में, ही सीमित मानव के

इस जीवन मे जीने का अधिकार नहीं रखता। कर्म और समष्टिगत सिद्धान्तों के अग्रदूत उसका गला घोंट देंगें। कुरुक्षेत्र मानव के वास्तविक जीवन की परिभाषा है, एक सन्देश है जो जीवन की सूनी घड़ियों को पुकार कर कह रहा है।

ऊपर सब कुछ शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में।
धर्मराज ! जो है यह है, मिट्टी के इस जीवन में।

शून्य की बात कह कर उन्होंने स्वर्ग की कल्पना पर आक्षेप किया है। युधिष्ठिर सत्यवादी हैं, अध्यात्मिक विचार वाले हैं, अतएव उनका स्वर्ग पर विचार रखना स्वाभाविक है। भीष्म यहाँ पर यथार्थवादी दार्शनिक की भाँति ठीक उसी वस्तु की सत्ता मानते हैं जो देखते हैं। ऊपर उनको शून्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता अतएव वे कर्म को ही जीवन में प्रधान अब तक मानते आए हैं। यहां भी कर्म पर उनका विश्वास है। यदि कर्म अच्छा है तो उस अच्छे कर्म करने वाले मनुष्य के लिए इसी धरती पर स्वर्ग है यदि कर्म खराब हुआ तो उस मानव के लिए इसी धरती पर नरक है। यह वसुन्धरा केवल वीरों के भोगने के लिए ही है, जो अशक्त हैं उनके लिये यहाँ कोई स्थान नहीं।

'शक्तिहीन वह हुआ जो बैठा भू पर आसन मारे,
खा जाते उनको मिट्टी के ढेले ये हत्यारे'

अब हम दूसरी पुस्तक रश्मिरथी को लेंगे।

रश्मिरथी

महाभारत नामक युद्ध इस बात का संकेत कर रहा है कि प्रत्येक युग में जब अनाचार, पदलोलुपता और मानवता का पतन होने लगता है तो उसका अन्त करने के लिए एक महान् संहारकारी युद्ध होता है जिसमे सृष्टि फिर से अपना नया चोला धारण करती है। महाभारत का युद्ध इस बात का प्रमाण है, साक्षी है। समाज की कुरीतियां जब अपनी पराकाष्ठा पर होती हैं प्रतिभाशाली जब अहमवादी व्यक्तियों से ठुकराये जाते है, जब कुछ जन इसी लिए उपेक्षित किए जाते हैं क्योंकि उनके व्यक्तित्व के पीछे कोई ठोस आधार भूमि नहीं, तभी क्रान्ति होती है, और तब एक नया जागरण चेतना का सन्देश देना है समाज को—वही रश्मिरथी का संदेश है आज के समाज को। कुन्ती का पुत्र कर्ण केवल इसीलिए ठुकराया जाता है क्योंकि उनके माता-पिता का नाम लोगों को ज्ञात नहीं था। यह झूठा आदर्श ही समाज को निकम्मा बनाता जा रहा है, आदर्श के पर्दे में कितना अपराध, कितनी ज्वाला और कितना क्षोभ भरा पड़ा है—रश्मिरथी इसका एक उदाहरण है—

कर्ण को उपेक्षित रखने का सबसे बड़ा आरोप (समाज द्वारा उस पर जो लगाया गया था) यही था कि पिता का नाम नहीं ज्ञात था वह अज्ञात पिता का पुत्र था। कर्ण का अपमान केवल इसीलिए समाज द्वारा हुआ क्योंकि वह लोगों के

समक्ष सूतपुत्र के नाम से प्रचलित था। सूतपुत्र का होना ही कर्ण की वीरता पर पानी फेर दे यह बात उपयुक्त नहीं ज्ञात होती। यदि वस्तुतः देखा जाय तो कर्ण और अर्जुन दोनों की परिस्थितियां एक सी थीं। उन्हीं परिस्थितियों में पैदा हुए कर्ण को गिरी दृष्टि से, और अर्जुन को एक दूसरी दृष्टि से देखना उस समय के सामन्तवादी समाज का परिचायक है। अर्जुन के जीवन में और घुसिए ऐसे उदाहरण मिलेंगे। द्रोपदी के विवाह के पश्चात् पाचों भाइयों के बीच यह समझौता हो चुका था कि यदि बड़ा भाई द्रोपदी के साथ शयनागार में रहे और कोई भाई यदि उस कक्ष में प्रवेश कर ले तो उसे व्रत का पालन और वनवास (किसी निश्चित अवधि तक) करना पड़ेगा। व्रत और संयम की ये रेखायें सचमुच बड़ी तीव्र थी परन्तु क्या इसका निर्वाह महाभारत का प्रधानपात्र अर्जुन कर सका? सम्भवतः नहीं। यदि इस नियम का पालन पूर्ण रूप से अर्जुन के द्वारा हुआ होता तो उलूपी (नाग कन्या) के द्वारा अर्जुन को एक सन्तान न पैदा होती। कहने का तात्पर्य यही कि महाभारत के पहले का आचरण और नैतिकता का स्वरूप आज के आचरण और नैतिकता से भिन्न था। दिनकर का रश्मिरथी इसी बात का संदेश देता चलता है कि समाज किसी भी तथ्य को केवल बाह्य रूप में ही देखता है उसका आन्तरिक रूप कितना वीभत्स है अथवा आकर्षक समाज का ध्यान उधर नहीं जाता।

दिनकर का कवि आज तक इस आन्तरिक तथ्य के ही खोज में व्यस्त रहा है, कुरुक्षेत्र में युद्ध की विभीषिका और उसके फल पर विचार किया है। वह रश्मिरथी में एक पग और बढ़ाने मे सफल है और वह पग है किसी यथार्थ-दर्शन की पहिचान, वह मनुष्य के भीतर के देवता की पहिचान कर रहा है। उसे अब तक पीड़ितों, असहायों और दलितों से स्नेह था और उनके प्रति स्वाभाविक दया भी, वही इस काव्य-ग्रन्थ मे भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है—

> मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
> पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोले सकेंगे,
> जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा।
> मनमें लिए उमग जिन्हें चिरकाल कलपना होगा॥

रश्मि-रथी के निर्माण मे इन्हीं तत्वो का समावेश रहा है। 'दिनकर का हृदय सदा से असहाय और दीनो के लिए खुला रहा है, उनकी करुणा सहज ही इन पात्रों के पीछे द्रवीभूत होती दिखाई पड़ी है। वह दलित और पीड़ितों का नेता नही माना गया है, वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसे समाज का आदर्श रुलाता रहा है। धर्म प्रमुखों के प्रति विद्रोह और उनसे लड़ना भी उसका दृष्टिकोण नहीं रहा है। यह तो कवि के सन्देश का एकांगी दृष्टि से देखना है। समाज में आदर्श और नियमों का पालन करनेवाला पुरुष सदा पराजित होता रहा है, युद्ध में वही विजयी

होता है जो राजनीतिज्ञ हो, धोखा देना जानता हो। नीति पूर्ण युद्ध हुआ कब है ? ठीक यही चीज सभी युद्धों में लागू होती रही है, नहीं तो द्रोण गुरु का गला कट- वाने के लिए जीवन मे पहली बार और अन्तिम बार युधिष्ठिर झूठ न बोलता, भीष्म को मारने के लिए छल का सहारा न लिया जाता और अन्त में महावीर कर्ण को मारने के पूर्व थोड़ा सोच समझ कर रथ का पहिया को निकाल देने का अवकाश दिया जाता।[1] परन्तु युद्ध युद्ध ही है धर्म और नीति के नाम हो जाने पर युद्ध होता है फिर उसमे धर्म नीति का अवलम्ब ही कैसा। इस तथ्य पर आ जाने पर यह कहना भूल होगी कि महाभारत धर्म का युद्ध था।

अब हम रश्मिरथी के प्रथम-सर्ग को लें। कर्ण का व्यक्तित्व ऊपर उठाने के के लिए कवि की सारी भावुकता और सारी शक्ति जाति पाँति के विरोध मे ही लगी हुई है। केवल एक ही स्वर सम्पूर्ण सर्ग मे गूंजता सा दिखाई देता है वह है जाति के विरोध मे कहना। समाज ने कर्ण को इसलिए नहीं पहिचाना क्योंकि वह समाज के साथ नही था—समाज से बहुत दूर वह अपनी ही राग मे मस्त अपनी ही तपस्या मे निरत था। अर्जुन को इसलिए समाज ने बढ़ावा दिया क्योंकि वह उस पर शासन करता था। कर्ण का रणभूमि में प्रवेश करने के पहले क्या कोई सामा- जिक महत्व था ? अर्जुन की ही भाँति यदि वह शासक नही हो सकता था तो शासित ही सही, किसी भी रूप में कर्ण ने क्या समाज के सम्मुख अपनी धनुर्विद्या का परिचय पहले दिया था कुछ परिस्थितियां ऐसी थीं, आपस मे द्वेष और कलह के कारण ही सुयोधन ने कर्ण को अंगदेश का राजा बना दिया, यह समाज का दान नही कहा जा सकता, या कर्ण की प्रतिभा से प्रभावित हो कर यह दिया गया, यह भी नही कहा जा सकता बल्कि एक राजा ने अपनी शक्ति का प्रयोग करके कर्ण का अंगदेश का शासक नियुक्त कर दिया। इसीलिए समाज के द्वारा कर्ण न तो सम्मा- नित हुआ न तो समाज ने उसे कोई अधिकार ही प्रदान किया शायद वह भी उसे राज्य न देता, राज्य देना ऐसे पुरुष का कार्य नहीं हो सकता था, परन्तु वह विवश था, उसकी बाहु में उतना बल नही था जो वह अर्जुन का सामना कर सकता, कर्ण का अवलम्ब पाकर वह ईर्ष्या द्वारा प्रेरित हुआ कि वह कर्ण को राज्य दे दे। अतएव सुयोधन की यह कृपा स्वाभाविक दया के फलस्वरूप नही उत्पन्न हुई वस्तुतः उसका कारण ईर्ष्या थी। कर्ण समान्यतः इस तथ्य को समझ नही सका और शायद जीवन भर भी उस कृत्य को कृपा ही समझता रहा नही तो वह इस प्रकार चकित न रह जाता। दिनकर ने तो बालू मे सीपी ढूंढने वाले बालक को रत्न दिया और वह चकित रह गया।

१—इसका आधार आज का दृष्टिकोण है मैं उस नियम की आड़ लेकर बात नहीं कर रहा हूँ जिसके द्वारा राजाओं को सभी काम शोभा देवे और उनके सोम काम क्षम्य समझे जाते हैं। शायद उस दृष्टिकोण से देखने से अर्जुन क्षम्य हो, परन्तु आज का नैतिक स्तर तो उन्हें उचित नहीं ही समझेगा।

कर्ण चकित रह गया सुयोधन की इस परम कृपा से,
फूट पड़ा मारे कृतज्ञता के भर उसे भुजा से।
दुर्योधन ने हृदय लगाकर कहा बन्धु! हो शान्त,
मेरे इस क्षुद्रोपहार से क्यों होता उद्भ्रान्त।

दुर्योधन की दया पाते ही कर्ण पूजा जाने लगा। जनता उसे पूजने लगी पुरवासी उसे घेरकर खड़े हो गये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुरवासियों ने कर्ण के कौशल को देखा था, उसकी वीरतापूर्ण ललकार को सुना था, वास्तव में कर्ण को मैं तब जनता का प्रिय नायक मानता जब उसे जनता ने पहले ही (राज्य मिलने के पूर्व ही) पूजा होता। जनता यदि कर्ण की वीरता को पूजती, कर्ण की आहुतियों को पूजती तो कर्ण गौरव का पात्र था, परन्तु क्या जनता ने इन वस्तुओं को पूजा? जनता ने कर्ण के शासक घोषित हो जाने पर उसकी पूजा प्रारम्भ की। तुलसी के राम, तब भी पूजे जाते हैं, जब वह शासक नहीं हैं। केवट उनकी आराधना करता है, शबरी उनके वन आने के लिए अपने पलकों के पावड़े बिछाये रहती है और फिर अयोध्या लौट आने पर वनवासी राम, वन की अवधि समाप्त किये हुए राम, जनता द्वारा पूजे जाते हैं, इसका अर्थ है कि राम का शासन जनता पर नहीं, जनता के हृदय पर था परन्तु कर्ण की पूजा कहाँ हुई?

रश्मिरथी के चरित्र को अधिक उज्ज्वल बनाने का उपाय तो कवि ने किया अवश्य है, परन्तु यदि जनता द्वारा ही राजा होने के पूर्व सम्मानित होता तो वह सर्वप्रिय शासक कहा जा सकता था। कवि यदि इसे ऐसा रूप दे देता उसका चरित्र अधिक उज्ज्वल ज्ञात होता। राजाओं को पूजनेवाली प्रजा तो अपने निकम्मे से निकम्मे और खोटे से खोटे राजाओं को भी पूजती आ रही है परन्तु जागरूकता तब होती जब दुर्योधन के राज्य घोषित करने के पूर्व ही जनता द्वारा कर्ण की पूजा हो जाती वस्तुतः वह पूजा कर्ण की वीरता की होती, उसके राजा होने की नहीं, और कवि तब अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल हो जाता। कर्ण की वीरता की पूजा यदि जनता द्वारा होती तो उसका रोब अधिक गालिब होता। यह पूजा (जो रश्मिरथी में हुई है) वीरता की पूजा नहीं बल्कि दुर्योधन के द्वारा कर्ण पर राजत्व की लगाई गई मुहर की पूजा है।[1]

कथोपकथन में भी कर्ण का चरित्र संयमी, वीरता से पूर्ण होते हुए भी एक उद्धत स्वभाव के पुरुष की भाँति हो गया है। अर्जुन के कृत्यों को देख करके एका-

---

१—घेर खड़े हो गए कर्ण को, मुदित मुग्ध पुरवासी।
होते ही हैं लोग वीरता पूजन के अभिलाषी (?)
चाहे इस मिथ्या ईर्ष्या अभिमान,
जनता निज, आराध्य वीर को पर लेती पहिचान। पृष्ठ ७, र०र०

एक रंगस्थल में फूट पड़ना और यह कहना कि अर्जुन ने जो कुछ कर दिखाया है वह मैं भी कर सकता हूँ, कुछ गौरवमय नहीं प्रतीत होता। एक पहलवान को अखाड़े में लड़ते हुए देख करके यदि उससे बड़ा पहलवान उसे ललकारता है वह ठीक है, परन्तु जनता के सामने आकर कह देना कि मैं भी इस पहलवान के समान लड़ सकता हूँ, व्यायाम कर सकता हूँ, यह तो खोखले अहम् के प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं प्रतीत होता। एक दूसरा स्थल और लें, कुन्ती और कर्ण का संवाद। इस स्थल पर कवि भूल गया है कि माता और पुत्र का संवाद है, (संवाद में, स्नेह का दोनों ओर से अधिकाधिक पुट रहना चाहिए था, इससे ठीक विपरीत पुत्र अपनी माता के कुकृत्यों का विवरण देना चाहता है, और स्त्रीत्व को भी ललकारता है—

शायद टूटता समाज वज्र बन तुम पर,
शायद घिरते दुख के कराल घन तुम पर,
शायद वियुक्त होना पड़ता परिजन से,
शायद चल देना पड़ता तुम्हें भुवन से।
पर सह विपत्ति की मार अड़ी रहती तुम,
जग के सम्मुख निर्भीक खड़ी रहती तुम,
पी सुधा, जहर को देख नहीं अकुलाती,
था किया प्यार तो बढ़कर मोल चुकाती।

अन्तिम पंक्ति में कवि का सारा जलता ओज और क्रोध समाज के प्रति बिखरा है। कवि को इस पंक्ति को लिखते समय, समाज की सारी दुर्बलताएँ याद पड़ गई होंगी, कुन्ती एक साधारण नारी की भाँति सामने आ पड़ी होगी तब कर्ण का स्थान स्वयं कवि की अनुभूति ने ग्रहण करके उसे ऐसी फटकार बताई होगी। तब यह पंक्ति "पी सुधा जहर को देख नहीं अकुलाती" की रचना हुई होगी। बात ठीक है, कवि का पुरुषत्व अपनी सीमा पर है। यदि कुन्ती ने प्रेम किया था, और चाहे वरदान स्वरूप हो, कुन्ती को सूर्य का यह पुत्र प्राप्त हो गया था तो उसका वरदान भी लेती उससे वह घबराई क्यों। यदि समाज सुधारक यह बात कहता तो ठीक भी होता, परन्तु पुत्र, भारतीय संस्कारों में पला हुआ पुत्र कर्ण, अपनी माता से यह बात कहता हुआ कुछ संकोच का अनुभव करेगा। कवि ने अपने स्वाभाविक ओज की धुन में, इसकी चिन्ता नहीं की और पुत्र कर्ण अपनी माता से पूछ ही बैठा।

इस प्रकार से रश्मिरथी कवि के ओज की कहानी है, उसके पुरुषत्व की सम्पूर्ण छाप इस काव्य में है। कहीं-कहीं इसी के फलस्वरूप कवि भूल सा गया है कि वह अपने ओज में क्या-क्या कह देता है। औचित्य का ध्यान उसे नहीं हो

पाता। ऐसी प्रवृत्तियां हम प्रारम्भ से ही कवि में देखते आए हैं। इसमें सन्देह नहीं कवि मे पौरुष है समाज की दुर्बलताओं को देखते ही वह भभक उठता है, उसके शरीर में ऊफान आ जाता है, इस तथ्य को दिनकर अपने व्यक्तित्व से अलग कर भी नहीं सके। यही कारण है कि औचित्य की ओर ध्यान कवि का कम जाकर कर्तव्य की ओर जाता है। कुन्ती कर्ण की माता थी, वहाँ कवि के सामने से माता और पुत्र का वह स्थूल रूप मिट गया और आ गया एक समाज के द्वारा शापित-तापित मनुष्य का रूप और वह था कर्ण, उसे शापित और दूसरा जिसके कारण यह शाप सहना पड़ा, फिर क्या था कवि को सभी सहानुभूति कर्ण पा गया और क्रोध कुन्ती। बिचारी भारतीय सस्कारों में पली माता कुन्ती इसका क्या उत्तर देती कि 'था किया प्रेम तो बढ़कर मोल चुकाती'। वह एकटक हतप्रभ हो तपस्वी कर्ण के इस अस्वाभाविक वार्ता को सुनती ही रह गई होगी और उसे आश्चर्य हुआ होगा कि तपस्वी बालक कर्ण इतना आधुनिक कैसे हो गया जो अपनी माता की भर्त्सना कर गया।

गीतों में कवि का मूल्यांकन

कुरुक्षेत्र तथा रश्मिरथी के अतिरिक्त कवि द्वारा रचित स्फुट गीत और अन्य कविताएँ भी हैं जिनमे उनके व्यक्तित्व का बहुत सा रूप स्पष्ट हो जाता है। उनकी स्फुट कविताओं में प्रायः निम्न प्रकार की धारणायें हमें मिल जाती हैं।

१—ऐसी धारणायें जिनमे देश के प्रति, दुखियों तथा दुर्बलों के प्रति कवि अपनी अनुभूतियाँ व्यक्त कर देता है।

२—व्यंग प्रधान रचनायें—व्यंग में भी अनुभूतियों का नुकीलापन चुभता प्रतीत होता है।

कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उत्तेजनात्मक रहा, ऐसी उत्तेजना जिसमें आलोड़न—विलोड़न की शक्ति हो—बिम्ब, शब्दों की व्यञ्जनाशक्ति, दिनकर के सम्पूर्ण गीत-काव्य में देखने को मिलती है। शब्दों का उनका अपना चुनाव है। उसी में सम्पूर्ण कला सन्निहित है। वे शब्द, व्यञ्जना और बिम्बों की रचना करते चलते है। 'जलता चुम्बन' 'अंगारों वाली कविता' 'शीतल प्राण का भटकना 'नीला - पीला चांद' आदि ऐसे प्रयोग हैं जिनके साथ एक निश्चित भाव का-बोध होता चलता है, सामाजिक और काल्पनिक तत्वों का समावेश करके इतिहास का आधार तथा कल्पना का अवलम्ब लेकर कवि जोरदार वातावरण पैदा कर देने में सर्वथा सफल है।

'नीम के पत्ते' कवि के कविताओं की एक पुस्तिका है। इसमें अधिकांश कवितायें देश के प्रति ही है। नेताओं का वास्तविक स्वरूप, उनके प्रति कवि का विश्वास कवि के शब्दों में ही देखिये—

टूट चुकी है कड़ी,
एक तूही उसको पहिने बैठा है।
पूजा के ये फूल फेंक दे,
अब देवता नहीं होते हैं
बीत चुके हैं सतयुग, द्वापर
बीत चुका है त्रेता ![1]
नेता ! नेता !! नेता !!!

इन पंक्तियों में एक ओर तो कवि ने बदलते हुए युग की पगध्वनि को पहिचाना है और दूसरी ओर यथार्थ परिस्थितियों तथा एक रूप का वर्णन कर एक सत्य का स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। त्रेता और द्वापर की मान्यतायें आज सर्वथा बदल जानी चाहिए, इसलिए नहीं कि कलयुग है, इसलिए कि अब देवता का कन्सेप्ट बदल चुका है। 'अब देवता नहीं होते हैं' सम्भवतः इस पंक्ति के पीछे कवि का तात्पर्य यही रहा हो कि वह देवता का पूर्वस्थापित त्याग तपस्या और बलिदान से युक्त रूप अब रहा ही नहीं इसी लिए तो वह आगे की पंक्तियों में स्पष्ट कर देते हैं कि—

हवा देश की बदल गई है
चाँद और सूरज दोनों भी
छिपकर नोट जमा करते हैं
और जानता नहीं अभागे
मन्दिर का देवता चोर बाजारी में पकड़ा जाता है।
फूल इसे पहिनाएगा तू ।।[2]

चाँद और सूरज जो प्रकाश के पुञ्ज हैं, धरती के सबसे पुराने गवाही देने वाले रहे हैं आज उन पर भी मिट्टी उछाल कर कवि यही स्पष्ट करना चाहता है कि उनकी भाँति उज्ज्वल और कीतिमान भी अब नोट जमा करने लगे हैं। यह बदलती हुई परछाईं ही यह स्पष्ट कर देती है कि परछाईं का अवलम्ब, वास्तविकता स्वयं बदल रही है, इसीलिए तो परछाईं में भी उसी की रूपरेखा की छाप है। इसी कविता के अन्तिम चरण में कवि ने अपनी निश्चित सम्मति भी दी है कि जब आज विश्वासों का अम्बार ढहता जा रहा है, हमारे विश्वसनीय अशक्त होते जा रहे हैं तो स्वयं अपने ऊपर ही हमें भरोसा कर लेना है।

उठ मन्दिर के दरवाजे से
जोर लगा खेतों में अपने

---

१. दे० नीम के पत्ते पृष्ठ १७।
२. नीम के पत्ते दिनकर पृष्ठ २८, २९

नेता नहीं भुजा करती है
सत्य सदा जीवन के सपने ।' १

दिनकर के काव्य की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने इसका ध्यान रखा है कि उनके गीत जन - जन मे गाये जा सकें। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कवि जन - जन की समस्याओ का ध्यान रखे, जब प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही समस्या की झांकी और उसका निदान गीतों में मिलेगा तो सभी उसे कण्ठहार की भांति अपना लेंगे। 'दिनकर' के काव्य में गहरी अनुभूति है, तुरन्त प्रभाव डालने वाला जादू है, चाहे वह शाश्वत रूप से रहे न रहे। 'सामूहिक गान' के रूप में एक नया प्रयोग देखिए—

'जियो जियो अय देश ! कि पहरे पर ही जगे हुए है हम
वन पर्वत हर ओर चौकसी में ही लगे हुए हैं हम।
हिन्द सिन्धु की कसम कौन इस पर जहाज ला सकता है ?
सरहद के भीतर कोई दुश्मन कैसे आ सकता है ?
पर की हम कुछ नहीं चाहते अपनी किन्तु बचायेंगे,
जिसकी उँगली उठी उसे हम यमपुर को पहुँचायेंगे।
हम प्रहरी यमराज समान
जियो जियो अय हिन्दुस्तान ॥

इन पंक्तियो मे तुरन्त प्रभाव डालने वाला जादू हैं। यह हम इसलिए कहते हैं क्योंकि इनमें मानव की शाश्वत वृत्तियों एवम् समस्या पर कोई बात नहीं कही गयी है परन्तु उसके लिए तो इन्होंने प्रबन्ध काव्यों को चुना है, उनका निर्माण किया है। गीतो में तो एक उमंग की आवृत्ति होती है उमंग शाश्वत कहाँ, उसमे तो क्षणिक रूप से भावों का एक हल्का सा ऊफान है। चीन के आक्रमण पर कविताओ का ढेर लग गया – गालियाँ ही गालियाँ चीन को मिलने लगी—हर गुनगुनाने वाले की लेखनी अकड कर खडी हो गई, परन्तु 'दिनकर' की राष्ट्रीय चेतना ने उसे दूसरे रूप से ग्रहण किया। युद्ध मे प्रत्येक कार्य क्षम्य है (All is fair in love and war) इसी का प्रतिपादन 'दिनकर' ने किया है। युद्ध होता तभी है जब मनुष्य अपनी बर्बरता पर उतर आता है उस बर्बरता का उत्तर बर्बरता के साथ ही देना उचित होता है। कोई आँखे तरेरे, लाल किए हुए, दाँत किट किटाता, आप के घर में घुस आये और आप शिष्ट और मित्र रूप से उसे अपने ड्राइंग रूम मे बैठाये तो यह तो उपहास है। चीन और भारत के युद्ध के मध्य मे ही एक स्थान पर नेहरू जी ने कहा था कि युद्ध मे भी पशु मत बनो, कवि ने इसी वाक्य को अपनी कविता का प्रमुख विषय बनाया है। कवि ने कहा है कि पण्डित जी की बात में ऊँचाई

१. नीम के पत्ते—दिनकर पृष्ठ ३९

अवश्य है परन्तु चिन्ता का विषय भी यह है कि समरभूमि में मानव, मानव बन कर रह सकता है ? जिसे नर-पशुओं ने घेर लिया हो वह भला कब तक तुलसी की कण्ठी छू - छू करके वार करेगा।[१] कवि का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण है कि समरभूमि में तो पशु बनना ही पड़ता है, पशु की तरह जो डकार कर, पशु की भाषा में ही न बोल कर वार करेगा वह सफल नहीं हो सकता ? पण्डित नेहरू के आदर्शों को कवि सम्मान तो देता है परन्तु यह भी तो सत्य है कि—

'बिना हुए पशु आज कौन जीने देता है ?'

इसीलिए कवि को इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि युद्ध क्षेत्र, युद्ध क्षेत्र है वहाँ मानवता का निर्वाह नहीं हो सकता। कवि कह देता है कि—

शुरू हो गया भैंस भैंस का खेल
जानवर तू भी बनले।
पशु की तरह डकार, यही बन की भाषा है,
सिर पर तीखे सींग बांध, बघनखे पहिन ले,
सकुच रहा क्या ? बर्बरता का खेल नहीं खुलकर खेलेगा ?
तोड़ेगा सिर नहीं वक्र विषधर भुजंग का।
भैंसों की हुर पेट पीठ पर ही झेलेगा ?
तो कहता हूँ सुन रहस्य की बात,
खड्ग सींचा जाता है,
नहीं युद्ध में, गङ्गा के जल की फुहार से,
अजब बात तू लड़े आततायी असुरों से,
निर्भयता से नहीं,
दया, ममता दुलार से ?

इस प्रकार से आदर्शों की रूपरेखा तो कवि के मस्तिष्क में है अवश्य, परन्तु स्थल विशेष ही उसके लिए आवश्यक है, खड्गों के खेल के बीच दया, ममता और दुलार को क्या स्थान ? आलोचकों ने प्रायः दिनकर को ओज, और उमंगों का

---

१ क्या मनुष्य मानव होकर लड़ने जाता है ?
क्रूर दानवों के दुर्दान्त समूह ने
वकों, हिंस्त्र पशुओं, बाघों के व्यूह ने,
घेर लिया है जिसे, अगर वह नर पशुओं पर
तुलसी की कण्ठी छू छू कर, रो रो कर वार करेगा
पशु की होगी विजय, पराजय मानवता की,
—आवाहन, सम्पादक, रामदास मिश्र 'विजय'
पृष्ठ १९

२ वही पृष्ठ १९

कवि ही माना है परन्तु इन पंक्तियों में ओज, उमंग और ललकार के अतिरिक्त एक संदेश भी तो है, वह संदेश है युद्ध के बीच दया और ममता के न पालन करने का। आदर्श ऊँचे हों, उनकी ऊँचाई के कारण हम उनका सम्मान करें, वहाँ तक पहुँचने का प्रयास करें परन्तु यथार्थ की कड़ुवाहट के कारण हम अपनी आँखें नहीं मूँद सकते।

व्यंग-प्रधान कविताएँ

आदर्श महत्वाकांक्षी हैं, चरम लक्ष्य है मनुष्य का। कवि तो समाज का वह भावुक प्राणी है जो तर्क-वितर्क से कभी-कभी दूर रहकर भी अपनी भावना का आधार लेकर कल्पना के पंखों पर मँडराकर आदर्श के आसमान में घूम आना चाहता है। 'दिनकर' की व्यंग-प्रधान रचनाओं के पीछे आधार एक तिलमिलाहट तथा खीज का है, जो उस स्थिति मे पैदा होती है, जब अपने निश्चित आदर्शों से वह जन-समुदाय को नीचे पाते हैं। यह मानसिक स्थिति की उस विशिष्ट दशा का द्योतक है कि कवि अपने चतुर्दिक वातावरण से ऊबा ऊबा है, उसके आदर्श, जो उसके अनजाने में समुदाय के लिए निश्चित किये गये थे उस आधार से जब वह लोगों को निम्न पाते हैं तभी व्यंग की सृष्टि होती है। उनकी व्यंग-प्रधान कविता में, स्वाभाविकता हमें इसीलिए मिलती है क्योंकि वह स्वाभाविकता अनुभूति गम्य है। भारत के प्रति कवि की पूर्ण आस्था है।

[illegible] यहाँ यदि कहीं दुर्व्यवस्था अथवा अभाव उन्हें दृष्टिगत होता है तो उन्हें यह स्थिति उकसा देने वाली ही हो जाती हैं। आजादी की पहली वर्ष गाँठ[1] शीर्षक कविता पूर्ण रूप से व्यंग-प्रधान है। आजादी कवि को प्रिय न हो ऐसी बात नहीं, उसे प्रिय है, बहुत प्रिय इसीलिए उसकी आजादी में दुर्व्यवस्था करने वाले लोग 'दिनकर' के कवि को किसी भी रूप में प्रिय नहीं हैं। यदि आजादी खादी के कुरते की एक बटन हो, नुकीली तनी हुई टोपी हो, तिरंगे को मोटर में लगाकर चलने के फैशन तक सीमित हो तो ऐसी आजादी कवि को खोखली ही लगती है।[2] उसकी दृष्टि में अनुशासन और ईमानदारी का अपना स्थान है। इसी स्थल पर उन्होंने लेट आने वाली गाड़ियों[3] स्कूलों की हड़ताल[4] पर भी भरपूर व्यंग किया है। आज के टोपी तथा कुर्त्ता धारियों को भी उन्होंने लक्ष्य करके कहा है—

---

१. दे० नीम के पत्ते पृष्ठ १७

२. आजादी खादी के कुर्ते की एक बटन, आजादी टोपी एक नुकीली तनी हुई,
फैशन वालों के लिए नया फैशन निकला, मोटर में बाँधे तीन रंग वाला चिथड़ा,
औ गिनो की आँखें पड़ती है कितनी हम पर, हम पर यानी आजादी के पैगम्बर पर!

३. हैं कहाँ तुम्हारी आजादी क्या? स्कूलों में, अनुशासन लंगड़ा हुआ जहाँ बिललाता है,
हड़ताल कर्ण भेदी प्रचण्ड कोलाहल में, हैं जहाँ शर्क भावी नेताओं के समूह?
या उस इञ्जिन पर जिसे ड्राइवर खड़ा छोड़ है चला गया बाजार कहीं सुर्ती लाने।

४. वही पृष्ठ १८

'टोपी कहती है मैं थैली बन सकती हूँ,
कुरता कहता है मुझे बोरियाँ ही कर लो,
ईमान बचा कर कहता है आँखें सबकी-
बिकने को हूँ तैयार खुशी हो जो दे दो !

आज के समाज की प्रत्येक वस्तु बिकने को तैयार है। ईमान की कोई बात ही न रही जो भी हो, जितना भी सस्ता हो, सस्ते से सस्ते मूल्य पर मानव अपने को, अपने ईमान को बेचने पर प्रस्तुत हो जाता है। अन्त में—

बिक रही आग के मोल आज हर जिन्स मगर,
अफसोस, आदमीयत की ही कीमत न रही ![1]

इसके अतिरिक्त और भी ऐसे कई स्थल हैं जहाँ कवि की सहज भावुकता देश की दयनीय स्थिति पर अथवा प्राप्त की हुई आजादी के निर्वाह करने पर तथा उस आजादी को शाश्वत बनाए रखने पर उमड पड़ी है। कवि देश की जनता से सीधा-सीधा सा प्रश्न पूछ बैठता है—

स्वाधीन हुआ किस लिए ? गर्व से ऊपर शीश उठाने को ?
पशु के समान अथवा खूँटे पर घास पेट भर खाने को ?
उस रोटी को धिक्कार बचे जिससे मनुष्य का मान नहीं,
खा जिसे गरुड़ की पांखों में रह पाती मुक्त उड़ान नहीं ! !

यद्यपि ऊपर की पंक्तियों मे आवेश है तथा भावना का पूर्ण निर्वाह है। इतना होते हुए भी इस का अर्थ तो है ही, महत्त्व तो है ही। मानव समाज के बीच ऐसी पंक्तियाँ ही तो कभी-कभी जागरण और प्रकाश देती आयी हैं। ऐसी रोटी-दासता की उस शृंखला की भाँति है जिसे पहनने के पश्चात् 'गरुड की मुक्त उड़ान' समाप्त हो जाय, चाहे जितनी भी मिलें, शृंखला चाहे कैसी भी, स्वर्ण की हो परन्तु 'मुक्त उड़ान' से बढ़कर सोने का मूल्य और रोटी का मूल्य नही है।

इस प्रकार से हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि 'दिनकर' के काव्य में व्यंग कहीं-कहीं बहुत ओजपूर्ण है ऐसा लगता है कि उसके निर्माण करने में कवि ने अपनी समस्त शक्ति, अपने शब्दों का समस्त जादू —जोश भरा जादू, शब्दों के मध्य उंडेल दिया हो, इन कारणों पर पहले ही संकेत किया जा चुका है। भगवान पर विश्वास की वास्तविक स्थिति भी उन्होंने भली भाँति समझी है। साधना, तपस्या, फकीरी ये सब कुछ, एक ओर दूसरी ओर मनुज का अपना स्वार्थ इतना प्रबल हो जाता है कि वह सम्पूर्ण साधना, भगवान के प्रति अपने विश्वासों को वह तोड़ भी देता है।

'लोगे कोई भगवान, टके में दो दूँगा,
लोगे कोई भगवान बड़ा अलबेला है,

---

१. वही पृष्ठ १८

साधना फकीरी और नहीं, खाओ, पियो,
भगवान नहीं असली सोने का ढ़ेला है ।'[१]

कवि की मनोदशा का ही वह चित्र है जिसमें उसके हृदय के सिंचित भाव उभर आते हैं। भगवान के स्थान पर अथवा नाम पर आभा स्वर्ण की ही उपासना तो सर्वोपरि हो गई है। कवि को इसी रूप में, बोलने के इसी ढंग से सँतोष मिलता है[२] क्योंकि उसकी बेचैनी समाज की विकृतियों को समाप्त कर देना चाहती है। उनके गीतों में व्यंग और उसकी चुभन इसीलिए अधिक है।

---

१. धूप और धुआँ—भगवान की बिक्री पृष्ठ १९

२. यह इसलिए कि मैं देखता हूँ कि इधर मेरे लिखने की तर्ज कुछ बदली हुई है और यह नयी तर्ज मेरी वर्तमान मनोदशा के मुआफिक भी आ रही हैं। यह प्रयोग है, या प्रगति मैं नहीं बता सकता। निश्चय पूर्वक मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आजकल इसी लहजे में बोलने में कुछ संतोष का अनुभव करता हूँ।"

धूप और धुआँ के दो शब्द से

सन्त काव्य और प्रेम काव्य का धरातल

हिन्दी साहित्य के काल विभाजन एवम् उन कालो के नामकरण के पीछे एक स्वस्थ पृष्ठभूमि है। अपभ्रंश एवम् प्राचीन हिन्दी का इतिहास ९वी शताब्दी से ही प्राप्त होने लगता है, परन्तु उसका निखरा हुआ स्वरूप, जिसके आधार पर हम किसी युग विशेष की व्याख्या कर सकते हैं तेरहवी सदी मे जाकर स्पष्ट होता है। यह एक ऐसा युग रहा है जब हिन्दी की मनोभूमि तैयार की जा रही थी। मनोभूमि से तात्पर्य आन्तरिक जगत से है, जिसपर बाह्य-तथ्यो का प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार से वही आन्तरिक जगत ही उस काल के काव्य की आत्मा बन जाती है। 'सन्त काव्य' जैसा नाम से ही स्पष्ट है सन्तो का काव्य था। सन्त धार्मिक जगत के वासी थे और अपने अनुभव के आधार पर ही मानवता के हित के लिए कुछ सिद्धान्तो को मान्य करते चलते थे, वही सिद्धान्त राग का आधार लेकर काव्य के रूप मे परिणत हो जाते थे। इसीलिए हिन्दी के ऐसे काव्य का नाम सन्त अथवा भक्ति काल ही पडा जिसमे सन्तो की वानियां, ईश्वर का अलौकिक सानिध्य, दाम्पत्य-भाव का प्रदर्शन, आदि तथ्य बहुतायत से मिलते है। सन्त-काव्य का नामकरण इतिहास मे अपनी एक विशेष महत्ता रखता है—इतिहास के नामकरण के पीछे उस युग की आत्मा और प्रखर शक्ति ही प्रेरक रहा करती हैं। वीरगाथा काल, वीरता की कहानियो और वीरो के गुणगान का काल था, अतएव ऐसे काल को वीरगाथा काल का नाम दे दिया गया, सन्त काव्य से भी तात्पर्य ऐसे सभी सन्तमतों से है जिसके द्वारा उस युग की विशेषता लक्षित होती है, साहित्य का मूल तत्व दार्शनिक सन्तो के विचारो तक ही सीमित रहा, अतएव ऐसे काव्य को सन्त का काव्य नाम दे दिया गया।

सन्त-काव्य के प्रारम्भ तक जाने के लिए हमे ९वी सदी तक अपने को खीच ले जाना है। इस समय बौद्धों की और सिद्धो की रचनायें, दर्शन और धर्म प्रधान हैं। यद्यपि सन्तकवि की रचनाओ मे हमे धार्मिक प्रेरणा ही मिलती है परन्तु उस प्रेरणा मे संकीर्णता नही आ पाई है, उपदेश ही प्रधान है। अतएव साहित्य सृष्टि की योजना न रखते हुए, सन्तो ने उपदेशात्मक प्रवृत्ति के द्वारा साहित्य-सृष्टि की है। उपदेश के पीछे उनकी मानव-हित की भावना ही छिपी हुई मिलती है। सम्पूर्ण मानवता को बुद्ध और सिद्धो का सन्देश रहा है। इन सन्तों का तत्कालिक राज्यो से कोई भी समन्वय नही रहा, उस समय

की राजनीति पर इनका आक्षेप नहीं परन्तु सामाजिक कुरीतियों को दबाने की चेष्टा कुछ सन्तो ने अवश्य किया है, और निर्गुणियों को छोड़ करके सगुण उपासकों ने अपनी उपासना का केन्द्र राम अथवा कृष्ण तक सीमित रखा और उन्हीं का चरित्र गुणगान, आदि करते रहे। राम और कृष्ण की उपासना के पीछे उस युग के आदर्श छिपे हुए थे और आदर्श का तात्पर्य ही एक युग विशेष के अभाव पर आश्रित कुछ सैद्धान्तिक संकेतों का हुआ करता है जिसको पालन करने से अन्तर्दर्शना मे एक विकास होता है। अतएव सन्त काल ऐसे आदर्शों का पुन्ज रहा है जो जीवन को विकसित करने का आध्यात्मिक मार्ग था।

सन्त काव्य का मनोभाव :—

सन्त साहित्य उपदेशात्मक रहा है। विक्रम की पन्द्रहवी सदी कबीर और उनके समसामयिक सन्तों का काल एक परम्परा स्थापित करता चलता है। परम्परा से तात्पर्य ऐसे सिद्धान्तो से है जो कि एक पीढ़ी द्वारा मान्य हुए और अनेक अनुगामी पीढ़ियों द्वारा जिसको माना गया। कबीर का विचार एक क्रान्तिमय विचार रहा है। इसका कारण है, कबीर की रचनाएँ मस्तिष्क पर उतना प्रभाव न करके हृदय में सीधी पैठती जाती है कारण है कबीर का पढ़े-लिखे न होना। समाज की नसों में प्रवेश करके कबीर उसके रक्त बन गए थे अतएव उन्हें अपनी अनुभूति द्वारा यह स्पष्ट होता चलता था कि समाज की धमनियों में कैसे रक्त का संचालन हो रहा है यह ऐसा ही सन्धि स्थल है जहाँ वाह्य जीवन आन्तरिक जीवन से मेल कर लेता है कबीर का आन्तरिक पक्ष जहाँ वाह्य जीवन से मिल जाता है वहीं अनुभूतियों से विवश होकर वह चीत्कार कर उठता है। अनुभूति पक्ष अधिक प्रबल होने के कारण वह यथार्थ प्रवृत्ति ही साहित्य के मूल रूप की स्थापना की कसौटी बन गई। सन्तों ने साहित्य रचा नही, उनका उद्देश्य साहित्य सृष्टि का नहीं रहा है उनका उद्देश्य उपदेश देना रहा है। ऐसा उपदेश जिससे जनजीवन में एक चेतना और जागृति का उदय हो। इन उपदेशों में प्रधान है।

१. दाम्पत्य भाव
२. उलटवासियाँ
३. प्रकृतिचित्रण।

सन्तों के साहित्य में दाम्पत्य भाव एक विशिष्ट स्थान रखता है। साध्य और साधक को अधिक निकट लाने के लिए और साधक की भावनाओं को आत्मसात करा लेने के लिए ब्रह्म अथवा ईश्वर को साध्य रूप में मानते हुए कहीं तो प्रेमी के रूप में कहीं प्रेमिका के रूप में माना गया है। यह परम्परा हमारे यहाँ की नवीन नहीं, पहले से ही चली आती रही है। भक्त कवयित्री गोदा की रचनाओं से प्रकट होता है जैसे उन्होंने अपने आराध्य देव को वरण कर लिया हो, आगे चलाने पर मीरा की रचनाएँ भी इसी ओर संकेत करती है। 'माई मैं तो सपने में वरण गई

नन्दलाल' से तात्पर्य क्या है मीरा का स्त्रीत्व स्त्रीत्व से ऊपर उठ करके भक्त के उस आवेशात्मक दशा में आ गया है जहाँ समाज का बन्धन इतना दृढ़ नहीं, जहाँ मान्यताओं को सीमित करके नही देखा गया और ऐसा विन्दु वही है जहाँ अपना व्यक्तित्व कुछ हैं ही नही, जो भी है ईश्वर का स्वरूप है, जिसके प्रकाशमें और जिसके प्रभाव से भक्ति 'गूँगे का गुड' बन जाती है ।[1]

अविगत अकथ अनूप देखा, कहत कह्या न जाई ।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूँगै जानि मिठाई ॥

× × ×

आपै में तब आपा निरष्या, अपन पै आपा सूझ्या ।
आपै कहत सुनत पुनि अपना, अपन पै आपा बूझ्या ॥

अन्त में भक्त कवि रैदास के अनुसार इस दशा मे पूर्ण एवं शान्तिमय सन्तोष की भी स्थिति आ जाती है और तब उस परम तत्व विषयक भजनादि की भी कोई आवश्यकता नही रह जाती—

जब तक है यह तन की आशा, तब लग करै पुकारा ।
जब मन मिल्यौ आस नहीं तन, को तब को गायन हारा ॥

अतएव सन्तों ने, भक्ति मे एक ऐसी भी स्थिति मानी है जब तन की आशा बिल्कुल रह ही नही जाती । यह स्थिति वह है जब शारीरिक कष्ट समाप्त हो जाता है यह मन का विकास माना गया है, मन जब विकसित है, जब उसको सानिध्य प्राप्त हो चुका है तब (शरीर) की आवश्यकता ही क्या । ऐसा सम्पूर्ण वर्णन दाम्पत्य भाव के अन्तर्गत आ जाता है एवं सांसारिक स्थिति को रूपक मान करके आत्मा और परमात्मा का मिलन बड़े ही स्वाभाविक ढंग से दिखलाया गया है । संक्षेप में कबीर[2] ने अपने साहित्य मे इस भाव का स्पष्टीकरण किया है औरआगे चल करके सूफी कवि भी इससे प्रभावित रहे हैं जिनके ऊपर पाश्चात्य प्रभाव

---

१. कबीर ग्रन्थावली (का० ना० प्र० सभा) पद ६, पृष्ठ ९०

२. भक्त का स्त्री रूप में अपने को स्वीकार करने के उदाहरण—

पुरुष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग,
जे जे जैसी ताहि सों, वे लै तिसही रंग ।

दादू दयाल की वाणी (अंगवधू) पृष्ठ ३४

दुलहिन गावहु मंगलचार
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ।

आदि

मनति नानकु समना का पिवु एको सोई,
जिसनो नदरि करे सा सोहागणि होई ।

आदि ग्रन्थ पृष्ठ ३५१

का तात्पर्य यही कि निर्गुणकाल, अनुभवों पर आधारित कविताओं के सृजन का काल रहा है। समाज की त्रुटियाँ उसके अभाव, विषमताएँ इस युग के 'बेपढ़' कवि को प्रेरित करती रही हैं कि वह कुछ लिखे—इस अवस्था मे उसने जो कुछ भी लिखा अथवा लिखवाया, वह अमर हुआ, इसका कारण यही था कि वह किसी पुस्तक की रटी हुई वस्तु नहीं थी, अनुभव की हुई चीज थी, अनुभूतियों का अवलम्ब पाकर वह पंक्तियाँ काव्य के रूप मे होकर वह समाज को संदेश देने लगीं।

भक्ति का दूसरा मोड़ प्रेममार्गी शाखा तक जाकर हुआ। हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों का सम्मिलन ही भारतीय प्रेमकाव्य का मुख्य तत्व है। मुसलमानी शासन के पश्चात् दोनों शक्तियों का सम्मिलन हो जाना ही उस युग के प्रगति की निशानी थी। दोनों सिद्धान्त एवम् दर्शनों को मानने वाली जनता के बीच केवल वही काव्यमत प्रचलित हो सकता था जो दोनों के हित एवम् लोकाचार के बातों का प्रदर्शन करता। प्रेमकाव्य का आधार ऐसा ही है। इस काव्य की समस्त कथा हिन्दू पात्रों के जीवन में घटित होती है। उदाहरण के लिए हम जायसी के 'पदमावत' को ही लें। पद्मावत की सम्पूर्ण कथा में वातावरण शुद्ध हिन्दुओं का सा है। इसके प्राकृतिक वर्णन में भी हिन्दुस्तान के ही अवलम्ब लिये गए हैं। वर्षा का वियोग, जाड़े में एकाकीपन का खलना, विरहणी का जल मरना[1] आदि भारतीय वातावरण का ही द्योतक है। मसनवी की प्रेम-पद्धति को भी इसी कहानी में मिला दिया है। राजा का बेहोश हो जाना,[2] विरह मे व्याकुल और विक्षिप्तों की भाँति हो जाना, ये सभी प्रवृतियाँ मसनवी प्रेम पद्धति से मिलती-जुलती हैं। किन्हीं किन्हीं स्थानों पर तो जायसी कबीर की भाँति हिन्दू मुसलमान के मेल कराने पर तुल जाते हैं। हिन्दू पात्रों के जीवन को उन्होने सूफी सिद्धान्तों से बाँधने की की चेष्टा भी की है। 'अखरावट' में एक ओर सूफीमत का वर्णन है दूसरी ओर वेदान्त का।[3] जायसी ने अपने काव्यों की कथावस्तु में ऐसा ही सम्मिलन किया है।

---

१. जाल कथा भइ कंत सनेहा, तोला माँस रहा नाहि देहा ! [पदमावत जायसी

२. सुनतहि राजा जा मुरछाई, जानो लहरि सुरुज कै आई,
प्रेम-घाव दुख जानि न कोई, जेहि जानै लागै पै सोई,
परा सो प्रेम समुद्र अपारा, लहरहिं लहर होइ विस मारा, [पद्मापत पृष्ठ ५३

३. ना नमाडा है दीन क थूनी, पढ़े नमाज सोइ बड़ तूनी,
कही सटीअत चिसती पीरू, उघरित असरफ औ जहगीर
तेहि कै नाँव चढ़ा हौ धाई, देखि समुद्र जल जिउन डेराई, [सूफीमत—३५३
तथा—मायाजारि अस आपुहि खोई, रहे न पाप, मैलि गई धोई,
गौ दूसर भा सुन्नहि सुन्न, कहँ कर पाप, कहाँ कर पुन्न,
आपुहि गुरु आप भा चेला, आपुहि सब भा, आप अकेला,
अहै सो जोगी, अहै सो भोगी, अहै सो निरमल, अहै सो रोगी। [पृष्ठ ३५४

यही कारण है कि उनका काव्य धार्मिकता के संकीर्ण वृत्त से ऊपर उठ कर जन-जीवन का हो गया। हिन्दू धर्म अथवा उस समय के प्रचलित किसी धर्म के लिए उनके हृदय में न तो श्रद्धा ही है न तो अपमान ही। अपने साहित्य द्वारा सूफीमत के उपदेशों का प्रचार करना भी इनका ध्येय नहीं रहा है, हाँ आधार वह अवश्य है। सम्पूर्ण कथा को एक प्रेम का स्वरूप प्रदान करके इस भारत में शुद्ध प्रेम का संदेश भी दिया गया है, साधक के लिए साधना का महत्व है और वह महत्व उसे अपनी ही दृष्टि में उठा देता है। सूफी काल का वर्णन आदि से अन्त तक हिन्दू वातावरण में हुआ है। सुआ, रानी नागमती, रतनसेन मे सभी पात्र आध्यात्मिक अभिव्यजना प्रस्तुत करते चलते हैं। कथा की समाप्ति पर सूफी मत का प्रभाव अवश्य दृष्टिगोचर होता है, भारतीय और सूफी मत की चिन्तनधारा के मिश्रण का यह संगम स्थल है।

इस बात की ओर तो हम ऊपर ही संकेत कर चुके है कि मुसलमान सूफियों पर हिन्दू वेदान्तियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सूफी धर्म सम्प्रदाय के रूप मे आया।[1] डाक्टर रामकुमार वर्मा ने इस धर्म को सम्प्रदायों के रूप में ही माना है और इसका विविध रूप, समय-समय पर भारत के कोनों में फैलता रहा है। सूफी धर्म ने इस्लाम धर्म के अधूरे कार्य को पूरा करना चाहा और इसमें सन्देह नही कि प्रेम, विश्वास और आस्था के आधार पर ये धर्मावलम्बी इस्लाम को बहुत प्रचलित कर पाये। अपने बर्ताव और सात्विक तत्व-बोध के कारण ये दूसरे को और भारत कीआध्यात्म और अहिंसावादी जनता को शीघ्र ही प्रभावित कर सके सूफी धर्म के चार सम्प्रदाय थे, इस बात की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है परन्तु इन चारो सम्प्रदायो मे मौलिक एकता थी, ईश्वर की एकता और सर्वोपरिता पर इन सभीका विश्वास था। केवल ऊपरी धर्माचरण मे अन्तर है[2] इसके अतिरिक्त भारत मे इतनी शीघ्रता से प्रचलित हो जाने का कारण एक और था वह था सूफी

---

१. १. चिश्ती सम्प्रदाय—सन् बारहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध

२. सुहरावर्दी सम्दाय—सन् तेरहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध

३. कादरी सम्प्रदाय—सन् पन्द्रहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध

४. नख्शबंदी सम्प्रदाय—सन् सोलहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध

२. कहीं ईश्वर के गुण जोर से गाये जाते हैं। कहीं मौन रूप से स्मरण किये जाते हैं कहीं गा कर कहे जाते हैं इत्यादि। चिश्ती और कादिरी सम्प्रदाय में संगीत का जो महत्व है वह सुहरावर्दी और नक्शबंदी सम्प्रदाय में नहीं है। पिछले सम्प्रदायों में नृत्य और संगीत धार्मिक भावना से अनुचित समझे गये हैं अन्यथा ईश्वर की उपासना के सरलतम मार्ग की शिक्षा सम्प्रदायों समान रूप से एक हैं।

[हि० सा० आ आलोचना पृष्ठ ४३४

धर्म में धार्मिक एकता के अतिरिक्त सामाजिक एकता और समता। सनातन मत के जात पांत के कड़े बन्धनों के कारण और सामाजिकों में जाति भेद के अन्तर के कारण हिन्दू जनता कुछ क्षुब्ध थी, इस असंतोष का कारण मनोवैज्ञानिक सत्यता के आधार पर भी था। सूफी धर्म ने इस जातीयता और आपसी भेद भाव को हटा दिया, इस लिए हिन्दू धर्म के विविध वर्णों के असन्तुष्ट सदस्य, इस्लाम के अन्तर्गत प्रसन्नतापूर्वक आ गए।

सूफी मत का यह दृष्टिकोण युग की अखण्डता को रखते हुए युगानुकूल था। सात्विक जीवन की समस्त सुविधाओं से भरपूर तथा समाज में वर्ग भेद को तोड़ कर समाधिकारी होने का प्रलोभन हिन्दू जनता को प्रिय लगा।

प्रेम मार्गी कवियों के पश्चात शुद्ध भारतीय तत्व-ज्ञान एवम् भक्ति से प्रभावित राम काव्य का विकास हुआ। उत्तरी भारत में राम काव्य के प्रचार का सम्पूर्ण श्रेय रामानन्द जी को दिया जाता है। अब तक राम चरित्र का विकास न होने के कारणों में से एक यह भी था कि राम काव्य संस्कृत में था। रामानन्द ने संस्कृत के साथ जन-समाज की बोली में राम चरित्र का उद्घाटन किया। रामानन्द्र के दार्शनिक एवम् सामाजिक उपदेशों ने उस जीवन के आदर्श कवि तुलसी का निर्माण किया। राम भक्ति का विकास ही हमें इस ओर संकेत करता है कि लौकिक जीवन में आदर्शों की कितनी महत्ता है। उस समय की परिस्थितियों के अनुसार यह इतिहास हमें बतलाता है कि जन-जीवन बड़ा ही दयनीय हो गया था—आपसी सम्बन्ध श्रद्धा एवम् भक्ति, राज्य प्राप्ति के लोलुप-विचारों एवम् संघर्षों में दब कर कराह रहे थे। बेकारी और जीविका विहीनी लोगों को पंगुल कर दे रही थी, तुलसी साहित्य में ही तदकालीन परिस्थिति का आभास होता है।[1] जाति-पाँति का बन्धन जो हिन्दू जनता में बहुत ही तीव्र था और उस तीव्रता ने हिन्दू धर्म के ह्रास में भी

---

१. ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटी को।
(तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खण्ड, दोहावली पृष्ठ ११४)

या

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिक न चाकर को चाकरी,
जीविका विहीन लोग सीयमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाइ का करि।'

या

(कवितावली पृष्ठ २२५)

दारिदो दुखारी देखि भूसुर भिखारी भीरु,
लोभ, मोह काम कोह कलिमल घेरे हैं।

(कवितावली पृष्ठ २४६)

बड़ी सहायता की, इसका समूल मूलोच्छेदन तो रामानन्द अथवा तुलसी नहीं कर सकें, हां इतना अवश्य हुआ कि उस बन्धन में जो तीव्रता थी, कटुता थी, जिससे निम्न जाति के लोग भक्ति करने के भी अधिकारी नही समझे जाते थे, उसे गया शक्ति कम करने का स्तुत्य प्रयास है।

राम कथा को काव्य के रूप में वर्णन करने का प्रयास वाल्मीकि ने भी किया। इनकी तिथि ईसा के ६०० या ४०० वर्ष पूर्व मानी जाती है। इनका दृष्टिकोण लौकिक है। राम के चरित्र का वर्णन-क्रमानुसार बतलाया गया, परन्तु वाल्मीकि ने राम को एक युगपुरुष मान लिया है, यही कारण है कि उस ग्रन्थ में धार्मिक भावोन्मेष एवम् अन्ध विश्वास का दर्शन नहीं होता ऐसा प्रतीत होता है कि इतिहासकार ने राम के व्यक्तित्व को जैसा का तैसा उठा कर रख दिया हो। राम प्रारम्भ से अन्त तक मानव हैं उनमें देवत्व की छाया अवश्य है। वे धीरोदत्त नायक हैं, महापुरुष हैं, महात्मा हैं। अतएव राम काव्य में हम यह देखते हैं कि युग की आवश्यकता के अनुसार सामाजिक विघटनो को दूर करने के रूप में तथा जनता के समक्ष एक सुलझा हुआ आदर्श के रूप मे राम चरित उपयोगी सिद्ध हुआ है। हमें रामभक्त कवियों ने, राम चरित को कितना लोकोपयोगी और महान बतलाया है इसी का अध्ययन करना है और राम साहित्य की प्रगति भी इसी दिशा में निहित है कि इस साहित्य द्वारा सामाजिक परिवर्तन और धार्मिक रूढ़ियों के विश्वास में कितनी कमी हुई।

राम साहित्य में वैष्णव धर्म के आदर्श प्रमुख हैं। इसी कारण सेवक और सेवा भाव पर अधिक बल दिया गया। ज्ञान और कर्म भक्ति के क्षेत्र में कोई विशेष अर्थ नहीं रखते, भक्त अपने सारे दर्शन और बौद्धिकता को विस्मरण कर साधारण जनता के मानसिक स्तर पर आ जाता है वह अपना सब कुछ—अपना सेल्फ, अपना अह्म और अपनी सत्ता भी भूल जाता है, अपने आराध्य-देव के चरणों पर उसे अर्पित कर निछावर कर देता है। वैष्णव धर्म में इसीलिए भक्ति श्रेष्ठ भी मानी गई है क्योंकि उसमें सब कुछ खोकर कुछ न पाने की भावना निहित रहती है। भक्तों की यह भावना जिसमें आत्म-त्याग की इच्छा निहित है, सराहनीय है। तुलसी ऐसे ही दर्शन के कवि थे जिन्होंने अपना सर्वस्व राम के चरणों में निछावर कर दिया।

संत तुलसीदास ने राम चरित्र का आधार लेकर मानव जीवन की व्यापक और सम्पूर्ण व्याख्या की है। इनके आदर्श इतने प्रौढ़ एवम् ठोस धरातल पर आधारित हैं कि विश्व की कोई भी शक्ति और समय का कोई भी अंश उन्हें मिटा नहीं सकता, इसीलिए वह युग-युग के कवि माने जाते हैं। इनकी भक्ति केवल आकाश-विहारिणी ही नहीं है परन्तु जन-जीवन के मिट्टी के धरातल पर उसका आधार है। वह तत्कालीन धर्म अव्यवस्था में पथ-प्रदर्शन करती है। कवि ने अपनी लगभग सभी रचनाओं में उस धर्म एवम् सुधार का बड़ा ही ध्यान रखा है। इस अर्थ में तुलसी

सुधारक भी सिद्ध होते हैं। 'राम लला नहछू' इसका प्रमाण है। उक्त पुस्तक में विवाह के पूर्व नहछू की क्रिया की लीला गाई गई है। नहछू एक ऐसी रचना है जिसे लोग चलते-फिरते गा सकें और विवाह आदि के अवसरों पर होने वाले अश्लील गीतों का स्थान भी इन्हीं सोहरों ने लिया है। जन-साधारण की रुचि के लिए सम्भवतः आवश्यकता से अधिक शृङ्गार की भावना निहित है। इसके अतिरिक्त काव्य को (विशेषकर रामचरित को) यह जन साधारण की वस्तु तथा निधि बनाना चाहते थे, संस्कृत की क्लिष्टता के कारण सभी लोग वाल्मीकि का पारायण नहीं कर पाते थे, 'रामचरित मानस' की रचना अवधी में करने का तात्पर्य यही था कि 'सुरसरि सम सब कर हित होई' उन्होंने राम की कथा को इतनी व्यापक बना दिया जैसे गंगा का पानी हो उसकी स्वच्छता चाहे जिस किसी के लिए क्यों न हो, स्वच्छता ही मानी जायेगी और सभी को पवित्र करेगी, उसी प्रकार से राम की कथा भी जो सुने उसे हितकर ही सिद्ध होगी। संस्कृत के विद्वानों ने इनका इसी बात पर विरोध किया है परन्तु ये अडिग रहे। तुलसी के सर्वप्रिय होने का यही कारण है, उनकी रामकथा का पाठ झोपड़ियों से महलों तक तथा हाई स्कूल के विद्यार्थी से लेकर एम. ए. तक के विद्यार्थी के लिए उपयुक्त समझा गया। जन कवि का यह एक प्रगतिशील एवम् सफल प्रयोग है तथा प्रमाण भी है।

यह तो तुलसी साहित्य की कथा वस्तु तथा उसके वाह्य कलेवर की मीमांसा रही—अब हमें तुलसी के काव्य के रचना - तत्व पर विचार करना है। तुलसी के पूर्व हिन्दी साहित्य में गीति - काव्य का प्रचलन नहीं था, यद्यपि विद्यापति और कबीर ने गीति-काव्य में ही अपनी भक्ति - भावना का स्पष्टीकरण किया था, परन्तु उनकी भक्ति - भावना और तुलसी की भक्ति - भावना के स्वरूप में बहुत अन्तर है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण का शृङ्गारिक वर्णन गीति - काव्य के अन्तर्गत किया- उसमें भक्ति की भावना अधिक नहीं थी, गीति में राग होने के कारण एन्द्रिय जन्य विचार बड़ी ही कोमल पदावली में और गतियुक्त (Forceful) शब्दावली में व्यक्त हो जाते हैं—शृंगार सम्बन्धी वर्णन ही इस शैली में अधिक सफल हुए हैं। अतएव विद्यापति पदावली मे भी शृंगारिक भावनाएँ गीत में और राधा कृष्ण का चरित्र-गान पदों में व्यक्त हुआ है।

कबीर की रचना भक्तिमयी होते हुए भी तुलसी के साकार राम को सुलझी हुई भावना की भाँति निरूपण न कर सकी। आत्म समर्पण जो भक्ति का सर्वस्व है, भक्त जिसके सहारे अपने को भगवान पर निछावर कर देता है, वह आत्म समर्पण की भावना कबीर की भक्ति में नहीं मिलती।

अतएव तुलसी ने किसी भी पूर्ववर्ती कवि से अपने भक्ति का आदर्श नहीं उधार लिया, अथवा अनुकरण किया। दास्य की भावना, आत्म समर्पण का विचार सर्वथा मौलिक विचार था, जिसने भक्ति के भिन्न क्षेत्र में एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित

किया। विनय पत्रिका इसी दृष्टिकोण का फल है और गीतावली तो रागों का क्रमिक भण्डार है।[1] गुणों में माधुर्य और प्रसाद का प्राचुर्य है। 'विनय पत्रिका' का दृष्टिकोण बहुमुखी है, बहुमुखी इस अर्थ में कि साधना का रूप अनेक प्रकार का है। यद्यपि राम ही सर्व प्रमुख है सम्पूर्ण रचना में केवल एक रस ही पाया जाता है, वह है 'शान्त'। इस रस के कारण और कोई रस की स्वतंत्र रूप से सृष्टि नहीं हो सकी है।

'रामचरितमानस' भी अपने युग की एक बेजोड़ रचना है। राम का सम्पूर्ण चरित सात काण्डों में विभाजित है। 'मानस' के समस्त छन्द दस हजार हैं। 'रामचरित मानस' की भूमिका में स्व० रामदास गौड़ ने चौपाइयों की संख्या 'सत पंच चौपाई मनोहर' बतलाया है। डा० वर्मा जी ने सत पंच का अर्थ 'सत का अर्थ १०० पंच का पाँच लेकर ५१०० माना है। जो सर्वथा उचित लगता है।

इस प्रकार से भक्ति क्षेत्र की रचनाओं में कथावस्तु तथा शैली में नवीन प्रयोग हो रहा था। अब हमें यह देखना है कि तुलसी अपने समय की परिस्थितियों से कितने ऊपर उठे हुए कवि हैं तथा उन्होंने धार्मिक मतभेदों को तटस्थ रहकर कैसे एक सम्यक राह प्रदान किया। अब साहित्यिक प्रगति का तात्पर्य समझाते हुए हम इस ओर संकेत कर चुके हैं कि उच्चकोटि का साहित्य अपने युग की परिस्थिति को पीकर आगे बढ़ता है और वह संदेश इस कोटि का देता है जो जन-जीवन को व्यापक बना कर समय की परिधि को नाँघ कर आगे बढ़ता रहा। तुलसी का दृष्टिकोण चाहे वह धार्मिक हो, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक हो, ऐसा ही रहा है। तुलसी का समय उनकी प्रतिभा और दृष्टिकोण की व्यापकता को नापने की कसौटी के रूप में है। मुसलमानों का शासन, और वह शासन भी इस प्रकार का जिसमें हिन्दुओं के प्रति बहुत उदार दृष्टिकोण न हो, धार्मिक सहिष्णुता तो नहीं ही के बराबर थी, ऐसे समय में तुलसी ने अनेक मतों एवम् पंथों से समझौता किया। उनके समय में शैव भक्ति और पुष्टिमार्गी अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे। महाकवि ने वैष्णव धर्म का इतना व्यापक रूप दिया जिसमें उस समय की सभी चिन्तन धारा में एवम् मतमतान्तर तिरोहित हो जाँय। राम और शिव के भक्तों को एक सा ही बतला कर शैव और वैष्णव में सम्मिलन की ही बात कही गई है।[2]

---

१. गीतावली में जिस क्रम से राग आये हैं वह इस प्रकार हैं।
आसावरी, जयतश्री, विलावल, केदारा, सोरठ, धनाश्री, कान्हारा, कल्याण, ललित, विभास, नट, टोडी, सारंग, सूहीमलार, गौरी, मारू, भैरव, चँचरी, बसन्त और रामकली।

२. सिव द्रोही मम भगत कहावा सो नर सपनेहु मोहि न भावा,
शंकर विमुख भगति चहि मोरी, सो नारकी मूढ मति थोरी।

इसके अतिरिक्त उस समय के पण्डितों के वाद-विवाद का प्रमुख विषय था ज्ञान अथवा भक्ति। निर्गुण अथवा सगुण। निर्गुण भक्त के सीधे ज्ञान का आधार था और सगुण भक्ति के पीछे भक्ति का। तुलसी ने ज्ञान और भक्ति में भी सम्बन्ध स्थापित किया है, उन्होंने ज्ञान और भक्ति में कोई विशेष अन्तर ही नहीं माना[1], ज्ञान की अपेक्षा उन्होंने भक्ति को किसी - किसी स्थान पर विशेष महत्व दिया है। उत्तर काण्ड का उत्तरार्द्ध इसी समीक्षा को सुलझाने में लिखा गया प्रतीत होता है। इस विवदास्पद समस्या का फल यही निकाला गया है कि ज्ञान भी मान्य है, परन्तु भक्ति को भी नहीं भूला जा सकता।[2] इस प्रकार से भक्ति के क्षेत्र में भी विवादों को समाप्त कर उनके मूलभूत सिद्धान्तों की ओर संकेत कर तुलसी ने अपने परिमार्जित विचारों का पूर्ण परिचय दिया है। यही संक्षेप में तुलसी साहित्य का दृष्टिकोण है।

कृष्ण-काव्य

प्रश्न उठता है कि राम काव्य के साथ ही साथ एक दूसरे वर्णन से प्रभावित एवम् दूसरे सिद्धान्तों से सम्पादित धार्मिक धारा की आवश्यकता क्या पड़ी। राम काव्य के समान कृष्ण काव्य की धारा चल रही थी फिर भी एक दूसरे से प्रभावित न हो पाए। इसका कारण है भक्ति के क्षेत्र में विचारों की विषमता। राम काव्य का मर्यादा सम्बन्धी विचार जीवन को एक आदर्श तो दे सका, राम और सीता का तथा उससे भी बढ़कर उर्मिला का त्याग उच्चकोटि का आदर्श समाज के समक्ष रख पाया तो अवश्य परन्तु जीवन का यथार्थ अछूता रह गया, जीवन की पूर्णता केवल आदर्श में ही अथवा अच्छाइयों में भी ही नहीं है उसकी पूर्णता जीवन के दोनों पक्षों में है सद, और असत् अथवा बाल-किशोर एवम् प्रौढ़। इस क्षेत्र में तुलसी के अधूरे वर्णन को सूर आगे लेकर बढ़े हैं। तुलसी ने राम के बाल वर्णन एवम् किशोर वर्णन को इतनी महत्ता नहीं दी है जितनी कि सूर ने बाल एवम् किशोर वर्णन को पूजा है। ऐसा लगता है जैसे जीवन की पूर्णता कृष्ण के बाल एवम् किशोर वर्णन में ही हो।

तुलसी के वर्णनों में मर्यादा का निर्वाह पूर्ण रूप से किया गया है। श्री राम के जीवन में उन्हें आदर्शों की ही भीड़ दिखलाई पड़ी है, यथार्थ अथवा जीवन का कड़ुवा घूँट भी राम कथा में कथा के नायक राम ने पिया है परन्तु उसे भी विवश

---

१. भगतिहि ग्यानिहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा,
नाथ मुनीस कहहिं कछु अन्तर, सावधान सोइ सुनु बिहगबर।

मानस पृ० ४९४

२. जो असि भगति जानि परिहरहीं, केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं,
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी, खोजत आक फिरहीं पय लागी।

वही

होकर अथवा परिस्थितिवश नहीं वरन् इस लिए कि आदर्श की रक्षा का धर्म यही कहता है सूर के कृष्ण बहुत यथार्थ है वे अपनी अच्छाइयों के साथ अपने जीवन में पूरे साधु उतरते है, दास्य भाव की भक्ति को छोड़कर सूर ने सख्य भाव की ही भक्ति अपनाई। सूर के कृष्ण काले हैं, अतएव स्नेह के वश होकर गोपियाँ उन्हें काले कह कर कोसती भी हैं। भक्ति के क्षेत्र मे अपने आराध्य को पूजने का यह नया ढंग है। इसके अतिरिक्त उस समय के प्रचलित विवाद सगुण और निर्गुण के पचड़े को भी सूर ने बड़ी ही अच्छी तरह सुलझाया है। उद्धव को निर्गुण भक्ति का प्रचारक बना कर और प्रेममयी गोपियों से मीठी गाली सुनाकर सूर ने निर्गुण के प्रचारकों का मुँह बन्द कर दिया। उन्होंने यही संदेश दिया कि भक्ति हृदय की वस्तु है अतएव श्रद्धा और प्रेम की कसौटी हृदय ही है मस्तिष्क नही...गोपियों का भावावेश एवम् निर्गुण और सगुण पर तर्क न करने की प्रवृत्ति सगुण की पुष्टि ही नहीं उस समय के जनता के मस्तिष्क में इसे बिठा देती है कि भक्ति का आधार हृदय है और कृष्ण का रूप, उनका रंग हृदय को शान्ति देता है, वह तो सब कुछ 'मोहन लला' पर वार देती हैं, भक्त के आत्म समर्पण के अतिरिक्त और भगवान को चाहिए का व्रत, संयम और नेम ये सभी तत्व भक्ति के ऊपरी दिखावे हैं, आन्तरिक हृदय की शुद्धि है, और सबसे महान् है सखा के रूप में कृष्ण पर सब कुछ वार देना, और अन्त में भूल जाना कि भक्त और भगवान की सत्ता है। पुष्टि मार्ग के द्वारा इसे प्रोत्साहन मिला है जिसमें भक्ति भावना ही साधन है।

कृष्ण काव्य में अधिकतर गीतों का प्रयोग हुआ है, इसके कारण की ओर हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि कृष्ण की भक्ति में हृदय प्रधान है, अतएव हृदय पक्ष के सबल होने के कारण गीत अपने आप फूट निकले हैं इसके अतिरिक्त पुष्टिमार्गी भक्तों के लिए कीर्तन का भी विधान है, कीर्तन में गेय वृत्ति सब कुछ है, इसीलिए कृष्ण काव्य में गीति की लय युक्त माधुरी सर्वत्र बिखरी है। हृदय से निकली हुई भावनाएँ आपसे आप लय युक्त हो गई हैं।

भारतेंदु के साहित्य का स्वरूप एवम् आधार भूमि

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों के दृष्टिकोण से भारतेन्दु युग एक महत्व-पूर्ण युग है। रीतिकाल के पश्चात् इस काल का आविर्भाव हुआ, बदलती हुई राज-नीतिक परिस्थितियों ने सामाजिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन उपस्थित किया फलस्वरूप यह युग अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों में विकसित हुआ। इस काल में प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन और विकास इतनी शीघ्रता से हुए कि हम इस युग में नई भावनाएँ, नई नई मान्यताओं को पनपते हुए पाते हैं। उन्नीसवीं सदी के साहित्य में केवल मुक्तक तथा शृंगार प्रधान काव्यों को ही अधिक महत्व दिया गया, इसके अतिरिक्त गद्य का विकास हो ही नहीं पाता था, व्यक्तिगत रचनाएँ तथा दरबारी संस्कृति से सनी हुई कवितायें तो प्रायः अब तक मिलती थीं, भारतेन्दु युग के काव्य के अन्त-रात्मा में परिवर्तन और विकास स्पष्ट लक्षित होता है, काव्य व्यक्तिगत स्वर से उठ कर और ऊपर राजभक्ति एवम् देशभक्ति के स्तर तक आया, उसमें व्यक्तिगत अनुभूतियों के स्वर प्रधान न होकर सामूहिक स्वरों की प्रधानता रही।

उपन्यास क्षेत्र में 'चन्द्रकान्ता' और 'गुलवकावली' जैसी कुछ पुस्तकें प्राप्त थीं। इन उपन्यासो में सस्ते किस्से लिख दिए गए थे, इसके अतिरिक्त इन उप-न्यासों की भाषा भी उतनी नपी-तुली और साफ नहीं हो पाई थी। उन्नीसवीं सदी से जो भाषा की परम्परा प्राप्त हुई उसका शब्द भंडार बहुत क्षीण था, उसमें विकृत, अप्रचलित एवम् प्राचीन शब्दों का आधिक्य था, अतएव भाषा का यह रूप विचारों को लेकर आगे बढ़ने में सर्वथा अनुपयुक्त हो गया, पद्य साहित्य में तो ब्रज भाषा का कलेवर अपने माधुर्य के कारण, अपना एक विशिष्ट स्थान रखता था परन्तु गद्य साहित्य में भाषा का मधुर रूप गम्भीर एवम् कहीं-कहीं नीरस विचार को वहन करने में सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध हुआ। अतएव भारतेन्दु युग में गद्य की भाषा खड़ी बोली हुई, और इसी के माध्यम से गद्य रचना प्रारम्भ हुई।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु-युग प्रवृत्तियो में विशेष रूप में उल्लेखनीय है। लोक गीतों का महत्व निर्धारण करना एवम् उसका प्रचार। उनका ध्यान जन-

साधारण की ओर अधिक था अतएव कुछ ऐसे गीतों एवम् अन्य रचनाओं की ओर भी उनका ध्यान गया था जो कि जन-हित तथा सर्वजन सुलभ हों।[1]

भारतेन्दु बाबू ने बहुत सा लोक साहित्य तैय्यार किया था, और अपने अनुभव के अनुसार लोक साहित्य की उपयोगिता समझ करके लोगों को इस साहित्य के लिखने की ओर प्रोत्साहित भी किया है। इसका कारण था, भारत के ऊपर जो बाह्य संस्कृति तथा साहित्य का स्वर बरबस फैलाया जा रहा था, और उन लोगों के मध्य से भारतीय संस्कृति एवम् शिक्षा दीक्षा को निकाला जा रहा था, इसलिए आवश्यकता इस बात की थी अपने अतीत के वैभव को पहिचाना जाय और उसे बनाए रखने के लिए उसे सर्व सुलभ करना था, वह तभी हो सकता था जब लोक साहित्य रचा जाय, उसे सभी समझें और उन पक्तियों को अपने जीवन में ढाल लें।

उनके समय के साहित्य की अन्य विशेषता है राज भक्ति और देश भक्ति की भावना राजभक्ति त ो उस समय उसी समय के राजा की थी, और उसी समय के राज्य की ओर भ क्ति भी उन्मुख थी। 'पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीवो सदा विक्टोरिया रानी' कह कर विक्टोरिया की वन्दना की गई है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि भारतेन्दु को विक्टोरिया प्रशस्ति तैय्यार करना था, मुगलों के शासन के बाद अंग्रेजी शासन आया था और हिन्दू जनता को उस समय धर्म, ऐतिहासिक अथवा किसी भी क्षेत्र में जबान खोलने को भी नही मिलता था, विक्टोरिया के घोषणा

---

१. कवि वचन सुधा में उनकी एक विज्ञप्ति प्राप्त है जिसमें उन्होंने स्पष्ट लिखा है—भारतवर्ष की उन्नतिके जो अनेक उपाय महात्मागण सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किन्तु वे जनसाधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गांव-गांव में प्रचार की जायें। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी—उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना शीघ्र ग्राम गीत फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव पड़ता है उतना साधारण शिक्षा में नहीं होता।

और भी…………

जिन लोगों का ग्रामीणों से सम्बन्ध है वे गांव में ऐसी पुस्तकें भेज दें। जहाँ कहीं ऐसे गीत सुनें उसका अभिनन्दन करें। इस हेतु बहुत ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छन्दों में और साधारण भाषा में बनें, बरन गवांरी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हो।

—कविवचन सुधा

मई १८७९

पत्र ने थोड़ी सी स्वतन्त्रता दे करके भारतवासियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था, अतएव इतने बड़े शासन के पश्चात उतनी सी स्वतन्त्रता भी भारतीयों को बहुत सुखकर लगी, उन्हीं परिस्थितियों में यह पंक्ति का सृजन हुआ होगा, अतएव अपने देश प्रेम की भावना से विह्वल होकर और अपने को थोड़ा सा भी स्वतन्त्र हुआ समझ करके, स्वतन्त्र करने वाले के प्रति यदि शुभकामना प्रगट कर दी गई हो, तो राजभक्ति का ही प्रमाण है। इसके अतिरिक्त पं० प्रतापनारायण मिश्र की कविता ब्रेडला स्वागत भी एक सुन्दर उदाहरण के रूप में आ सकती है।

भारतेन्दु युग की कविता का राजभक्ति की ओर मुड़ जाना एक बढ़ा हुआ चरण था। अंग्रेजों के प्रति वे उन्मुख नही थे उनकी उन पर भक्ति नहीं थी, केवल जो भी भक्ति उनकी अंग्रेजी शासन पर है वह भारत को इनसे नियंत्रित जीवन से मुक्त करके थोड़ा कम नियंत्रण लगाने से है। यदि एक ओर उन्होंने ड्यूक की प्रशंसा की है, उनके काशी में आने के अवसर पर कवित्त लिखा है तो दूसरी ओर उन्होंने अंग्रेजों को समझा भी है, उन्हें इस बात का भी ज्ञान था कि ये अंग्रेज भीतर-भीतर तो सब रस चूस ले रहे हैं, वे केवल बाहरी बातों में ही तेज हैं।

इस प्रकार से राजभक्ति की भावना का भी सूत्रपात यहीं से हुआ है, यद्यपि अंग्रेजों के प्रति श्रद्धा और शासन के प्रति आस्था प्रकट करने की भावना आज के साहित्य में टूट गई उसका स्थान विद्रोह ने ले लिया परन्तु उस समय की परिस्थिति ने इन्हें देशभक्ति की ही भावना से विवश हो ऐसे पदों को रचने की प्रेरणा दी थी। इसके अतिरिक्त देशभक्ति की भी भावनाएँ पाई जाती हैं। विक्रम वल्लरी और विजयनी-विजय वैजयन्ती में दो रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें अपने देश के प्रति उठे हुए भावों और अनुभावों को दिखवाया गया है। अंग्रेजों के अफगान विजय पर और इन्हीं के मिश्र विजय पर ये दोनों कविताएँ आधारित हैं। इन दोनों युद्धों में भारतीय सेना अंग्रेज सेनाध्यक्षों की देख रेख में लड़ने को भेजी गई थी, भारतीय सेनाओं की विजय ही अंग्रेजों की विजय थी, इस प्रकार से भारतेन्दु जी ने अंग्रेजों की विजय को अपनी ही विजय समझा है। इसी भावना के अन्तर्गत आ करके भारतेन्दु ने अपने भावों का देशभक्ति के प्रति स्पष्टीकरण किया है। विजय वल्लरी में अंग्रेजी शासन के द्वारा भारतीयों पर लादे गये विधानों के प्रति भी व्यंग्य है, जिसमें कि भारतेन्दु ने स्पष्ट कर दिया है कि भारत में आतंक क्यों मचा हुआ है क्या यहाँ से कर उठा लिया गया है अथवा जनसाधारण के लिए सिविल सर्विस का पथ साफ कर दिया गया है। उस समय के पत्रों पर लगाए गए

प्रतिबन्धों के प्रति भी इसमें चर्चा है। इन सभी प्रतिबन्धों से, कवि को आन्तरिक कष्ट था. इसका स्पष्ट उदाहरण मिलता है।[1]

इनकी दूसरी रचना है 'विजयनी विजय पताका या वैजयन्ती'। इस रचना में भी देशभक्ति के स्वर मिलते हैं। भारत में जयजयकार होने का कारण कवि को ठीक नही ज्ञात है तब कोई उत्तर देता है—क्या तुमको पता नहीं कि आज तड़ित तार के द्वारा समाचार मिला है कि भारतीय सेना ने मिश्र में महान् संग्राम किया है और शत्रुओं को भगा कर अरबी पाशा को कैद कर लिया है। इस प्रकार के सम्बोधनों के द्वारा कवि ने भारत के वीरों की एकप्रशस्त रूप-रेखा दी है। इन्होंने भारत के ऋषियों, शूरो मधुर कवियों और बुद्धिमानों की भी चर्चा की है, अन्त में भारत की गत समृद्धि के चिन्ह की कहानी कह करके भारतेन्दु आधुनिक भारत पर द्रवित होते है। भारत की वह भूमि जो कभी समृद्धशाली थी आज दुखारी हो गई है। पञ्चनद, पानीपत और चित्तौड़ का वह अमूल्य बलिदान कवि को आज दुःखी कर दे रहा है केवल इसीलिए कि आज देश की वह दशा नहीं रह गई है।[2]

इस प्रकार से इस कवि के साहित्य में राजनीतिक चेतना व्याप्त हुई दिखलाई देती है। इस चेतना ने केवल साहित्य को ही नहीं चुना, परन्तु इसके बीज चारों तरफ उड़-उड़ करके पड़े समाज की ओर मुड़ने पर हमें यह स्पष्ट होता है कि शासन के बदल जाने के फलस्वरूप सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में भी नवीन चेतना व्याप्त हो गयी थी।

आर्य समाज

ब्रह्म समाज के अतिरिक्त एक दूसरी संस्था आर्य समाज के नाम से उठ खड़ी हुई। सन् १८७५ में स्वामी दयानन्द ने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। स्वामी दयानन्द का विचार, इस प्रकार से, सामाजिक दशा को सुधारने का था उनका विश्वास का कि भारतीय परतंत्रता में मुख्य बात समाज की हीन दशा का है, यदि समाज की दशा सुधर जायेगी तो अपने आप चेतना व्याप्त हो जाने पर, लोग सशक्त हो जायेंगे। अतएव उनकी दृष्टि समाज की ओर जाना स्वाभाविक ही था।

दयानन्द को उस समय यह प्रतीत हुआ था कि ब्राह्मण हिन्दू धर्म में सब कुछ

---

१. कहा भूमि कर उठि गयो, के टिक्कस भो माफ,
जनसाधारण को भयो किधौं सिविल पथ साफ।
नाटक अरु उपदेश पुनि समाचार के पत्र,
कारा मुक्त भए कहा जों अमन्द अति अंग,
कै प्रतच्छ गो वधन की, जवनन छाड़ी बान,
जो सम आर्य प्रसन्न अति, मन मँह मंडल मान।

२. हाय वही भारत भुवि भारी,
सबही विधि ते भई दुखारी।

माने जाते हैं। प्रत्येक ब्राह्मण ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है और ईश्वर की इच्छाओं एवम् आज्ञाओं का प्रतिनिधित्व भीवही कर रहे है। ब्राह्मण को जन्म से ही इसी रूप में पूजा जा रहा था और उन्हे ही ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर सारी आज्ञायें एवम् नियमन उन्हीं द्वारा हो रहा था। वह अकेले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह निर्धारित कर सकते थे कि वह क्या कर सकता है और वह किस पर विश्वास करे।[1] इस प्रकार से दयानन्द को यह बात खली थी, ब्राह्मणों का पूजा जाना तो उतन समाज को गलत राह नही दे रहा था जितना कि उनके द्वारा कहे गए प्रत्येक वाक्यो का वेद वाक्य के रूप में कहा एवम् समझा जाना। संस्कृत को उन्होंने इतना पवित्र मान रखा था और उनमें कहे गये मंत्रों को इतना पवित्र समझा जाता था कि शूद्रों एवम् और निम्न-जाति के लोगों को उसे कहने तक का अधिकार नहीं दिया गया था, दयानन्द ने इन बातों का विरोध किया। उन्होने वेद को सब के लिए सुलभ किया, उसकी टिप्पणी देकर एवम् अनुवाद प्रस्तुत करके वेद सर्व सुलभ कराने का श्रेय इन्हीं को है।[2] यद्यपि वेद को पढ़ने एवम् समझने का अधिकार केवल उच्च-जाति के लोगों को था फिर भी ब्राह्मणों में भी केवल कुछ ही लोग थे जो चारों वेदों का अर्थ समझ पाते थे, यह तो वास्तविक स्थिति थी। दयानन्द ने इस स्थिति को देखकर सुधारने की कोशिश की। इस प्रकार से सभी जाति के लोगों को वेद पढ़ने, सुनने और समझने की सुविधा इन्होने प्रदान किया, यह बड़ा महत्वपूर्ण कदम था। हिन्दू जाति में ही आपसी मतभेद बढ़ रहा था, एक दूसरे को निम्न समझने का दृष्टिकोण दृढ़ होता जा रहा था, दयानन्द ने इसी भाव को दूर करने का प्रयास किया, फलस्वरूप आपसी मनोमालिन्य की भावना दूर होने लगी, एक दूसरे को हेय समझने की भावना ही हिन्दू जाति को मतभेदों से उलझाये जा रही थी, दयानन्द ने इस प्रकार से सभी लोगों में वेद समझने और सुनने की सुविधा प्रदान कर, आपसी मत-भेद को हटाने का प्रयास किया।

सभी जाति के लोगों में वेद का प्रचार करने के लिए स्वामी दयानन्द को विरोध भी सहने पड़े। एक ओर तो हिन्दू धर्म और समाज की रूढ़ि, अन्ध विश्वास तथा अपरि-

---

1. He alone could say what was religion and what was not. He alone could lay down for every man what he was to believe and to do.

—The Arya Samaj, Lajpat Rai pp. 72

2. Any one seeing modern India in the 20th century can scarcely conceive that within thirty years of the close of nineteenth century the Vedas were a sealed book in India and no one could even read them, much less could quote them in open meetings composed of all classes of men, Hindus and not Hindus alike.

—The Same pp. 81

वर्तनशीलता की प्रवृत्ति थी दूसरी ओर नवीन ईसाई धर्म का प्रचार भी था, ईसाई धर्मावलम्बी दूसरे सुधारवादी आन्दोलन को कर रहे थे। उन्हें तरह-तरह की सुविधायें भी प्राप्त थीं, उनके पास अतुल धन, राजनीतिक सत्ता तथा कुछ अर्थों में नवीनता (भारत के लिए) प्राप्त थी। इसी आधार पर वे बढ़ते जा रहे थे ईश्वर के स्थान पर ऐहिकता और भौतिकता को महत्त्व दिया जाने का प्रचार हो रहा था, इस कारण से हिन्दुओं का धर्म और जीवन भी अस्त-व्यस्त सा हो रहा था, एक ओर तो बढ़ता हुआ ईसाईपन उन्हें भौतिकता की ओर खींच रहा था दूसरी ओर उनका मतवादी संघर्ष, मतभेद, अपरिवर्तनशीलता की भावना, उन्हें घेरे थी, स्वामी दयानन्द को इन्हीं परिस्थितियों में आर्य समाज का प्रचार एवम् विस्तार करना पड़ा।

पहिले तो उन्होंने ब्राह्मणों के अधिकारों का विरोध किया ही उनका विरोध सभी ब्राह्मणों से न होकर अयोग्य ब्राह्मण से था, उन्होंने जन्म के स्थान पर कर्म को ही प्रधान ठहराया, और व्यक्ति को जन्म से नहीं कर्म से ही बड़ा मानने पर विश्वास कर उसी का प्रचार किया।

प्रतिमा पूजन के विरोध के साथ ही साथ अनेक देवी-देवताओं की पूजा के स्थान पर केवल एक ही ईश्वर की पूजा का स्वामी जी ने उपदेश दिया। अनेक देवी देवता अनेक सिद्धान्त और इस प्रकार से आपसी मत भेद पैदा करते थे। भक्ति के क्षेत्र में आपसी विरोध उन्हें श्रेयस्कर न लगा, अतएव एक ईश्वर की प्रतिष्ठा द्वारा अनेक मतमतान्तरों के झगड़े को मिटाने का प्रयास किया गया। इन धार्मिक कुरीतियों को दूर करने के साथ ही साथ स्वामी जी ने सामाजिक हित अनहितों को पहिचाना और समाज में जो पारम्परिक विचार थे उसे दूर करने की चेष्टा की— विधवा विवाह का समर्थन, बाल विवाह का विरोध, अछूतोद्धार आदि आर्य समाज के प्रमुख तथा उल्लेखनीय कार्य हैं। अछूतों की भावना तथा विधवा विवाह का न होना ये दो ऐसी बड़ी सामाजिक कुरीतियाँ थीं कि जिनके द्वारा हिन्दू समाज की जड़ों में कीड़े लग रहे थे, निम्न जाति के लोगों को अछूत कह करके, उनका स्पर्श वर्जित करके उनके हृदय पर ठेस पहुँचाई जाती थी। फलस्वरूप प्रतिक्रिया के रूप में उन तथाकथित अछूतों के हृदय में भी घृणा की भावना का हो जाना स्वाभाविक था, इस प्रकार हिन्दू समाज में ही आपसी कलह बढ़ रही थी, मतभेद के आधार पर दो दल पैदा हो गए थे, उच्च तथा निम्न जातियाँ मेल के स्थान पर वैमनस्य, घृणा तथा स्पर्द्धा मोल ले रही थीं। इस प्रकार से हिन्दू समाज से ही लोग खिसक-खिसक कर ईसाई मिसनरियों के चंगुल में आ रहे थे। उसका कारण यद्यपि उनकी आर्थिक दशा भी हो सकती है फिर भी इसके अतिरिक्त उनके हृदय पर लगी हुई ठेस थी जो उन्हें विवश कर रही थी कि वह बाहरी लोगों के साथ होकर मिशनरी में सम्मिलित होकर ऊँचे ओहदे पावें और वे भी अन्य हिन्दू वर्ग के [illegible] ति सभी सुविधाएँ प्राप्त कर सकें।

आर्य समाज के सामाजिक सुधारों में महत्त्वपूर्ण बात थी विधवा विवाह के प्रचलन की। राजपूत वंशों में अधिकतर बाल विवाह की प्रथा प्रचलित थी, इस प्रथा के फलस्वरूप लड़कियों के विवाह छोटी अवस्था में ही हो जाया करते थे। अकस्मात उनके पतियों के निधन के पश्चात् वे विधवा हो जाया करती थीं, फलस्वरूप अपना सम्पूर्ण जीवन उन्हें विधवा के रूप में ही व्यतीत करना पड़ता था, समाज में सभी प्रवृत्तियों के, सभी प्रकार की स्त्रियां हैं, कुछ तो अपना नैतिक कर्त्तव्य समझकर अपने जीवन को पुनीत रख करके ईश्वराधना में व्यतीत करती थीं परन्तु समाज में इस प्रकार की भी अनेक स्त्रियां मिल जाती थीं जो अपने जीवन को नैतिक रूप से यापन न कर पाती थीं। फलस्वरूप दूसरी ओर नैतिकता की राह से उन्हें गिर जाने का पूरा पूरा अवसर मिलता था, एक ओर तो समाज की मर्यादा का वे निर्वाह करती थीं, फलस्वरूप वे दूसरा विवाह नहीं कर पाती थीं दूसरी ओर अपनी इच्छाओं से वे विवश रहती थीं, स्वास्थ्य पर भी इस मानसिक कुण्ठा का कुप्रभाव पड़ता था। स्वामी जी ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को पहिचाना था, इसीलिए समाज से वे इस कुप्रथा को निकालना चाहते थे, विधवा-विवाह इसी के फलस्वरूप आया। वे नवयुवतियां जो अपनी उमंगों को, हौसलों को सामाजिक मर्यादा पर अर्पित करने को विवश हो जाती थीं, उन्हें झूठी मर्यादा से मुक्त कराना चाहा। अनाथालय[1], विधवाश्रम खोलने के साथ ही साथ बाढ़ तथा दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों को सहायता देने का भी इन्होंने प्रबन्ध कर रखा था। सन् १८९९-१९०० में जब भारत अकाल से पीड़ित था उन दिनों आर्य समाज ही एक ऐसी संस्था थी जिसने कि अकाल पीड़ित लोगों को सहायता के लिए प्रबन्ध किया, इसके अतिरिक्त अनाथों को सहायता देने के लिए एक हिन्दू आरफन रिलीफ मूवमेण्ट भी चलाया गया। १८९६-९७ में पड़े हुए अकाल से पीड़ित हिन्दू बालकों को सहायता देने के लिए इसका निर्माण हुआ।[2] ईसाई मिशनरी के बाद यह ऐसी अकेली भारतीय संस्था थी जिसमें कि समाज के विभिन्न कमजोर पहुलुओं को सशक्त करने की सफल चेष्टा की गई थी।

---

1. Outside christian circles it was the first purely Indian Association to organize orphanages and widow homes.

   —Philanthropic activities pp. 238

2. About 250 Hindu children were rescued by agents deputed by the movement and were brought into Punjab, where from new orphanages were founded to accomodate them, in addition that already existing at Ferozpur.

   —The Same pp. 240

इन सभी प्रगतिशील तत्वों का फिर भी विरोध हो रहा था, यहाँ की अधिकांश जनता उनके इन विचारो से सहमत नहीं थी। इन सबके कारणों पर स्वामी जी ने सोचा तो, इनके अन्तस्तल मे बहने वाली सरिता थी शिक्षा के अभाव की। वास्तविक शिक्षा का अभाव ही हमें परम्परा तथा रूढ़ियो मे जकड़ देता है, हिन्दू जनता उस समय इन्हीं रूढ़ियों में जकड़ी थी, अतएव उनका फलीभूत होना शिक्षा के अधीन था। इसी से स्वामी जी सबको शिक्षा का समान अधिकारी समझते थे, फिर भी शिक्षा से तात्पर्य उनका अंग्रेजी शिक्षा का नहीं था, जिसमे जातीयता तथा राष्ट्रीयता का ह्रास होने की शतशः सम्भावना थी। गुरुकुल की स्थापना के पीछे उनका ध्येय था कि संस्कृत और हिन्दी की शिक्षा का प्रचार किया जाय, वे कट्टर भारतीय संस्कृत के अनुयायी इसी रूप में थे। उसके द्वारा सामाजिक अन्धविश्वासो की परम्परा टूटती थी और लोग नई चेतना के अनुयायी हो सकते थे।

इन सभी सुधारों के अतिरिक्त सबसे प्रगतिशील पक्ष था शुद्धि आन्दोलन का। कुछ तो जाति-पाँति मे ऊँच-नीच की भावना ने, कुछ विधवा विवाह के रोकने हिन्दुओं को दूसरी जाति ग्रहण करने पर बाध्य कर दिया था। अधिकांश व्यक्ति तो ईसाई धर्म को लालच से तथा राज धर्म होने के नाते अपना रहे थे। शुद्धि आन्दोलन ने ऐसे बिखरे हुए लोगो को अपने मे मिला लिया। शुद्धि का तात्पर्य बतलाते हुए लाजपतराय ने लिखा है कि यों तो शुद्धि का तात्पर्य Purification है परन्तु आर्य समाज के साथ जब इसका सम्बन्ध रहता है तब इसके अन्तर्गत reclamation और conversion भी आ जाता है।[1] एक हिन्दू संगठन होने के नाते, हिन्दुओं को अपनाना इसका मुख्य ध्येय था, इसलिए बिखरे हुए लोगों को आर्य समाज ने फिर से हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ला दिया। आर्य समाज से सम्बन्धित एक ऐसी सभा का निर्माण हुआ जिसे राजपूत शुद्धि सभा के नाम से जाना गया उसका यह प्रमुख कार्य था कि मुसलमान राजपूतों को अपने में फिर मिला लिया जाय। इसने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया और १९०७ से १९१० इन तीन वर्षों में १,०५२ मुसलमान राजपूत शुद्ध करके फिर हिन्दू जाति मे मिला लिए गए।[2]

इस प्रकार आर्यसमाज एक ऐसी संस्था थी जिसके द्वारा अपनी आत्मोन्नति की गई देश वासियो के प्रति तथा अतीत के प्रति प्रेम जगा कर उन्होंने एक आत्मसम्मान की भावना की नींव डाली। आत्मसम्मान की भावना जागृत हो जाने पर देश के लोग अपने खोये हुए अतीत के गौरव को प्राप्त कर लेने के लिए लालायित हो उठे। अवस्था ऐसी थी

1. Suddhi literally means purificaton but when used by Arya Samajist it includes also reclamation and conversion

—Suddhi work of Arya Samaj pp. 248

2. Consult Suddhi work pp. 249

कि उस समय ऐसे गौरव और आत्म सम्मान को पा लेना स्वाभाविक न था। ऐसी स्थिति में विदेशी शासन के दोषों को बड़े साहस के साथ स्वामी जी ने माना और बतलाया है।[1] इस प्रकारसे एक धार्मिक और सामाजिक संस्था होतेहुए आर्य समाज राजनीतिक संस्था के रूप में कार्य कर गयी है। डॉ० शुक्ल के शब्दों में उन्नीसवीं शताब्दि ने राष्ट्रीयता के प्रथम संचरण का श्रेय स्वामी दयानन्द के आर्य समाज को है।[2] बात सत्य भी है, इस संस्था ने समाज के अन्दर राष्ट्रीयता के जागरण के साथ ही साथ अतीत के प्रति एक अनुराग और आदरपूर्ण स्थान पाने की भावना जगा दी।

आर्य समाज के अतिरिक्त राष्ट्रीय भावना के फलस्वरूप एक दूसरा धार्मिक आन्दोलन जिसका कि नेतृत्व रामकृष्ण कर रहे थे उठ खड़ा हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य था भक्ति का प्रचार करना. अभारतीय चिन्तन धारा से प्रभावित हो करके जो लोग अधिक भौतिकता को अपना रहे थे, उनके विरोध में आगे चल करके इस धर्म ने अपनी आवाज उठायी है। श्री रामकृष्ण के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द ने इसे आगे बढ़ाया। ब्रिटिश शासन का जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य्य था वह यही कि भारत को उसके अतीत से विछिन्न कर दिया जाय और वर्तमान में ही उसे जीर्ण करके उसके बौद्धिक और सांस्कृतिक दृष्टियों को नियन्त्रित रखा जाय यही दृष्टिकोण इतना घातक सिद्ध हुआ कि इसके द्वारा भारतीयों की दृष्टि अपने उज्ज्वल इतिहास से हटने लगी, विवेकानन्द जी का उद्देश्य था धार्मिक भावनाओं के प्रचार के द्वारा उसी भावना को जगा देने का। राम कृष्ण मिशन धार्मिक क्षेत्र में इसी दृष्टिकोण को अपना करके आगे चला है।

इस प्रकार से हिन्दू धर्म के प्रभाव को और प्रभावोत्पादक बनाकर यह प्रगतिशील movement आगे बढ़ा। इसका आधार शुद्ध धार्मिक होते हुए भी सांस्कृतिक पुनरुत्थान में सहायक रहा।

थियोसाफी

भारत में थियोसाफी का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय धर्म मण्डल के अन्तर्गत सन्

---

१. कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। मतमतान्तर के आग्रह रहित पक्षपात-शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है।

—सत्यार्थ प्रकाश
अष्टम समुल्लास २३६

२. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत

—डा० केसरीनारायण शुक्ल
पृ० ५२

१८७९ हुआ। हेनरी स्टील आलकाट और मैडम वेलावेस्की (Madam Blavatsky ने इसका भारत को परिचय दिया और एनीबेसेन्ट के द्वारा इसका प्रचार किया गया। इस धर्म की विशेषता यह थी कि इसका प्रचार और प्रारम्भ एक ऐसे अभारतीय के द्वारा हुआ था जो कि हिन्दू धारा के सभी सिद्धान्तों से प्रभावित होने के कारण उसके प्रति उनकी स्वाभाविक सम्मान था। थियोसाफी ने पुराने हिन्दू धर्म की उपयोगिता को समझा और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर विश्वास करके उसका प्रचार किया। इसके अतिरिक्त सबसे प्रगतिशील दृष्टिकोण जो इनके द्वारा अपनाया गया था वह था सार्वभौमिक भ्रातृत्व की भावना का। एनीबेसेण्ट ने भारतीयों के मध्य यह देखा था कि धार्मिक प्रश्नों को ले करके उनमें झगड़ा होता है, इसी को हटाने के लिए Universal brotherhood की बात की गई थी। धार्मिक सिद्धान्तों के आपसी मतभेद को मिटाने के लिए और सभी धर्मावलम्बियों को यह समझाने के लिए कि धार्मिक मतभेद आपसी अथवा व्यक्तिगत मतभेद नहीं प्रस्तुत करता, इस धर्म ने सभी लोगों में धर्म, जाति और संस्कार, की विषमता को हटा करके सभी को समान रूप से देखने की दृष्टि प्रदान किया।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय भावना को भी जगाना, इसका उद्देश्य था। भारतीय आधारों पर शिक्षा देने की बात इसने उठाई थी। इसके द्वारा अतीत का लेखा प्रस्तुत करके एक ऐसे राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि तैय्यार करना ही इसका ध्येय था जिसमें यहाँ के सभी नागरिक राष्ट्रीयता के एक सूत्र में अपने को सम्बद्ध पायें। इसके अतिरिक्त वे ऐसी शिक्षा की भी आवश्यकता समझते थे जो कि भारतीय सिद्धान्तों पर आधारित हो, और जिस पर अभारतीय प्रभाव बिल्कुल न हो।

इस प्रकार यह सोसायटी एक नई चेतना देना चाहती थी, परन्तु इसकी जड़ें भारतीय-भूमि में धँस न सकीं, फलस्वरूप इसका अवसान हो गया, इसके ही सिद्धांतों से मिलता-जुलता धार्मिक-संगठन जैसे देव समाज और राधास्वामी सत्संग आदि उठ खड़े हुए। फलस्वरूप जब एक भारतीय द्वारा आयोजित एक दूसरा धार्मिक संगठन जो इसी से मिलता-जुलता था, प्रारम्भ हुआ, तभी इस संगठन की नींव हिलने लगी।

---

1. The needs of India, Mrs Besant wrote in 1905 are among others, the development of a national spirit, an education founded on Indian ideals and enriched, not dominated, by the thought and culture of the west.

—Religious reform movement from Social Background of Indian nationalism by A. R. Desai pp. 258

Published from Popular Bookhouse Lamington Road Bombay—7

इस प्रकार से उक्त समाज ने धार्मिक क्षेत्र में नई चेतना देकर धर्म को विस्तृत रूप देकर धर्म के ही द्वारा समाज में भी परिवर्तन पैदा करने की चेष्टा की। इसी दृष्टि से देखने में यह धर्म एक प्रगतिशील धर्म के रूप ठहरता है।

धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू समाज मे ही चेतना नही व्याप्त हुई, मुसलमानो के बीच भी चेतना उसी रूप मे आई। यद्यपि भारतीय मुसलमानों मे यह चेतना हिन्दुओं के पश्चात ही व्याप्त हुई, परन्तु फैल जाने पर इसका विकास बड़ा ही सन्तोषजनक रहा। हिन्दुओ की अपेक्षा मुसलमानो में चेतना व्याप्त होकर फैलने में अधिक समय लगा। इसके ऐतिहासिक और धार्मिक कारण हैं। यद्यपि मुगलों के राज्य में मुसलमानो को प्रश्रय मिला था, तथा उन्हें धार्मिक बढ़ावा भी मिला था इस प्रकार से उनकी धार्मिक चेतना दबाई नही गई थी, इसके ठीक विपरीत हिन्दुओं को धार्मिक पराधीनता भी झेलनी पड़ी थी, उनको दबना भी पड़ा, परन्तु उनके समय की वही दबी हुई चेतना थोड़ा सा मानसिक स्वातंत्र्य पाकर पनप उठी। उन्हें आभास होने लगा कि अंग्रेजों ने हमे मानसिक स्वतन्त्रता दे दी है, मुसलमान अब भी, अंग्रेजों के साथ, अपने को हिन्दुओं में अधिक समझते थे, और उन्हे यही लगता था कि उनका अलगाव हिन्दुओं की भांति नहीं है। इसलिए शासक की सत्ता की ओर उन्मुख होने के कारण और उनसे अपना विशेष अलगाव न समझने के कारण मुसलमानों का सांस्कृतिक जागरण पृथक रूप से नही हो पा रहा था। सन् १८५७ के विद्रोह ने उनकी स्थिति अंग्रेजों की दृष्टि में स्पष्ट कर दिया था। गदर के पश्चात वृटिश सरकार से मुसलमानों का विरोध बढ़ गया फलस्वरूप आपसी अलगाव को फिर इस नीति से सजगकर दिया।[1] इन लोगों ने तभी अंग्रेजों की संस्कृति में भागलेने और उसे अपनाने से इन्कार कर दिया और अपने इस्लाम के बताये गए मार्ग को फिर अपनाने में आस्था प्रकट करने लगे। इस प्रकार से नई संस्कृति को त्यागकर उनके मस्तिष्क में फिर पुराना धर्म अपनाने की लहर के रूप में इस्लाम का सिद्धान्त प्रबल हो उठा और वे सभी फिर उसी पर आधारित आवश्यकताजन्य सुधार करने लगे। उस समय चार मुख्य आन्दोलन थे जिनका कि स्थान भारतीय मुसलमानों के धार्मिक इतिहास में उल्लेखनीय है।

(१) पहिले आन्दोलन को दिल्ली के शाह अब्दुल अजीज ने प्रारम्भ किया था। (२) दूसरे को सैय्यद अहमद तीसरे को जौनपुर के शेख करामत अली ने और हाजी शहरत उल्लाह का नाम भी उल्लेखनीय है।

---

1. This made Muslims to avoid any contact with the new culture and education which the British introduced in India. They avoid comming under the influence of that education and stuck with greater tenacity to orthodox Islam.

—Religious reform movements pp. 264

सन् १८८९ में मिर्जा गुवाद मुहम्मद ने Liberal सिद्धान्तों पर आधारित एक सुधार की नींव दी। इसे अहमदिया मूवमेण्ट के नाम से जाना गया। ब्रह्म समाज की भाँति इस धार्मिक आन्दोलन का आधार समस्त मानवता को एक सूत्र में बाँधने का था। यह अपने धर्म को सार्वभौमिक धर्म के रूप में चलाना चाहते थे। हिन्दुओं के सामाजिक एवम् सांस्कृतिक सुधारों पर पाश्चात्य देश के Liberal विचारों का तथा थियोसाफी का प्रभाव इन पर पूर्ण रूप से पड़ा था। इसी के फलस्वरूप अहमदिया मूवमेण्ट ने गैर मुसलमानो के प्रति जिहाद का विरोध किया। धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान का जातीय भेद छोड़कर के यह एक ही रूप में उन्हें देखने के पक्षपाती थे।[1] अपने इन विचारों के प्रचार के लिए इन लोगों ने स्कूल खोले, तथा अंग्रेजी और हिन्दी उर्दू में प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का निर्माण किया। इस प्रकार से हिन्दू और मुसलमानों में जो धार्मिक क्षेत्र में मतभेद की एक नींव पड़ गई थी, जजिया और जेहाद के द्वारा गैर मुसलमान पीड़ित थे, उनकी धार्मिक भावनाओं को ठेस लगती थी, इन बातों का ध्यान रख करके इस मूवमेण्ट ने एक सुधारवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

इस प्रकार से एक व्यापक दृष्टिकोण का निर्माण हो गया था, अंग्रेजों के शासन ने तथा अंग्रेजी के प्रचार ने भारत को और भी देशों के निकट सम्पर्क में ला दिया था, कुछ तो उनके प्रभाव से और कुछ अपनी स्वानुभूति पर आधारित रह करके उस समय के धार्मिक सिद्धान्तों में प्रगतिशीलता की भावना व्याप्त हो रही थी, और इन धर्मो के समक्ष एक व्यापक दृष्टि थी।

यद्यपि इसका आधार तो इस्लाम था फिर भी पाश्चात्य liberal दृष्टि की इन्होंने प्रशंसा की है, और इस्लाम को पाश्चात्य liberalism में मिलाना भी चाहते थे। इनमें धार्मिक चेतना हिन्दुओं से बाद आई, सन् १८५७-५८ के विद्रोह ने इनकी आँखें खोल दीं और ये नई भावनाओं को तथा नए सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आस्थाओं पर विश्वास करने लगे।[2]

---

1. The Ahmadia movement, opposed Jehad or Sacred war against non-Muslims. It stood for faternal relations among all people.
   —Religious Reform movements.
   Social Background of Indian Naticnalist pp. 266
2. The tragedy of great revolt of 1857-58 marks the death of the old order, and brought political, economic and cultural disas ter to the Indian muslims. It made their fulness, their aloofness, their suppressed hatred for the new order more marked- than ever.
   —The Same pp.266.

इस प्रकार से नई भावनाओं को अपना करके मुसलमानों के अन्दर भी अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार हो गया था और इसके फलस्वरूप उन लोगों में भी राष्ट्रीयता की भावना का जन्म तथा विकास हुआ था। धर्म की संकीर्णता भी उनको खली थी, उन्होंने इस अहमदिया मूवमेंण्ट के द्वारा उसे सुधारा था।

शिक्षा का प्रचार इनके बीच भी हो रहा था। सर सैय्यद अहमद खां ने आधुनिक शिक्षा का प्रचार उनके मध्य प्रारम्भ किया था, उनके इस प्रयास को अलीगढ़ मूवमेण्ट के नाम से जाना जाता है क्योंकि अलीगढ़ में ही एग्लो ओरियण्टल कालेज की स्थापना की गई थी और यही कालेज १८९० में बढ़ करके अलीगढ़ विश्वविद्यालय में परिवर्तित हो गया था। आधुनिक शिक्षा के प्रचार एवम् प्रसार में कवि हाली, मौलवी नजीर अहमद और मौलवी नुमानी भी उल्लेखनीय हैं। इसी विश्वविद्यालय के निर्माण के साथ ही साथ भारतवर्षीय मुसलिम एजूकेशनल कान्फ्रेन्स भी बनाई गई थी। इतना होते हुए भी, मुसलमानों के मध्य पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार तो हुआ परन्तु उन्होंने इस्लाम को नहीं भुलाया, इन सभी शिक्षाओं के साथ ही साथ इस्लाम के प्रचार को भी वही स्थान मिला जो पहिले था, पाश्चात्य शिक्षा की ज्योति ने उनके धार्मिक प्रकाश को मन्द नहीं किया।

इनका दूसरा उद्देश्य था सामाजिक सुधारों का। इन्होंने मुसलमानों के मध्य होने वाली बहुविवाह प्रथा की आलोचना की, बहु विवाह प्रथा के दोष की ओर हमें नहीं संकेत करना है, इसके द्वारा सामाजिक कुरीतियां पैदा होकर और बढ़ रही थीं इसलिए इन पर प्रतिबन्ध लगाया गया। विधवा-विवाह को भी इन्होंने प्रचलित करना चाहा, यद्यपि इस्लाम इसके विरोध में नहीं था, फिर भी विधवा-विवाह ऐसे मुसलमानों में प्रचलित नही था, जो अभी अभी हिन्दुत्व को छोड़कर आये थे। उनके रक्त में तो हिन्दू संस्कार जड़ जमाये था, उनके मध्य भी विधवा विवाह को अवैध घोषित करके प्रचलित कराया गया।

ये लोग कुरान को अधिक व्यापक रूप देना चाहते थे। उसको जनप्रिय बनाने के लिए उसके सिद्धान्तों का विश्लेषण अपने ढंग से किया जा रहा था। इस प्रकार से इस्लाम को आधुनिक सांस्कृतिक उत्थान के साथ जोड़ करके देखना इनको अभीष्ट था। मुसलमानों को संगठित करके, उनके शिक्षा का प्रचार करके तथा बहु विवाह की आलोचना, विधवा-विवाह का प्रचार, कुरान का सब लोगों में प्रचार करना, प्रगतिशील भावनाओं का बढ़ा हुआ चरण था। समाज ने विशेषकर मुसलमानों ने इसे स्वीकार किया। बम्बई, पञ्जाब हैदराबाद तथा अन्य स्थानों में इन सिद्धान्तों का प्रचार होने लगा।

इनके विस्तार ने तथा प्रचार ने मुसलमानों के मध्य से बहु विवाह को कम किया और स्त्रियों की शिक्षा की ओर भी इनका ध्यान आकर्षित किया गया। भारत में स्त्रियों की शिक्षा संस्था का अभाव था, इन्होने उस प्रभाव को दूर किया।

इन सभी जागरणों के साथ ही साथ राष्ट्रीयता का उदय भी इनमें हुआ। राष्ट्रीयता के उदय ने इनको संगठित करने की ओर प्रेरित किया, आगे चलकर सारे नेताओं के प्रयास से हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य की खाई पटने लगी और उन्हें एक ही राष्ट्रीय सूत्र में बांधा गया।

इस प्रकार से हिन्दुओं तथा मुसलमान दोनों में धार्मिक चेतना व्याप्त हो गई थी, पारसी भी इसमें अछूते नही थे। अंग्रेजी शासन ने एक ओर तो भारत को परतन्त्रता दी दूसरी ओर उसी शासन के फलस्वरूप पश्चिम के निकट भारत आया। दोनों में सांस्कृतिक, तथा अन्य विचारों का आदान प्रदान हुआ। एक नई चेतना आई और भारत ने भी अपने राष्ट्रहित की बात सोचना प्रारम्भ किया। धर्मों के बढ़ते हुए बदलते हुए रूप और परम्परा तथा अन्ध विश्वासों की टूटती हुई कड़ियां, इसी चेतना के ही कारण हैं। इस्लाम तो मूल रूप से मुसलमानों का धर्म था ही, परन्तु उसके पालनकर्ता समयानुसार बढ़ नहीं पा रहे थे, हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया था, वे अपनी संस्कृति को छोड़कर आये थे, उनके लिए स्वभावतः इस्लाम की सभी बातें अनुकूल न लगी होंगी, इन छोटे-छोटे धार्मिक सुधारों तथा मोड़ों ने उसे एक परिस्थिति का रूप दे करके उसे मदद की सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा किया। अतएव वे अपने दृष्टिकोण में प्रगतिशील ठहरते हैं।

आर्थिक परिस्थिति

(सन् १८७० से १९०० तक) लार्ड लिटन लार्ड रिपन, लार्ड डफरिन, लार्ड कैन्सडाउन (१८८८ से ९४)

हिन्दी के इतिहासकारों ने भारतेन्दु-युग को सन् १८७० से १९०० तक के समय में ही बांध रखा है। इस युग की आर्थिक रूपरेखा देने के लिए हमें इतिहास और वाइसराय की शासन व्यवस्था की ओर मुड़ना पड़ेगा। इस समय के मध्य लार्ड लिटन, लार्ड रिपन, लार्ड डफरिन और लार्ड लैंसडाउन की राज व्यवस्था भारत में रही है। एक बड़ी क्रान्ति (१८५७) की थी, उसे छोड़कर भारत आगे आया था, और इस क्रान्ति के फलस्वरूप अंग्रेजों के कदम भारत में दृढ़ से दृढ़ तर हो गए थे। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी जिसका सम्बन्ध भारत में राज्य का नहीं वरन् व्यापार का था अब समाप्त कर दी गई थी। कम्पनी के शासन से भारत को निकाल कर सीधे इंग्लैंड के बादशाह के शासन से भारत को सम्बद्ध किया गया।

इस प्रकार से भारत में वाइसरायों का शासन प्रारम्भ हुआ। भारत को उनके इस शासन में जो आर्थिक एवम् राजनीतिक लाभ तथा हानि हुई है उन्हीं का लेखा भारत की आर्थिक रूपरेखा प्रस्तुत कर सकेगा।

लार्ड नार्थब्रुक ने सन् १८७६ में अवकाश ग्रहण किया था। नार्थब्रुक के समय की भारत की आर्थिक दशा उल्लेखनीय है। उसी के समय में बिहार में भयंकर अकाल पड़ा। यद्यपि इतिहासकारों का मत है कि लार्ड नार्थब्रुक ने आर्थिक क्षेत्र में

बड़ी ही योग्यता एवम् दूरदर्शिता से काम किया।[1] फिर भी उसके समय का अकाल उसकी अयोग्यता और आर्थिक नीति के कारण न हो करके लार्ड मेयो आदि के ही कारण था। १८७३-७४ के अकाल के अतिरिक्त भारत में कोई भी आर्थिक वैषम्य नहीं उपस्थित हुआ। भारत में बाहर से अन्दर आने वाले मालों पर कर ७½% कर दिया गया था। इसमें भी अधिक कम करके लार्ड नार्थब्रुक ने ५%कर दिया था। इसके अतिरिक्त उसने तेल, चावल और लाख को छोड़ करके और सभी बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओं से export duties हटा लिया था। सिन्धु की घाटी की रेलवे के तैयार हो जाने के पश्चात् गेहूँ का निर्यात बढ़ गया था और भारत बड़ी संख्या में गेहूँ बाहर भेज रहा था। उसके शासन के अन्तिम काल में डिजरैले की कन्सरवेटिव गवर्नमेन्ट में उसके ऊपर बहुत भार डाला गया कि मैनचेस्टर को भेजे गए सूती कपड़ों पर से ५% कर जो सबके लिए निश्चय था उसको भी मुक्त कर दिया परन्तु आर्थिक हानि के कारण उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। लार्ड नार्थब्रुक ने भरसक तमाम अनावश्यक करों को भारत से उठा लेना चाहा जोकि भारत की आर्थिक दशा को अशक्त कर रहे थे। लार्ड नार्थ ब्रुक ने इनकमटेक्स कर में भी अपनी सम्मति नहीं दी थी, लार्ड मेयो की मृत्यु के पूर्व ही यह कर हटा कर १ प्रतिशत कर दिया गया था फिर भी यह नार्थब्रुक की सम्मति में अधिक था, इसने इसे बिल्कुल हटा दिया। भारत की आर्थिक दशा को सुधारने का तथा प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक लाभ कराने का यह अच्छा साक्ष्य है।

सन् १८७३-७४ के बिहार के अकाल से भारत को बड़ी क्षति हुई, उसे सुधारने के लिए बर्मा से चावल खरीदा गया और उसे बिहार में भेज कर बटवाने की व्यवस्था की गई। राबर्टस के अनुसार अकाल पीड़ितों को सहायता में ६½ मिलियन व्यय हुआ।[2] दूसरा भयङ्कर अकाल लार्ड लिटन के समय में मद्रास में

---

1. An admirable mastery of finance, economic facts and statistics such I have never seen surpassed in India, not even by such economists and financiers as Wilson or Liang.

—Sir R. Temple
Men and events of my times in India pp. 396

2. ......the most elabrate means were taken regardless of cost to transport and distribute it and relief works were everywhere established. The result was very large expenditure of nearly Six and half million on a famine of unusual brevity and of no exceptional severity.

—Historical Geography of India
by P. E. Robert pp. 422

हुआ। यह वही समय था जब भारत में शानदार दरबार हो रहा था, उधर तो अपने शानदार दरबार को मना रहा था और दक्षिण पर भुखमरी अपनी काली मनहूस छाया डाल रही थी। मद्रास। बम्बई, दक्षिण के अन्य प्रदेश मैसूर आदि उसकी लपट में जल रहे थे। लार्ड लिटन ने अकाल में सहायता देने की चेष्टा तो की परन्तु इस आर्थिक अभिशाप को बार बार भारत पर न पड़ने के लिए भी प्रयास आरम्भ किया गया। उसने एक अकाल कमीशन की नियुक्ति की जिसके रिपोर्ट पर ही 'प्रान्तीय अकाल कोड' का निर्माण हुआ। इसमें साधारण जनता की ओर तथा देश की बेकारी की ओर ध्यान दिया जाने की व्यवस्था निर्मिति की गई। इस कोड का पहला सिद्धान्त यह था कि काम करने वाले योग्य व्यक्तियों को सरकारी ओर से सहायता-कार्य में लगाया जाय। जो लोग अपाहिज दरिद्र और असमर्थ हो उन्हें तकावी या अन्य प्रकार की सामान्य आर्थिक सहायता दी जाय। इसके अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि बजट से जो शेष रहे उसके दो भाग कर दिए जाँय एक अंश तो अकाल-कोष में डाल दिया जाय और दूसरा अंश जिलों के भीतर रेलवे लाइन तथा नहरों को बनवाने के काम आये। रेलवे लाइन के द्वारा अकाल पीड़ित प्रदेशों को अनाज आदि भिजवाया जा सके और नहरों के निर्माण के पीछे व्यवस्था यह थी कि वहाँ अच्छी प्रकार की खेती की सुविधा दी जा सके। इस प्रकार से लार्ड के विचार से अकाल अव्यवस्था का ही प्रतीक था, जहाँ पर व्यवस्था सुन्दर न हो सकी थी, जहाँ प्रकृति से वह लड़ नहीं पाया था, वहीं वह हार गया था। अतएव उन स्थानों पर जहाँ प्राकृतिक सुविधायें उपलब्ध नहीं थीं वहाँ नहर बनवा कर तथा सिंचाई के अन्य साधन प्रस्तुत करके ही अनाज की उपज को अधिक करने की चेष्टा हुई।

अकाल के अतिरिक्त 'कर' आते हैं। लार्ड लिटन का आर्थिक प्रवन्ध सुदृढ़ भीति पर आधारित था - अभी तक विभिन्न प्रान्तों में नमक कर की दर भिन्न-भिन्न थी। उसे समान स्तर पर लाया गया। देशी रियासतों से बृटिश राज्य में बिना कर लगे नमक को न आने देने के कर लगाए गए थे ऐसे कर को लार्ड लिटन ने साफ कर दिया था। इसके अतिरिक्त और कई आयातों पर कर हटा करके व्यापार को स्वतन्त्र कर दिया गया।

नमक कर तथा आय कर हटाने के अतिरिक्त लिटय ने वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पास किया। इस एक्ट के अनुसार बहुत से देशी सम्पादकों से यह लिखवाया गया कि वह कोई भी ऐसी वस्तु नहीं छापेंगे जिसके द्वारा देश में अशान्ति फैले अथवा सरकार के विरुद्ध जनता में घृणा एवम् विरोध की भावना फैले। यह कानून आपत्तिजनक था, क्योंकि अंग्रेजी समाचार पत्रों को इस विधान से मुक्त रखा गया था। यद्यपि वह वर्नाक्युलर कानून बहुत दिनों तक नहीं चला। लार्ड रिपन के शासन काल में यह एक्ट रद्द कर दिया गया, और भारतीय पत्रकारिता को जो

हानि हो रही थी, इस कानून द्वारा विवश हो करके सम्पादक अपने विचार स्पष्ट नहीं प्रकट कर सकते थे, फलस्वरूप पत्रों का प्रचार और विक्रय गिरने लगा, आर्थिक हानि तो देश को नहीं थी ,परन्तु वहएक माध्यम था जिसमें विचारों का आदान-प्रदान होता था, लार्ड रिपन ने इसके प्रतिवन्ध को ठीक नहीं समझा। फैक्टरी एक्ट भी आर्थिक व्यवस्था पर प्रभाव डालता है। शहर के मजदूरों की रक्षा के लिए सन् १८८१ में फैक्टरी एक्ट पास कराया गया जिसमें बच्चों के लिए काम का ९ घंटे का दिन माना गया। इसके फलस्वरूप काम करने वालों की सुरक्षा तो हुई ही उनकी क्षमता में भी वृद्धि हुई। लार्ड लैंसडाउन १८८१ के फैक्टरी कानून का एक संशोधित रूप पास किया। स्त्रियों के लिए काम के घंटे ११ निश्चित किए गए, फैक्टरियों में काम करने वाले बालकों की न्यूतम आयु ७ से ९ वर्ष कर दी गई। उनके बाद के घंटे सात तक निर्धारित किये गए और रात में उनके लिए कार्य करना हानिकारक समझ कर बन्द कर दिया गया। अन्त में उन्होंने कारखाने में काम करने वाले मजदूरों के लिए एक सप्ताह की सवेतन छुट्टी देने का नियम बनाया।

इसके अतिरिक्त इनके समय का मुद्रा-विनिमय प्रश्न आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। चांदी के रुपयों के गिर जाने और इसके फलस्वरूप भारतीय राज्य के अस्त व्यस्त हो जाने के कारण सरकार ने चांदी के असीमित सिक्के बनाने से रोक दिया और सोने को कानूनन ग्राह्य सिक्का बनाया। विनिमय की दर एक गिन्नी के लिए १५) रुपये निर्धारित की गई।

इस प्रकार से अकाल, कर मुद्रा विनमय तथा वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट आदि विधान भारत की तद्कालीन आर्थिक परिस्थिति की रूप रेखा के रूप में है। सिक्के किसी भी राष्ट्र के सम्पत्ति के रूप में होते है और उन सिक्कों की Face value (वास्तविक मूल्य) भी आर्थिक समता को निर्धारित करता चलता है। युद्ध आर्थिक विषमता को उत्पन्न करते चलते हैं अफगान का युद्ध, वर्मा का युद्ध आदि ऐसे युद्ध भी हुए जिन्होंने राष्ट्रीय सम्पत्ति को बहुत कुछ खर्च करा डाला। आर्थिक स्थिति को एक निश्चित निकास प्रदान करने के लिए परिस्थिति जन्य कार्यों को अपनाना ही श्रेयस्कर है, इन गवर्नरों ने आवश्यकतानुसार उन्हीं कार्यों को अपनाया है।

काव्य में अभिव्यक्ति और सौन्दर्य

मानव की चेतना के साथ ही साथ जिस प्रकार सभी स्थलों एवं क्षेत्रों में उन्नति हुई ठीक उसी प्रकार सौन्दर्य चेतना का भी उदय हुआ होगा। सौन्दर्य का सम्बन्ध मानव की अनुभूति से है। हमारे व्यक्तिगत जीवन में चेतना का विकास होता है, यही कारण है एक बालक जिस वस्तु को पहले बहुत ही सौन्दर्य युक्त रमणीय और आकर्षक समझता है, रुचि के परिष्कार के साथ ही साथ उस वस्तु की रमणीयता और सौन्दर्य को निश्चित करने के स्तर में अन्तर होता जाता है। हमारी सौन्दर्य चेतना के पीछे हमारी भावना, अनुभूति और अनुभव भी सोये रहते हैं, शिशु काल की कोमल और निश्छल भावनायें युवापन के अनुभव के पश्चात परिपक्व हो जाने वाली भावनाओं से बिलकुल पृथक होती है। अतएव सौन्दर्य की कसौटी स्थापित करने में, यही भावनाओं का स्तर ही सक्रिय हुआ करता है। भावना का स्तर भी परिवर्तनशील है। उसके पीछे अनुभव और अनुशीलन अपना कार्य करते हैं। मूलरूप से भावना का अस्तित्व मिटता नहीं उसके रूप में अन्तर होता चलता है। भावनाओं में परिवर्तन स्थूल रूप का नहीं सूक्ष्म रूप में होता है और यही सूक्ष्म परिवर्तन रुचियों में परिष्कार किया करता है। सौन्दर्य भावना में प्रगति का तात्पर्य यही होता है कि भावनाओं एवं अनुभवों के क्रमागत विकास के साथ ही साथ सौन्दर्याङ्कन की दृष्टि में परिवर्तन के स्तर को देखना!

अब साहित्य में सौन्दर्यानुभूति के विकास को लें। साहित्यकार की भावना तथा सौन्दर्य में प्रगति किसी व्यापक रूप में नहीं हुआ करती बल्कि किसी एक क्षेत्र में, किसी एक दृष्टिकोण में ही सौन्दर्य का लेखा मिलता है। समाज की किसी समस्या को अथवा किसी सत्य को अनुभूति के किस कोरक से प्रगट किया गया है, अथवा अनुभव के किस अध्ययन के द्वारा अपना लिया गया है, सौन्दर्य इसी में निहित है। इस प्रकार से एक - एक अङ्ग में अपनी - अपनी समस्यायें हैं। उन्हीं समस्याओं का विधान किस प्रकार से मिलता है अथवा अनुभूति के स्पष्टीकरण में शब्दों का रूप विन्यास क्या है, यही सौन्दर्य भावना में प्रगति का सूचक है। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि हमारे विवेक विचार और अनुभूति का ऐतिहासिक विकास जो कि हमें सौन्दर्य विकास की ओर ले जाता है, वही विकसित होता रहता है। अजंता और अलोरा की चित्रकारी के सौन्दर्य भावना की प्रशंसा एक शिशु नहीं कर सकता एक

अविकसित अनुभूति वाला वयस्क पुरुष भी नहीं कर सकता परिष्कृत रुचियों वाला एक दर्शक ही उस चित्रकारी के मनोगत भाव और उसके संकेत का अर्थ समझ उसकी प्रशंसा कर सकता है। चित्रकारी का अपना क्षेत्र है, साहित्य का अपना, परन्तु सभी क्षेत्रों को सम्बधित करने वाला तथ्य भावना का है जो विकसित होकर परिष्कृत रुचि में बदल सकती है। रीति काल का नायिका भेद और उसमें नखशिख का वर्णन सौन्दर्य की अनुभूति पर ही आधारित है। उस सौन्दर्य बोध की भावना में क्रमागत विकास तो नहीं होता परन्तु रुचियों के परिष्कार के फलस्वरूप शब्दों के कुछ नये अर्थ और नये रूप हमारे सामने आते हैं। अतएव कलात्मक जाग्रति का उदय होना ही सौन्दर्य भावना के विकास का द्योतक होता है।

साहित्य विचार और अनुभूति का क्षेत्र है। इसमें शब्दों का बहुत ही महत्व है। शब्दों के द्वारा ही अर्थ बोध होता है। इस प्रकार से समस्त साहित्य सृष्टि शब्दों को ही माध्यम मान कर हुई। दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने शब्दों के अनेक गुण का उल्लेख किया है। शब्द मूर्तियां तीन मानी गयी हैं मधुर, प्रसन्न और ओजस्वनी। इन्हीं तीन शब्द मूर्तियों के आधार पर ही अर्थ का सारा व्यापार आधारित है। साहित्य के दो प्रमुख अंग गद्य और पद्य शब्द के अर्थ पर ही आधारित हैं। विचार गुण और प्रवाह के ही आश्रित पद्य में शब्द रहा करते हैं। अर्थात् पद्य में कवि के अपने विचार भाषा के प्रवाह तथा गुण के अनुसार ही शब्दों को चुन लेते हैं। इसके ठीक विपरीत गद्य में होता है। "गद्य में अर्थ मूर्ति का प्राधान्य शब्द विन्यास के ऊपर होता है" इस प्रकार से सम्पूर्ण साहित्य में शब्द विन्यासों के द्वारा ही सौन्दर्य की स्थापना होती है। सामाजिक चेतना के फल स्वरूप जब साहित्यिक चेतना तीव्र हो जाती है तभी साहित्य में चरमसीमा का जन्म होता है। यही एक ऐसा मोड़ है जब सौन्दर्य की अनुभूति में थोड़ा अन्तर होता है। इस अनुभूति के पीछे चाहे चेतना का जो भी स्वर कार्य करता हो यह तो स्पष्ट है कि मानव की जिज्ञासा के फलस्वरूप ही यह परिवर्तन और नया मूल्याङ्कन बनता है। इसी आलोक में हम विभिन्न काल के काव्य में सौन्दर्यानुभूति का अध्ययन करेंगे। पहले हम भक्तिकाल को लें।

भक्ति काल में सौंदर्य वर्णन का आभास

प्रत्येक काल के काव्य-सौंदर्य को आँकने के लिए उस समय की प्रचलित संस्कृति, सभ्यता और रूप-विधान की कसौटी को समझना पड़ता है। भक्ति-काल के सौन्दर्य निर्माण में सूर, मीरा और तुलसी की परम्परा का हाथ था। सूर और मीरा ने कृष्ण के रूप का वर्णन किया। वह वर्णन भी एक विधान और निश्चित मर्यादा से बँधा था। सूर द्वारा राधा का रूप-वर्णन भी अध्यात्म की शिला पर परखा गया था, ऐन्द्रिय भावनाएँ यद्यपि आईं अवश्य परन्तु अध्यात्म का नाम लेकर उन्हें दबाने की चेष्टा की गई। कृष्ण ने जहाँ भी राधा के रूप अथवा यौवन की बात की,

अथवा उनके प्रति जहाँ भी आसक्ति दिखाई उसमें एक डरा डरा, बँधा बँधा प्रेमी कृष्ण का व्यक्तित्व था। उन्होंने जहाँ भी राधा से पूँछा, कुछ मुखर हुए, वहाँ अपनी स्वाभाविक उक्तियों को दबा करके। एक उदाहरण लें। राधा अकस्मात कृष्ण को व्रज में मिल जाती है। कृष्ण का सम्भवतः पहिला ही परिचय है। परन्तु पूर्व-राग उनमें राधा के प्रति था, सुन करके ही उन्होंने राधा को समझा था।

> बूझत स्याम कौन तू गोरी !
> कहाँ रहत ? काकी है बेटी ? देखहु नाहि तुमहि व्रज खोरी !
> काहे को हम व्रज तन आवत, खेलत रहत आपनं खोरी
> सुनत रहत नंदन का ढोटा, करत रहत दधि माखन चोरी,
> तुम्हरो कहाँ चोरि हम लेहैं चलहु संग मिलि खेलन जोरी।!

कृष्ण राधा से पूँछते हैं, कि तुम हो कौन ? राधा बता देती है कि उनके विषय में वह सुना करती थी, कि एक नंद के ढोटा (लड़के) है, वह दही और माखन की चोरी करते हैं, कृष्ण का उत्तर सुन्दर है, तथा सुन्दर शब्दों में सूर ने उसे निवाहा भी है। कृष्ण ने उत्तर दिया अच्छा हम तुम्हारा क्या लेंगे, चलो साथ खेलें। सूर ने बड़ी साधारण सी उक्ति सुन्दर ढंग से कह दिया, परन्तु यह मर्यादा, यह संकोच सूर पर न होता यदि कृष्ण उनके आराध्य देव न होते। कहने का तात्पर्य यही कि रूप-वर्णन की संस्कृति और सम्बन्ध औचित्य को ध्यान मे रखकर हुआ है।

गाय दुहते दुहते देखिए सौन्दर्य कितना ज्वलंत हो जाता है।

> धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी !
> एक धार दोहनि पहुँचावति, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी,
> मोहन कर ते धार चलति पय, मोहन-मुख अति ही छवि बाढ़ी !!

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, और प्रत्येक दिन के कार्य-क्रमों मे भी कवि ने अपने स्थान को ढूँढ ही लिया और उसकी कल्पना ने सौन्दर्य-सृष्टि कर दी। सलोने मुख पर दूध की धार पड़ने से उस मुख की छवि और बढ़ गई। सौन्दर्य की इस रूप-रेखा को प्रस्तुत करने वाले कवि पर उस समय की संस्कृति और प्रचलित रीतियों का कितना प्रभाव है। आज कवि यदि नौका विहार में अथवा जगलों में शिकार करते करते नायक नायिकाओं का संगम दिखाता है और उनके सौंदर्य को उस समय बढ़ा हुआ मानता है तो उस समय के कवि ने दूध दुहते 'रति को बढ़ा' दिया है। दूध पड़ने से वह मुख निखर उठा इस सौन्दर्य के निरूपण के पीछे उस समय की संस्कृति और विशेषकर भक्ति-भाव से दबे हुए सूर के भावुक हृदय की झांकी है जिस पर अध्यात्म का लाख दबाव है परन्तु रूप वर्णन मे उनका भावुक मन भाता नही। एक दूसरे उदाहरण में स्थिति वैसी ही है। राधा कहती है—

> तुम पै कौन दुहावै गैया।
> इत चितवत, उत धार चलावत, यहि सिखयौं है मैया !

सूर के काव्य में प्रेम के आविर्भाव की सीधी साधी और भोली भाली व्यंजना है। यशोदा राधा को मना करती है, वह चाहती हैं कि राधा बार बार उत्पात करने न आये। राधा का उत्तर सुनिये—

'बार बार तू ह्याँ जनि आवै !!
"मैं कहा करौं सुतहि नहिं बरजति, घर ते मोहि बुलावै,
मोंसो कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान,
छोह लगत मोको सुनि बानी, महरि ! तिहारी आन !!"

राधा की कितनी भोली उक्ति है। सौंदर्य का, स्वाभाविक उक्ति के, कारण कितना स्वस्थ चित्रण है।

इस प्रकार से सूर का सौंदर्य बड़ा ही स्वाभाविक है और अपने भोलेपन के कारण ही बहुत सात्विक हो गया है, भक्ति का भय सूर को इतना नहीं दिखाई पड़ता जितना तुलसी को। हम आगे देखेंगे कि तुलसी का सौंदर्य लोगों को आक्रान्त कर देता है। उनके राम सौंदर्य के पुन्ज है जिन्हें देखकर ग्राम की वधूटियाँ बेतरह रीझ जाती हैं। वह सीता से ही पूँछती है,कि साँवरे रंग के ये तुम्हारे कौन है। सौंदर्य की ज्वाला इतनी तीव्र है और आक्रान्त करने की उसमें इतनी शक्ति है ग्राम वधूटियाँ तो यहाँ तक कह देती हैं—

"कहिये जग पोच न सोच कछू फल आपनि लोचन तो लहियैं।

वनवासी राम को देखते ही ग्राम की वधूटियाँ आयीं। वे बातें करती हैं कि चलो चलकर देखें कि ये रात्रि में कहाँ रहेंगे, हमसे वे बोलें या न बोलें, आपस में तो कुछ कहेंगे ही। हमारे कान उनकी बातों को ही सुनकर तृप्त हो जायेंगे। यदि समाज इस कृत्य पर कुछ कहे भी तो सोच क्या ? हमारे नेत्र तो पुनीत दर्शन से तृप्त होंगे ही। यद्यपि यह उक्ति भक्ति के आवेश में कही गई है परन्तु इसमें स्वाभाविकता है, इसमें सत्यता है। राम का रूप, एक स्वस्थ, सुरूप युवा का ही तो रूप है, यदि ग्राम की स्त्रियाँ उस रूप की प्रशंसा करती हैं तो आश्चर्य क्या परन्तु सूर और तुलसी के रूप वर्णन में अन्तर यही है कि एक का रूप वर्णन दाहक है, अपने ओर मैगनेटिक शक्ति से खींचता है तो दूसरे का रूप वर्णन बहुत ही स्वाभाविक और अपने स्वाभाविक ढँग से वह आकर्षण भी करता है। अतएव तुलसी के सौंदर्य विधान में तो राम के ब्रह्म होने की बात थी राम ब्रह्म हैं, ब्रह्म का रूप इसी भाँति आकर्षित करता है परन्तु सूर के कृष्ण तो कारे, मित्र कृष्ण हैं—अतएव उनके रूप का तो जैसे सूर ने आभास किया वैसा ही चित्रण किया।

अतएव भक्ति काल में सौन्दर्य - निरूपण के पीछे कवि की स्वाभाविक वृत्ति क्रियाशील नहीं थी, कुछ निश्चित सँस्कार थे और व्योहार के प्रति परम्परा से चली आती हुई निश्चित मान्यतायें थीं, उन्हीं को आत्मसात करके उस काल का कवि आगे बढ़ा। इसके अतिरिक्त भक्ति काल में भक्ति की प्रधानता होने के कारण

भक्त कवि ईश्वरोपासक थे, ईश्वर के विभिन्न रूप ही उसकी कल्पना के विषय होते थे, उस स्थिति में राधा सीता के सौन्दर्य की कल्पना बंधे बँधाये शब्दों में अपेक्षाकृत हुई थी।

इतने दिनों की बँधी हुई भावनाएँ मुखर हो गईं रीतिकाल में, और इस काल का कवि राधा और कृष्ण की उपासना के पीछे भी रूपासक्त हो गया। राधा का अनिन्द्य सौन्दर्य कवि के लिए मोहक तो पहिले भी हो सकता था परन्तु राधा का आध्यात्मिक व्यक्तित्व उन्हें ऐसी कल्पना से रोक देता था। रीतिकाल में धीरे-धीरे अध्यात्म का बोझ कम होने लगा था। इसी लिए रीतिकाल में सौन्दर्य वर्णन अपनी चरम सीमा पर है।

रीतिकाल और सौन्दर्य वर्णन

रीतिकाल के काव्य में सौन्दर्य वर्णन अपनी चरम सीमा पर है। इस काल के काव्यमे सौन्दर्य, भोलापन, सुकुमारता का वहसारल्य प्राप्त होता है जो छायावादी काव्य में देखने को नहीं मिलता। कवि में विवेक का प्रधानता ही सौन्दर्य की स्वाभाविकता और सरलता को समाप्त कर देता है। इस दृष्टि से यदि सौन्दर्य की सीमाओं को बाँध दिया जाय तो वस्तुतः यही कहना पड़ेगा कि रीतिकाल के पश्चात् सौन्दर्य का भोलापन तो मिलता ही नहीं। काव्य में भावना का उत्तरोत्तर अभाव दीख पड़ने लगा, फल यह हुआ कि भावनापूर्ण सौन्दर्य वर्णन के स्थान पर तर्कपूर्ण सौन्दर्य, विवेक की कसौटी पर कसा हुआ सौन्दर्य हमें रीतिकाव्य के पश्चात देखने को मिलता है। रीतिकालीन कवि अपनी मानव सुलभ कविता में ईमानदार हैं। क्या कोई और भी वर्णन हमें देखने को मिलता है जिसमें फागुन का मादक वातावरण हो 'अबीर की भीर' में गोकुल की गोरी कृष्ण को खींच ले जाय और 'मन की करें' फिर 'आँख नचा कर, मुसकरा कर' कहे कि 'लला फिर आइहो खेलन होरी', पद्माकर का कवि इन पंक्तियों में स्वस्थ और यौवन की उद्दाम प्रवृत्तियों की उपासना कर रहा है। वीभत्सता तब आती जब कहीं इन्द्रिय लोलुपता होती, परन्तु इस वर्णन का तो केवल एक संकेत है और आवाहन है यौवन और रूप का। काव्य की सरलता का यही लक्षण भी है जो हल्की सी अनुभूति जगा कर हमारे हृदय को स्पर्श भर कर जाय—यह स्वानुभूति का उच्च कोटि का प्रदर्शन है। यद्यपि इस काल का सौन्दर्य वर्णन स्थूल है, परन्तु सौन्दर्य का वर्णन करना और अपनी रागात्मक अनुभूतियों के प्रति ईमानदार होना तो हमें इस काल के साहित्यकार ने ही सिखलाया है। भक्ति काल में भक्ति की प्रधानता थी सौन्दर्य का वर्णन जहाँ हुआ भी वहाँ बहुत ही नपे तुले शब्दों में। सूर और तुलसी यदि राधा और सीता के सौन्दर्य वर्णन करने में विवश हुए तो भक्ति की मर्यादा ने उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्तियों पर रोक लगा कर इनके वर्णन को मर्यादित बना दिया। इस पृष्ठभूमि में रीतिकाल पला। राधा और कृष्ण का

वर्णन, उनका सौन्दर्य इस काल मे कवि को अविभूत कर गया। राधा का रूप भक्ति कालीन कवियों को किसी दूसरे रूप में दिखलाई पड़ा, परन्तु रीतिकालीन दृष्टि ने उस सौन्दर्य मे रंग भर दिया। अतएव इस काल के सौन्दर्य वर्णन को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(अ) वाह्य सौन्दर्य निरूपण।

एवम् (ब) आन्तरिक सौन्दर्य निरूपण।

वाह्य सौन्दर्य में प्रकृति एवम् वातावरण की सुन्दरता और उनके द्वारा कवि आकर्षण का अनुमान करता है। इसके अन्तर्गत ऐसा सौन्दर्य वर्णन भी आता है जिसका कि निरूपण परोक्ष (Direct) रूप से कर दिया जाता हो। उदाह के लिए—

झलकैं अति सुन्दर आनन गौर, छ्वै दृग राजत कननि छ्वै,
हँसि के बोलनि में छवि फूलन की, वरषा उर अपर जात है स्वै,
लट लोट कपोल कलोल करै, कल कण्ठ बेनी जल जावली छ्वै,
अँग अँग तरंग उठै द्युति की, परिहै मनो रूप अबै धर च्वै।

सम्पूर्ण अंग की सुन्दरता बता करके स्पष्ट कर दिया कि ऐसा होता है कि अभी रूप चू पड़ेगा। बाहरी संकेतों एवम् वर्णन के द्वारा सौन्दर्य निरूपण की यह परोक्ष रीति है। वातावरण चाहे जैसा भी हो, आन्तरिक चेतना चाहे जैसी भी हो वर्णित युवती सुन्दरी इस लिए है कि वह वस्त्र में सुन्दर है।

आन्तरिक सौन्दर्य परोक्ष रूप में है साहित्यकार केवल शरीर की ही सुन्दरता का प्रमाण नहीं देता परन्तु वह उसके अन्तर्गत नायिका की चेष्टायें हैं जिसके द्वारा उनके अन्तर्मन का प्रतिबिम्ब देखने वालों पर (नायक) पड़ जाता है। परोक्ष सौन्दर्य तो रीतिकाल की ही निधि होकर रह गया, परन्तु अपरोक्ष सौन्दर्याङ्कन का ढंग प्रगति करता गया। मानव के अन्तर्मन का विश्लेपण ज्यों ज्यों बढ़ता गया ठीक उसी गति से चेष्टाओं के द्वारा नायक नायिकाओं के अन्तर्गत का विश्लेपण करके साहित्यकार संकेतों को भाषा बद्ध करके अपने विचारों को प्रकट करने लगा। इस प्रकार से अपरोक्ष सौन्दर्य वर्णन रीतिकाल से छायावादी युग, और प्रगतिवादी तक क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता गया। अपरोक्ष वर्णन का एक रीतिकालीन उदाहरण लीजिए—

धार में जाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उचरी न उघेरी,
री! अँगराय गिरी गहरी, गहि फेरि फिरी न, घिरी नहि घेरी,
देव कछू अपनो वश ना, इस लालच लाल. चितै भई चेरी,
वेगहि बूड़ि गई पतियाँ, अँखियाँ मधु की मखिया भई मेरी।

उपर्युक्त चित्रण में पिछले चित्रण की भाँति बाहरी शरीर के सुन्दर होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता परन्तु इस चित्रण में केवल शब्द एक रूप की रूपरेखा

खींचता चलता है। 'वार-में निराधार होकर गिरना' अगोंराकर (अंगड़ाई लेकर) गिरना, फेरने से न फिरना आदि क्रियाएँ हैं नायिका के अन्तर्मन की ओर संकेत करती है, और इन क्रियाओं को वर्णन करने वाले कवि में आन्तरिक सौन्दर्यानुभूति प्रखर है। कवि ने नारी के वाह्य रूप का वर्णन नहीं किया है उसकी भावनाओं के आन्तरिक पर्त में गहरा गोता लगा कर नारी के मनोवेगों का चित्रण किया है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि रीतिकाल में सूक्ष्म सौन्दर्य को आंकने की प्रतिभा विकसित हो रही थी। रीतिकालीन नायिकाएँ अपने हाव-भाव, अपनी चेष्टाओं तथा संकेतों के द्वारा ही नायकों को आकर्षित करती रहीं।

इस प्रकार से सौन्दर्य के वर्णन में रीतिकाल का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। छायावाद का सूक्ष्म सौन्दर्य तथा प्रगतिवादी युग का अमांसल रूप इसी आधार पर आधारित है। सौन्दर्यानुभूतियों में प्रगति का तात्पर्य हम यहाँ स्पष्ट कर दें। सौंदर्य बोध की भावना में विकास का तात्पर्य यह नहीं समझते कि इस भावना में विकास क्रमशः एक, दो, तीन के Mathemetical order में हुआ है, परन्तु इस विकास के पीछे आधार और उस आधार पर बढ़कर अनुभूतियाँ कितनी सूक्ष्म हुई हैं, यही देखना उन अनुभूतियों के मूल्याङ्कन का आधार रहा है। सौंदर्य की दृष्टि से हम ऊपर कह चुके हैं, कि यह काल स्वस्थ काल रहा है, कवियों की अनुभूतियाँ रूपवर्णन पर आकर केन्द्रित अवश्य हुई है, परन्तु उस रूप मे सुन्दर आकर्षण है, सात्विक आकर्षण है। केवल रीति की कल्पना कर लेना ही सौंदर्य वर्णन का ध्येय नहीं रहा है, रीति-वर्णन के अतिरिक्त नायिका का स्वाभाविक और भरा हुआ यौवन कवि ने देखा है। इसके अतिरिक्त रूप उनके लिए मोहक रहा है, जलाने वाला नहीं रूप के इस स्थूल वर्णन ने सूक्ष्म वर्णन को पैदा किया।

इसके अतिरिक्त साहित्य मे सौंदर्य वर्णन क्रमागत, परिधि में बँधकर नहीं चला करता।[1] सौंदर्य को आंकने की नई कसौटी भी बनती है, नए ढंग से रूप को अनुभव करने की दृष्टि भी मिलती है। इन दृष्टियो को समझ करके, प्रत्येक युग की सामाजिक चेतना को पी करके ही रूप की अनुभूति निश्चित की जाती है। रीति, छाया और प्रगतिवादी युग को सौन्दयानुभूति मे ये तत्व भी विचारणीय हैं।

छायावाद काल और सौन्दर्य वर्णन

सौन्दर्याङ्कन के क्षेत्र मे हिन्दी कविता अपने रूप को परिवर्तित करती आती है। छायावाद कवि की सौन्दर्याङ्कन शक्ति के विकास के फलस्वरूप आया। काव्य की

---

1. It may be admitted that the history of aesthetic products shows progressive cycles, but each cycle has its own problem and is progressive only to that problems.

—Aesthetics Cro'ce
Literature and Art pp 221

प्रगति में, कवि की सौन्दर्यानुभूति का ही प्रमुख हाथ रहा है, छायावाद का विकास भी कवि की रुचि के ही परिष्कृत होने और विकसित होने में है। सौन्दर्य का आधार व्यक्ति का निरपेक्ष मन है साहित्कार का यही मन अपनी अनुभूति एवम् चिन्तन से वाह्य जगत से उपकरण की उपलब्धि करता हैं और उसी का शब्दों के द्वारा प्रदर्शन करता है। साहित्कार की अव्यक्त चेतना का स्वरूप जब मुखरित होता है तभी शब्दों का निर्माण होता है, अतएव काव्य व्यंजना में कहाँ तक सौन्दर्य का आभास है, यही देखना है।

शब्द अपनी शक्ति के द्वारा रूप - विन्यास पैदा करता चलता है, इस रूप-विन्यास के पीछे काम करने वाली रुचि और सौन्दर्य भावना साहित्यकार के परिष्कृत मन की उपज होती है। छायावादी साहित्यकारों की इस सौन्दर्य बोध की भावना के पीछे सामाजिक संस्कार तथा भावनात्मक प्रतिरूप छिपे हैं। सामाजिक संस्कार से तात्पर्य है समाज की उन भावनाओं का जिनके द्वारा रुचियों पर प्रभाव हुआ है। इस प्रकार से चेतना से विकसित होते हुए अन्तराल ने उस रूप को ग्रहण कर लिया है। प्रत्येक युग मे उस समय की राजनीतिक एवम् धार्मिक हलचलों की छाप हमें स्पष्ट दिखाई जाती है। सौन्दर्य के विकास में छायावाद का स्थान विशेष है। अनुभूतियों का परिष्कार एवम् स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख हो जाना ही छायावादी सौन्दर्य-साधन की विशेषता रही है।

अपने आन्तरिक भावों को वर्णन करने तथा प्रकट करने में छायावादी कवियों ने अनेक मार्ग ढूढे। वे सभी साधन सौन्दर्य से ही सम्बन्धित हैं। अपने भावों को स्पष्ट करने में शब्दों का माध्यम तो होता ही है उन्हीं माध्यम को सुन्दर से सुन्दरतर बनाना कवि को इष्ट रहा है। इसी क्रिया की उपलब्धि में,(कवि को शब्दों में अधिक व्यंजना लाने के लिए) प्रतीक मिल गया। यो तो प्रतीकों का प्रयोग बहुत पुराना है परन्तु अभिव्यक्ति के, साम्य के रूप में कम और सूक्ष्म निरूपण के रूप में अधिक छायावादियों ने ही इसे लिया। इसके अतिरिक्त अलंकार जो केवल वाणी की सजावट के लिए माना जाता था, पन्त जी ने भावों की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार[1] के रूप में उन्हें पा लिया। इस प्रकार से अनुभूतियों के ही आधार पर अलंकार और प्रतीकों का नवीन रूप में प्रयोग होने लगा। अलंकार को पहिले वाणी की सजावट के लिए माना जाता था, उनका कार्य वाणी की सज्जा का ही था, परन्तु

---

१. अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भावों की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।

—पल्लव की भूमिका

पन्त

भावों को अभिव्यक्ति भी उनके द्वारा की जाने लगी। प्रतीक भी अब तक केवल भावों की वाह्य अभिव्यक्ति करते थे, छायावादियों ने प्रतीक का प्रयोग अधिक अन्तर्मुखी और अधिक सूक्ष्म बना दिया। भाव और अभीष्ट सौन्दर्य के पूर्ण गठबन्धन के पश्चात कवि रूप-विन्यास को सांस्कृतिक शब्दों के द्वारा अभिव्यक्ति करता है। काव्य के क्षेत्र में यह सांकेतिक स्थानों की ओर संकेत का प्रयास 'प्रतीक' के नाम से जाना जाता है। उदाहरण के लिए 'विद्युत' शब्द को लें विद्युत से विजली का अर्थ बोध हुआ, व्यञ्जना के द्वारा प्रकट हुआ कि स्मृति उथल-पुथल मचाने वाली है, जिस प्रकार से बिजली चमकती है फिर लीन हो जाती है, कौंध ही उसकी विशेषता है, उसी प्रकार से कवि के मस्तिष्क में स्मृति आती है और फिर एक कौंध पैदा करके लीन हो जाती है।

विद्युत माला पहने फिर मुसकाता सा आँगन में।
फिर कौन बरस जाता था, रसधार हमारे मन में॥

कवि के मानसिक आंगन में कोई स्मृति बिजली की तरह कौंध कर आती है, कवि का मन उसका आभास करता है. फिर अनुभूति की प्रखरता के कारण उसके मन पर कोई (स्मृति लाकर हो) रसधार गिरा देता है। अतएव विद्युत के पीछे कौंधना, कांप जाना, ये सभी मिले हुए हैं, विद्युत का यह विस्तृत अर्थ प्रतीकात्मकता के द्वारा ही प्रकट हुआ'। अतएव प्रतीकों का प्रयोग भी सौन्दर्य के लिए ही हुआ है। काव्य में सौन्दर्य को लाने के लिए और उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए ही इसका प्रयोग हुआ।

छायावाद ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। एक शब्द का प्रयोग कवि के पूरे अन्तरमन पर पड़ी छाया को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर देता है। मन पर पड़े गहरे प्रभाव को अभिव्यक्ति के द्वारा वैसा ही उतार देना, छायावादी कवियों को इष्ट रहा है। सौन्दर्य का यह आभास उत्तरोत्तर विकास तो नहीं कर पाया, परन्तु भावों की स्थूलता, सूक्ष्मता में अवश्य परिणत होती गई। रीतिकालीन वर्णनों में जहाँ कहीं उरोजों का वर्णन आया है, कवि बड़े सनसनी पूर्ण शब्दों में उसका वर्णन करने में सफल रहा है, परन्तु छायावादी ऐसे ऐसे नाजुक स्थलों को भी शब्दों में गहरी व्यंजना भर कर बड़े ही सुघड़ और सुन्दर ढंग से कह देता है। कामायनी का कवि ऐसे स्थलों के वर्णन में सिद्धहस्त है।

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजुली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥

नील परिधान के मध्य अधखुला अंग, कवि को, 'बिजुली का फूल' लगता है। पलकें झपा देने वाली चमक आलोक, उतना ही कवि को आकर्षित कर देता है जितना कि बिजली का आलोक। सौन्दर्य वर्णन में शब्दों की व्यंजना शक्ति तो इस

युग का अद्वितीय चमत्कार रहा है और 'प्रसाद' जी इसके प्रतिनिधि रहे हैं। एक दूसरा उदाहरण लें—

श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा,
जीवन के उस पार उड़ाता, हँसी, खड़ा मैं चकित खड़ा रहा!!

'मुक्ताओं से ग्रथित नखदान' का तात्पर्य स्पष्ट है। श्यामा के शरीर पर नखदान और नाखून के द्वारा रगड़ से उस रेखा के चारों ओर जो सफेद सफेद विन्दु हो जाते हैं, कवि की प्रतिभा ने उसे मुक्ता कह दिया। ऐसे ही सौंदर्य पर तो कवि अपने को निछावर कर देता है।

'सौंदर्य सुधा वलिहारी, चुगता चकोर अंगारे'

कवि का व्यक्तित्व तो सोंदर्य-सुधा की वलिहारी जाता है, और ऐसे चकोर को भी जो सौंदर्य प्रेमी इतना है, कि अगारे चुगता है। इसमें चकोर की महत्ता नहीं है, महत्ता है चकोर को प्रेरणा देने वाले सौंदर्य की जिसने उसे वाध्य कर दिया अंगारे चुगने को। कवि ऐसे ही सौदर्य की वलिहारी जाता है। अतएव रीतिकाल के सौंदर्य-वर्णन और छायावादी-सौंदर्य-वर्णन में अभिव्यक्ति, अनुभूति और सौंदर्य को देखने के विभिन्न दृष्टिकोण की वृद्धि ही हम मानते हैं। रीतिकाल से छायावाद काव्य मे सौन्दर्य दृष्टि में विकास ही हुआ है। यह सौंदर्य वर्णन वाह्य न होकर आन्तरिक मनोवृत्तियों को उकसाने वाला रहा है। इस विकास के पीछे हमें सौंदर्य दृष्टि का एक क्रमागत विकास ही दिखलाई पड़ता है। इस विकास में समाज, संस्कृति, परम्परित मान्यताओं आदि का प्रभाव पड़ता है, यह ऊपर संकेत किया जा चुका है। इसलिए सौंदर्य-दृष्टि का विकास इसी सीमा में ही हमें देखना है, परन्तु कवि की अनुभूति किन किन शब्द-रूपों को चुन लेती है, चुनने की यह क्रिया, कवि को मानसिक विकास और दृष्टि के परिष्कार के रूप में ही मिली है। अन्त में हम प्रगतिवादी विचारधारा में सौन्दर्य का निर्वाह देखेंगे।

सौन्दर्य का निर्वाह प्रगतिवादी काव्य में भी हुआ परन्तु रूप-परिवर्तन तथा मापदण्डों के परिवर्तन के पश्चात्। 'दिनकर' ने 'मिट्टी की ओर' में संकेत किया कि सौन्दर्य सृष्टि के लिए कला को उन्मुक्त कल्पना की आवश्यकता है।[1] 'उन्मुक्त' शब्द का तात्पर्य समझ लेना है। उन्मुक्त कल्पना तभी हो सकती है जब कवि मस्तिष्क किसी व्यक्ति विशेष की सत्ता से आक्रान्त न हो, जब मस्तिष्क किसी

१. सौंदर्य सृष्टि के लिए कला को ऐसी कल्पना की आवश्यकता है जो उन्मुक्त हो जिस पर विधि या निषेध के कठिन वन्धन नहीं हों। कल्पना की रोमांटिक धारा अपने ही नियमों का अनुगमन करना चाहती है। उसके वाद वे अनुशासन या दमन सत्य नहीं है। उपमा की नपी तुली रस्सी उसे वाँध नहीं देती। यमक की मधुरता उसे रिझा नहीं सकती। —मिट्टी की ओर—दिनकर
दृश्य या अदृश्य का सेतु पृ० ४८

विशेष व्यक्तित्व से बंधा हुआ रहेगा (रीतिकालीन कवियों की भाँति) तब, उस अवस्था में उससे वह स्वतंत्रता और निरपेक्ष सम्मति एवम् धारणा नहीं करती बनेगी जैसी कि वह स्वतंत्र स्थिति में करता आया है। अतएव वास्तविक सौन्दर्य की सृष्टि, कला द्वारा, तभी होती है जब कवि का मस्तिष्क पूर्ण स्वतंत्र हो। अपनी उक्ति के दौरान में कवि ने (दिनकर ने) यह भी बताया है कि 'उपमा और यमक की रस्सी उसे बांध नहीं सकती।'

आज की कविता में सौंदर्य-बोध की धारणा में परिवर्तन हो जाने का कारण यह भी है कि काल की मान्यतायें बदल गई है। यथार्थ भावना के उदय के साथ ही साथ जीवन की सी कड़ुवाहट काव्य में भी आ गई है, अब तक काव्य कवि के स्वप्नों की ही फुलवारी की भाँति सुन्दर था, स्वप्नों की सुन्दरता से तात्पर्य ऐसी सुन्दरता से है जो वास्तविक जीवन से बहुत दूर थीं परन्तु अब 'विवशता, भूख, तथा मृत्यु' भी सजाने के बाद ही पहिचाने जाने लगी। सर्वेश्वर दयाल के शब्दों में दुनिया का यह ओछापन नहीं है, महज उसका सौंदर्य बोध बढ़ गया है।[1] भूखा मनुष्य किस प्रकार से अपनी भूख शान्त करता है, और मृतक व्यक्ति को किस तरह सजा धजा कर उसका अन्तिम संस्कार किया जाता है, इन क्रियाओं के पीछे भी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति कार्य करती है। अतएव कहने का तत्पर्य यही कि जीवन की वास्तविक और यथार्थ परिस्थिति में भी हम सौन्दर्य को स्थापित कर सकते हैं, और आज का मानव, विकसित सौन्दर्य-दृष्टि का मानव, इस रूप में ही समाज को देखना चाहता है। सौन्दर्य समाज और जीवन के मूल्यों से सम्बन्ध रखता है अतएव मानवीय चेतना विकसित होते-होते सत्य के इस स्वरूप को पहिचान लेती है और फिर कुरूपता और रूपवान होने और समझने की भी तो अपनी - अपनी दृष्टि है। काव्य में जीवन के दोनों पहलू आने लगे। प्रगतिवादी

---

१. आज की दुनिया में विवशता,
भूख,
मृत्यु,
सब सजाने के बाद ही पहिचानी जाती है।
बिना आकर्षण के दूकानें टूट जाती हैं,
शायद उनकी समाधियाँ नहीं बनेंगी,
जो मरने के पूर्व,
कफ़न और फूलों का
प्रबन्ध नहीं कर लेंगे।
ओछी नहीं है दुनिया,
मैं फिर कहता हूँ,
महज उसका सौन्दर्य-बोध बढ़ गया है। (सर्वेश्वर दयाल)

साहित्य में आते - आते कवि के सौन्दर्याङ्कन की दृष्टि और बढ़ी और तीखी हुई। छायावादी कवियों ने सौन्दर्य से अपने को आक्रान्त पाया है परन्तु प्रगतिवादी काव्य में इस भावना का विकास और ही रूप में हुआ। छायावादी कवियों ने सौन्दर्य-तत्व स्वीकार किया परन्तु उसमें लीन होकर स्वयं बेसुध हो गया और वह भावना इतनी बढ़ी कि कहीं - कहीं विचित्र स्थल आए, कहीं इसी सौन्दर्य की ओट में कवि ने रहस्य का सङ्केत सुना, इस कल्पना की मीठी चाँदनी में कवि का व्यक्तित्व स्वयं खो गया - सौन्दर्य सृष्टि ने उन्हें विभोर कर दिया, सौन्दर्य उनकी दृष्टि में इतना बढ़ा कि उसे अप्राप्य, कहीं - कहीं पर अलभ्य मान लिया गया। बच्चन ने तारों के सौन्दर्य की बातें करते - करते स्पष्ट किया था कि "तारों के सौन्दर्य को जग क्या पहिचाने और जाने, कवि उसे जग द्वारा पहिचाना जाना सम्भव ही नहीं मानता । सौन्दर्य बोध का स्तर इतना ऊँचा था, कि उसमें इस लोक के ऊपर की बातें निहित समझी जाती थीं परन्तु नया सौन्दर्य, बोध प्रत्येक-सौन्दर्य को रूप को, जगती का ही मानता है और उसी से सम्बन्धित पाता है यदि सम्बन्धित नहीं है तो वह सौन्दर्य अपूर्ण है, सारहीन है। सौन्दर्य-बोध का मापदण्ड अब यह निश्चित किया गया कि उसके अन्तराल में जीवन का यथार्थ है और मानवता के प्रति सूक्ष्म मोह है।

प्रगतिवादी कविताओं ने सौन्दर्य को इसी रूप में लिया है। छायावाद ने सौन्दर्य को बाह्य रूप में स्वीकारा, उसके एकाङ्गी रूप को लिया उसे जीवन से ऊपर की वस्तु मान लिया। परन्तु प्रगतिवाद ने उसे जीवन की वस्तु बना ली, जीवन उसी से सँवारा जाने लगा। सौन्दर्य का वह रूप जो अब तक कोमल था, सरसता और राग में ही सीमित था अब उठ कर सामाजिक धरातल तक आने लगा। इस प्रकार से समाज के सुखदुःख की भावनाएँ पीड़ा, श्रम, आदि का भी बोध हुआ। काव्य सौन्दर्य केवल दुकूल कालिन्दी तट तथा नायिका के उरोजों तक तथा उषा के गाल' तक ही सीमित न रह करके मिल के काले धूओं तक आया और जिन्दगी का कवि उन धूओं को भी सुन्दर समझकर उसकी प्रतीति करने लगा। सौन्दर्य के विकास में क्रमागत प्रगति होती आई है। उस प्रगति के पीछे समाज के, संस्कार, राजनीतिक एवम् बौद्धिक चेतना सक्रिय रूप से काय करती रही है।

इधर का कथा-साहित्य

छायावादी साहित्य अपने में एक अद्भुत प्रगति का सर्जन कर सका है, परन्तु उस साहित्य से जो सूक्ष्मता मिली वह व्यक्ति की ही रह गई, भाव प्रवणता एवम् टेकनिक की सूक्ष्मता और आगे आई और प्रगतिवादी काल के उपन्यासों में वह स्पष्ट लक्षित होने लगी।

उपन्यासों का मुख्य अंग है कथानक। कथानक का चुनाव, उसकी वाह्य रूपरेखा और उसके अन्तर्जगत में प्रवेश करके कथानक कहाँ तक उभरा है, उसी में उसकी सफलता का रहस्य सञ्चित रहता है। कथानक का चुनाव जीवन के किसी भी क्षेत्र, एवम् किसी भी दृष्टिकोण से हो जाता है। इसी भावना के फलस्वरूप प्रगतिवादी कथाकारों ने जीवन में केवल आदर्श की स्थापना न करके यथार्थ को भी अपनाने की चेष्टा की। पाश्चात्य उपन्यासों में (Naturalism) प्रकृतिवाद को अपना कर अपने स्वाभाविक ढंग में ही तथा नायकों को स्वाभाविकता देकर ही कथा साहित्य का निर्माण हुआ। वही प्रभाव हो, अथवा भारतीय कथाकारों की विकसित चेतना एवम् प्रयोग का फल हो, कुछ भी हो, हिन्दी उपन्यासों ने भी प्रकृतिवाद को अपना लिया गया। इस काल के उपन्यासों में जीवन का वह पहलू लिया गया हो जो पूर्ववर्ती उपन्यासकारों ने छोड़ दिया हो यह बात नहीं, जीवन का वह पक्ष जिसका वर्णन पहले हो चुका था, वही पक्ष भी कथा-साहित्य में फिर से वर्ण्य विषय बन गया, परन्तु उस स्थिति के अप्रोच में अन्तर आ गया, साहित्यकार के बदलते दृष्टिकोण ने जीवन को जब दूसरे रूप में लेना शुरू किया तभी समाज के विभिन्न रीति नीतियों को भी नए दृष्टिकोण से आँकना शुरू हुआ। फलस्वरूप उपन्यासों में वर्णित कथा वस्तु की नवीनता प्रशंसनीय नहीं रही, वरन् उस कथा वस्तु को परिस्थिति विशेष में, जीवन को एक नए ढंग से अपना की कला उल्लेखनीय हो गई।

उपन्यासों के वर्णन में मानव का आन्तरिक पक्ष जागरूक हो गया। आन्तरिक पक्ष के जागरूकता ने ही मानव के मन का विश्लेषण करना आरम्भ कर दिया। घटनाओं को गौण रख कर उनके सहारे पात्रों के आन्तरिक भावचक्रों को खोल कर रखना ही आधुनिक उपन्यासकारों का उद्देश्य हो गया। कथा की समय सीमा भी लम्बी चौड़ी न रख कर विस्तार से अधिक भावों की गहराई की ओर

लेखक का ध्यान अधिक आकर्षित होने लगा। 'अज्ञेय' के शेखर में रात में देखे गए एक क्षण का ही प्रक्षेपण है, 'नदी के द्वीप' में डेढ़ वर्ष की कथा है, परन्तु समय की सीमा को कम करके नायक के मनोवृत्ति, उसके मन पर पड़े उस बाह्य समाज द्वारा प्रभाव, तथा प्रतिक्रिया, एवम् भावों के उतार चढ़ाव की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। यह तो उपन्यास के आन्तरिक कलेवर की बात रही, बाह्य पक्ष में भी स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होने लगा। पात्रों की रचना में भी लेखक अधिक सतर्क हुआ, अब तक पात्रों की संख्या अधिक होती थी, परन्तु विवेचना पद्धति के विकास ने पात्रों की संख्या को भी कुछ कम कर दिया, शेखर, नदी के द्वीप, सुनीता, त्याग-पत्र, कल्याणी में भी पात्रों की संख्या तीन, चार से अधिक नहीं है। वर्णनात्मकता से हट कर विश्लेषण, मन और मस्तिष्क पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। पात्रों की रचना में एक पात्र के मन से हट कर कई अन्य मन में प्रवेश करके उसका तुलनात्मक विवेचन करना लेखक को इष्ट हो गया। कथा के प्रवाह में आकर जहाँ पात्रों की संख्या बढ़ती भी दिखलाई पड़ी है वहाँ आत्मकथा के द्वारा, दैवी, प्रकोपों के द्वारा अथवा किसी भी अन्य साधनों को अपना करके उन बढ़ते हुए पात्रों को मार्ग से हटा दिया गया है, अतएव पात्र की संख्या संकुचन करके उनके मनोदेश में प्रवेश करके लेखक ने भाव-दशा, मन-दशा तथा मानसिक-दशा का चित्रण किया है।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यास बाह्य घटनाओं से लदे रहते थे। घटनाओं का, तथा उनके प्रभाव का बड़ा महत्व समझा जाता था, इसी महत्व ने, घटनाओं के इसी भारी भरकम, लदान ने वार्तालाप को पनपने नहीं दिया था। पात्रों का वार्तालाप ही उनके आन्तरिक विचारों का प्रदर्शन करता है, अतएव आन्तरिक जगत की क्रिया ने घटनाओं के बाह्य रूप को गौण करके वार्तालाप की पद्धति को अपना कर पाठकों के समक्ष पात्रों के आन्तरिक संघर्षों को लाकर समक्ष रखने की एक नई शैली अपना ली। उपन्यास का कथानक अधिकांश वार्तालाप से ही घिरा रहने लगा। चेतन मन की सूक्ष्म स्थितियों भावों एवम् संवेदनाओं को सफलता पूर्वक शब्दबद्ध करने के प्रयास ने आधुनिक उपन्यासों को बहुत ही आकर्षक बना दिया। ऐसी कथावस्तु को चित्रित करने के लिए चरित्र का निर्वाह दो विधियों को अपना कर किया गया। पहिली पद्धति में साक्षात् या विश्लेषणात्मक पद्धति आ जाती है। इसके उपन्यासकार अपने पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को स्वयं बता जाता है। इस प्रकार से उपन्यासकार और पाठक के बीच कोई व्यवधान नहीं आने पाती अतएव इसे साक्षात्-विधि का नाम दिया गया है। दूसरी पद्धति परोक्ष, वा सांकेतिक पद्धति है। इस पद्धति के अन्तर्गत उपन्यास में चरित्र चित्रण केवल घटनाओं के प्रस्फुटन के द्वारा ही होता है, उपन्यास केवल संकेत करता चलता है, घटनाओं के चक्र को बनाकर, अथवा बाह्य रूप रेखा को प्रस्तुत कर उपन्यास अपने संदेश को

संकेत के द्वारा ही पाठक को समझा देता है। यह पद्धति सांकेतिक पद्धति है। आजकल दोनों पद्धतियों का समावेश है, परन्तु नाटकीय अथवा सांकेतिक पद्धति को अधिक प्रश्रय दिया गया है। टेकनिक की दृष्टि से यह प्रगति अवश्यहै। जहाँ पर विचारों का स्पष्टीकरण स्थूल रूपसे किया जाता था और उन विचारों को भावगम्य करने के लिए शब्दों की ओर उसके सीधे-सीधे अर्थ को अपना लिया जाता था वहीं पर ध्वन्यात्मकता के द्वारा ही अर्थ वोध कराया जाने लगा। काव्य में जो स्थान प्रतीकात्मकता का है वही स्थान उपन्यास साहित्य में सांकेतिक पद्धति का है। टेकनिक की दृष्टि से उपन्यासों में यह प्रगति है।

वर्णनात्मक उपन्यासों मे पाठक की रुचि वाह्य कलेवर तक ही सीमित होती थी, इनका पाठक प्रायः श्रोता होता था, वह अश्चर्य के साथ, चकित हो करके अपने समक्ष घटित घटनाओं की रूपरेखा देखता जाता है, उसका ध्यान उपन्यास के आन्तरिक विश्लेषण की ओर न होकर उसके वाह्य पक्षके विश्लेषण की ओर होगा, परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का पाठक उपन्यास के वाह्य को न देख कर उसके अन्तर्जगत में होने वाले भावों में आलोड़न विलोढ़न एवम् मन्थन कीगति को तोलता रहता है वर्णनात्मक उपन्यासोंके साथ पाठक का साथ एक इतिहास की घटना कासा रहता है, वह निर्जीव, नीरस होकर पात्रों के वाह्य पक्ष को निरखता रहता है पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लेखक पाठक को अपने मानसिक मन्थन को तो समझता ही है इसके अतिरिक्त परिस्थतियों को पदा करके, परिस्थितियों के घात-प्रतिघात का वर्णन करके स्वयं पाठक को एक ऐसी स्थिति देता चलता है और उसके मानसिक चेतना को इस ओर विवश करता चलता है कि वह अपना फैसला (Self Judgement) स्वयं दे देती है।

इन्हीं तथ्यों को ले करके आज का उपन्यास साहित्य आगे बढ़ा है। इसमें प्रधानता है सामाजिकता और मनोवैज्ञानिकता की-यों तो सामाजिक प्रवृत्ति वहिमुखी प्रेमचन्द काल में ही थी, परन्तु आन्तरिक सामाजिक चेतना का पवाह तथा प्रचार फ्रायड, मार्क्स एवम् जग की विचारधारा का प्रभाव वर्तमान काल में स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है। हमें जैनेन्द्र के प्रमुख उपन्यासों में इन्हीं गतिविधियों को आंकना है।

परख

जैनेन्द्र की कथाओं में समाज जन्य विषमताओं का प्रभाव तो मिलता ही है इसके अतिरिक्त उनके पात्रों मे दमन (Repression) मनोविकृत्ति एवम् असाधारण प्रवृत्ति भी पायी जाती है। सत्यधन अपने जीवन में नए आदर्शों की स्थापना करना चाहता है वह वकालत पास करके गांव में चला जाता है और वहीं रहने लगता है, वहीं पड़ोसिन की लड़की कट्टो के सम्पर्क में आता है, और उसका उधर उन्मुख हो जाना भी स्वाभाविक रूप से दिखलाया गया है, धीरे-धीरे प्रेम प्रच्छन्न रूप

से प्रस्फुटित होने लगता है और वह कट्टो के विवाह की बात सोचने लगता है, वह बाल-विधवा थी, अतएव वह कोई सुपात्र की तलाश में रहता है। इसी बीच में उसके मित्र विहारी इस कार्य के लिए उसे सूझ जाता है और उसकी बहिन गरिमा के साथ विवाह करने पर वह सन्नद्ध हो जाता है। यह प्रस्ताव वह कट्टो के समक्ष रखता है, परन्तु वह सत्यधन के चरणों में ही बैठकर अपना जीवन धन्य समझती है। कट्टो का यह निश्चय सत्यधन के मस्तिष्क में एक संघर्ष उत्पन्न करता है, वह सोच नहीं पाता कि वह सामाजिक गौरव, धन और यश की ओर झुके गरिमा से अपना विवाह करा ले अथवा वह प्रेम और दृढ़ता की ओर मुड़े, अन्त में वह गरिमा से विवाह की बात मान लेता है। दूसरी ओर विहारी और कट्टो को लेकर कथा का सूत्र बढ़ा है। जब विहारी का परिचय कट्टो से होता है तो उसे सत्यधन की ओर उन्मुख हुई देख करके विहारी को निराशा एवम् क्षोभ नहीं होता वरन् वह कट्टो के त्याग और सच्चे प्रेम पर आसक्त ही हो जाता है, और इस वृत्ति का वह प्रशंसक भी बन जाता है। विहारी के स्वाभाविक एवम् सरल कार्य, कट्टो के हृदय में एक स्थान उसे दे ही देते हैं, वह इसकी ओर भी आकर्षित होने लगती है, दोनों परिणय की प्रतिज्ञा में आबद्ध होते हैं, तथा निश्चय करते हैं कि विवाह नहीं करेंगे, किन्तु साथ ही रहेंगे। जैनेन्द्र का यह वाक्य 'हम एक होंगे दो प्राण, एक तन, कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।' दोनों के निश्चय की ओर संकेत करता है।

गरिमा और सत्यधन का विवाह सम्पन्न हो जाता है। गरिमा गांव भी आ जाती है, परन्तु गरिमा अपने व्यक्तित्व को प्रसार नहीं दे पाती, गांव के अपरिवर्तनशील और नीरस वातावरण से ऊब कर वह सत्यधन के साथ शहर लौट जाती हैं। सत्यधन गरिमा के पिता का व्यवसाय सम्हालने लगता है। परन्तु गरिमा के पिता जी सत्यधन के व्योहार से शान्त नही प्रतीत होते अतएव अपनी सम्पत्ति का अधिकार वह विहारी को दे जाते है। सत्यधन के जीवन मे एक मोड़ इस समय भी आई है, और उसका व्यक्तित्व धन के आकर्षण से आक्रान्त मालूम होता है, वह धनाभाव के कारण फिर कट्टो एवम् विहारी से धन सम्बन्धी सहायता को स्वीकार कर लेता है। विहारी धन की चिन्ता नही करता वह आदर्श का पालन उतना ही करता है, उसे उतना ही प्रैक्टिल रूप देता है जितना कि सत्यधन आदर्शों की रूपरेखा खीच कर संतोष करता है। वह सब कुछ छोड़ गांव में हल जोतने की इच्छा से चला जाता है और कट्टो बच्चों को पढ़ाती रहती है। एक ओर तो त्याग और आदर्श की कल्पना है, कट्टो का स्वाभाविक त्याग है, एक सुनिश्चित एवम् सुनियमित जीवन को व्यतीत करने की इक्षा है, और दूसरी ओर सत्यधन के बाहरी आदर्श की बातें, और खोखला व्यक्तित्व जो कि केवल थोथले आदर्श की ओर ही भाग रहा है, जहां कही आदर्श को कार्यान्वित करने की बात आई है, वही पर सत्यधन व्यक्तिगत हित को ही अपना सर्वस्व समझ उसे हो अपना बैठा है। कट्टो आदर्श जगत की अलौकिक सृष्टि है, जिसे धन

की कोई लालसा नहीं, कोई विशेष इच्छा नहीं, और दूसरी ओर सत्यधन अपने चरित्र के उठान का अन्त तक सम्हाल न पा करके गिराता ही गया है।

'परख' जैनेन्द्र के उपन्यासों में एक विशेष स्थान रखता है। छायावादी युग की सीमा की प्रगति के कलेवर को वह छोड़कर एक कदम बाहर आया अवश्य है। अतएव इस उपन्यास में जैनेन्द्र की भावुकता अपना केचुल छोड़ कर बौद्धिकता की ओर अग्रसित होने लगी है। लेखक ने इस वृत्ति के सम्बन्ध में स्वीकार किया है कि घटना के बोझ से लदे रहने के कारण और उस बोझ को उतार फेंकने के लिए ही 'परख' की रचना हुई है। घटना और कल्पना इन दोनों तत्वों ने मिलकर ही इसकी सृष्टि की है। भावुकता को छोड़ करके बौद्धिकता और उस के फलस्वरूप समाजिकता को लेकर इसकी रचना हुई है।[1]

इन्हीं परिस्थितियों में और इन्हीं मान्यताओं की आत्मस्वीकृति ले करके 'परख' की रचना हुई है। लेखक अपने प्रारम्भिक अनुभवों को व्यक्त करता है और प्रेम तथा परिणाम की सदा से चली आती हुई सबल भावना के प्रति वह अपना निजी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, एक ओर तो 'परख' में आदर्श है, कट्टो जिसे लेखक ने अपनी 'समस्त भावनाओं का वरदान माना है। जिसेकि वह प्राणप्रण से पूज पाया है, परन्तु यह उपन्यास जैनेन्द्र साहित्य में बढ़ा हुआ हो न हो, प्रगतिवादी उपन्यासों की शुरुआत इसी से लगती है, समाज के प्रगति अपना निजी दृष्टिकोण, नारी की ओर 'प्रसाद' का सा त्याग और श्रद्धा का दृष्टिकोण जैनेन्द्र ने पाया है, उसी के फलस्वरूप उनकी भावनाओं ने, (बुद्धि तथा सामाजिक वास्तविकता ने नहीं,) कट्टो को वरदान के रूप में मान लिया है। अन्तर्वृत्तियों का विश्लेषण इसमें मिलता अवश्य है, परन्तु उस विश्लेषण में, वह मार्मिकता और गहराई नहीं है जो आगे के उपन्यासों में है फिर भी यह एक ट्रायल है, जिस पर औपन्यासिक कला निखरती गई है। अतएव प्रसाद साहित्य ने हिन्दी जगत को एक अन्तर्द्वन्द्व प्रदान किया, मानसिक संघर्ष की स्थापना की, यद्यपि उस अन्तर्द्वन्द में मानसिक विश्लेषण और वर्तमान उपन्यासकारों की सी मानसिक विवेचन का रूप तोड़-फोड़ नहीं था, आज का उपन्यासकार मानसिक अन्तर्द्वन्द नहीं उठाता वह तो मन का, प्रवृत्ति का एक-एक भाग सामाजिक चेतना और आघात प्रविघात में जुड़ा मानता है, और नायक अपनी आन्दोलित मनःशक्ति में ही एक संकल्प कर बैठता है, और वह उसके दृढ़ निश्चय का ही परिणाम होता है। जैनेन्द्र साहित्य इस मनःशक्ति के निश्चय करने की प्रवृत्ति में एक कदम आगे बढ़ा हुआ है। अन्य उल्लेखनीय उपन्यास है 'सुनीता' इस उपन्यासके आरम्भ में ही लेखक यह मानता है कि कहानी सुनाना उसका उद्देश्य नहीं है,' वास्तविकता भी यही है कि सुनीता में कहानी नहीं सुनाई गई है बल्कि

---

१. तैयारी नहीं थी, कुछ सीखा नहीं था, जाना नहीं था, ऐसी हालत में सन् १९२९ में 'परख' लिख गया। प्रश्न होगा किन प्रेरणाओं से वह पुस्तक लिखी ?

कहानी के पीछे मानव में कुण्ठा का, नारी के विकृतियों का और कुछ अर्थों में उसकी शक्तियों का पूरा विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया गया है। एक भरा पूरा परिवार किस प्रकार से एक अन्य के सहयोग में आ करके मानसिक विकृतियों का शिकार बन जाता है, कहाँ-कहाँ मानव और मालती के भाव टकराते हैं, पति और पत्नी के मध्य से उसके कैसे-कैसे जटिल प्रश्न के अतिरिक्त सामाजिक मर्यादाओं को अतिक्रमण करके व्यक्तिवादी कुण्ठाओं का विकास हो जाता है, यही लेखक ने दिखलाने की चेष्टा की है।

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि सुनीता में कहानी कुछ भी नहीं है, चरित्रों के मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को अवश्य सुलझाने की चेष्टा की गई है। सुनीता की कथा, एक पारिवारिक विवाहित नारी के पति प्रेम और उसके अन्य प्रेमी, इनके दुहरे व्यक्तित्वों में कसे हुए नारी की कहानी है। हरि प्रसन्न सुनीता के पति श्रीकान्त का कालेज मित्र रहा है, श्रीकान्त ने वकालत करना प्रारम्भ कर दिया है और हरि प्रसन्न राजनीतिक पार्टियों के जाल में फँसकर क्रान्तिकारी हो गया है। वह अपनी पार्टी के कार्य के लिए श्रीकान्त के घर पर आकर रुकता है, वहीं उसका परिचय सुनीता से होता है, और उसकी ओर आकर्षण भी। सुनीता को वह साधारण आदतों का पुरुष नहीं ज्ञात होता, साधारण के स्तर से ऊपर उठा हुआ। थोड़ा असाधारण वृत्तियों वाला पुरुष वह सुनीता को लगता है। हरिप्रसन्न में एक काम आसक्ति (Frustration) की भावना है, और उसी भावना ने उसे कर्कश तथा उदण्ड भी बना दिया है। ऐसा लगता है वह आसक्ति की उसके जीवन की एक ग्रन्थि बन गई है और इसी नेउसे काम, हिंसा और विध्वंस का मार्ग प्रस्तुत किया है। सुनीता किसी प्रकार से उसे असाधारण से साधारण बनाने की चेष्टा करती है। इसी चेष्टा में उसका व्यक्तित्व निखरा है, एक ओर अपने पति की ओर आस्था, विश्वास और संस्कारवश उसमें भक्ति की भी कमी नहीं होने पाती वह अपने प्रत्येक कार्यो का विश्लेपण करती है, आन्तरिक रूप से वह हरिप्रसन्न की ओर आकृष्ट है, श्री कान्त की अनुपस्थिति में जब सुनीता को हरिप्रसन्न अपने पार्टी के लोगों को मिलाने के लिए जंगल में ले

उत्तर में बाहरी परिस्थितियों की प्रेरणा को यह कहिए कि मैं खाली था और नहीं जानता था कि अपना और अपने मध्य का क्या बनाऊं। दूसरी जिसे भीतरी कहनी चाहिए, यह कि एक घटना का वोध मन पर था। जिससे दवा न रहूँ तो मुझे हल्का ही रखना लाजिमी था। कह नहीं सकता कि पुस्तक में घटित घटना और अपने मन का ताना वाना किस प्रकार बैठा। पुस्तक घटना और कलाल का रासायनिक मिश्रण है कि उन दोनों के किसी अणु को भी एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

साहित्य का श्रेय और प्रेय—जैनेन्द्र पृष्ठ ४३१

जाता है और वहाँ किसी को न पाकर उसकी दमित इच्छाएँ निखर उठती हैं और वह सुनीता को नग्न रूप में देखना चाहता है । सुनीता भी इस व्यक्ति के समक्ष जो कि अपनी काम आयुक्ति के कारण इतना दुर्धर्ष और नीरस हो गया है कि पीड़ा का अनुभव करती है, वह अपने को निरावस्त्र प्रस्तुत करने में कोई सकोच का अनुभव नहीं करती, इतना होने पर भी उसके चरित्र की ऊँचाई को लेखक ने कहीं गिरने नहीं दिया है । सुनीता अपने मनोत्तापके कारण, अपने को शान्ति देने के लिए, हरिप्रसन्न जो भी चाहता है उसके समक्ष अपने को अर्पण कर देती है, लेकिन इसके पीछे भी फ्रायड के सिद्धान्त का सत्य है । आखिर वह क्यों उसे अप्रसन्न करने में अशान्त है, सुनीता की अशान्ति उसके अचेतन पक्ष का हरिप्रसन्न की ओर उन्मुख होना क्या नहीं सिद्ध करता । वह उसे एक साधारण व्यक्ति बनाना ही क्यों चाहती है, शायद उसका खिचाव और आकर्षण उसे विवश करता है । यह तो सुनीता का अपने प्रेमी की ओर झुका हुआ का व्यक्तित्व हुआ, दूसरा महत्वपूर्ण विश्लेषण जैनेन्द्र ने संस्कारों का और उसके प्रभाव का किया है सुनीता अपने संस्कारों से विवश है । पति की ओर से आन्तरिक रूप से विमुख होने के पश्चात् भी वाह्य रूप से वह पति के प्रति आस्था प्रकट करती है । वह अपने पति को जंगल में निरावस्त्र होने की बात भी ज्यों की त्यों बता देती है और अपने पति से दूर रहने पर भी अपने पति की ओर है । अपनी संस्करगत भक्ति को भूल नहीं पाती ।[1]

यद्यपि वहीं कुछ मैला मैला सा उसको अपने चरित्र में लगता है, परन्तु जैनेन्द्र ने उसके संस्कार की भावनाओं का परम्परित प्रभाव कह कर टाल दिया है । मनोवैज्ञानिकों ने अचेतन मन का भी स्थान माना है, चेतन मन अपने को मुक्त पाता है, उसे आभास होता है कि वह ठीक ही कर रही है, अपने आचरण को वह कारण

---

१. आज दिन फूटने से भी पहिले सब विसार उसने यही काम किया, श्रीकांत के चित्र के समक्ष होकर उसने अपने आत्मसमर्पण का स्मरण किया । समग्र रूप से किसके चरण में वह अपने को चढ़ा चुकी है वह यहाँ नहीं भी है तो क्या ? उसके लिए तो वहीं है, वहीं है, उसके लिए कहाँ वह नहीं है । वह तो अत्यन्त अभ्यन्तर में सदा ही प्राप्त है ।

'उसका अंग पुलक से भर गया । उसका सब संकोच सब संशय भाग गया । श्रीकान्त के सम्मुख बैठे बैठे जब उसकी मुँदी आखें खुली तब मानो सामने चहुँ ओर उसे प्रीति ही प्रीति दिखी । सब प्रभुमय लगा ।'

'अपने चित्त में सम्पूर्ण रूप से धारण करके सुनीता ने मानो अपने अणु अणु में शुचिता भर ली है । । मानो अपने को दे डाल कर वह, पूर्ण स्वतन्त्र हो गई । अहंकार का बन्धन उसके लिए अब कहाँ है ? वह मुक्त है, क्योंकि विसर्जित है ।'

—सुनीता पृ० १४९-१५०

दे करके सिद्ध करता है कि वह उचित ही है, परन्तु अचेतन मन ही सुनीता को पति के प्रति ईमानदार बनाने के लिए पति की स्मृति धारण कराता है और उसे ऐसा लगने लगता है कि वह पति की स्मृति को धारण करके सुचिता को धारण कर रही है। यह मनोस्थिति जैनेन्द्र ने परम स्थिति माना है इसमें किसी के अन्य के प्रति विद्वेप और विरोध नहीं रहता, अन्य अन्य नहीं रहता क्योंकि सब प्रेममय हो जाता है। इसी चरित्र की गहराई को प्राप्त करके सुनीता अपने को साधारण से ऊपर उठा लेती है और अपने आचरण को साधारण स्थूल दृष्टि से रोकने का साहस ही नहीं होता वह टेकनिक का विकास है जो 'अज्ञेय' तक आते आते अपनी सीमा पर पहुँची प्रतीत होती है। इस प्रकार से परिस्थिति का निर्माण करके प्रेम और वासना का संघर्ष दिखा कर जैनेन्द्र ने नारी मनोविश्लेषण सफलता पूर्वक किया है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि वर्तमान कथा साहित्य में मानव के अन्तर्प्रदेश की व्याख्या हमें मिलती है। फ्रायड, एडलर, जुङ्ग, वर्गसाँ, आइन्सटाइन आदि मनोवैज्ञानिकों ने मानव-मन के अन्तः प्रदेश में भी न जाने कितने स्तरों को ढूँढा है। इन्हीं स्तरों का विश्लेषण करते हुए आज का कथा साहित्य अग्रसित हुआ है। इस जगत में नए-नए प्रयोग, नई टेकनिक को प्रचलित किया जा रहा है। वर्गसाँ ने अपने सिन्द्धातों को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि सत्ता निरन्तर परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशीलता के पीछे सृजन की भावनाएँ छिपी हैं। सहजानुभूति के द्वारा कथाकार जिन सामाजिक तथ्यों का अनुभव करता है, उसे सोचता है अथवा उसके अन्तस्तल में यदि कहीं कोई गाँठ छिपी रहती है वह उसे ही आधार मानकर अपने कथा जगत के नायक का निर्माण कर देता है। आज के उपन्यासकार जीवन को व्यवस्थित रूप में सजाई गई दीपमालिका के रूप में नहीं मानते।[1] वह तो एक ज्योति मण्डल की भाँति है जो अपने प्रकाश से, चेतना से हमें आच्छादित रखता है मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जटिल से जटिल मानव-मन का चित्रण हमें मिलता है। मानव जगत आज जटिल होता जा रहा है, इसीलिए उनके अन्तर्मन का विश्लेपण भी जटिल से जटिलतर हो गया है। इस विश्लेषण पर आने के लिए मानव-उपन्यासकार ने तीन टेकनीक अपना लिया है। पूर्वदीप्ति (Flash back) चेतना प्रवाह (Stream of conciousness) और काल-क्रम की उलट-पुलट (Time changes)।

पूर्व रीति से तात्पर्य है कि घटनाओं के अतीत के क्रमिक वर्णन का न होना—केवल पात्रों की स्मृति से अतीत को वे दीप्ति करती चलती है।

चेतना प्रवाह शब्द का प्रयोग विलियम जेम्स के द्वारा हुआ हमे मिलता है।

---

1. Life is not a series of gig lamps symmetrically arranged, life is a luminous halo, a semitian spaent envelope surround us from the beginning of conciousness to the end.

उन्होंने यह संकेत किया है कि मानव मस्तिष्क की प्रत्येक निश्चित मूर्ति उसमें स्वच्छन्दता पूर्वक प्रवाहित होने वाले जल प्रवाह के रंग में डूबी रहती है।[1] इस प्रकार से इन सभी का प्रभाव आज कथाकार पर हमें प्रत्यक्ष रूप से देखने को मिलता है।

जैनेन्द्र के पश्चात और भी ऐसे कथाकार हैं जो फ्रायड तथा उनके अनुयायियों से प्रभावित है और उन्हीं के सिद्धान्तों को अपने कथा में स्थान दिया है। अज्ञेयकृत शेखर एक जीवनी भी बाल मनोविज्ञान और चित्त विश्लेषणवादी बाल मनोविज्ञान को सृजनात्मक रूप देने का प्रयत्न ही शेखर का निर्माण कर दिया।

दमन के द्वारा हमारी स्वाभाविक चित्तवृत्ति पर अनन्त प्रभाव पड़ता है। मानसिक क्रिया का विश्लेषण और विक्षोभ का उत्पन्न हो जाना—ये ऐसे तत्व हैं जिनका बाल मनोविज्ञान से सम्बन्ध रहा है। चित्त का विश्लेषण हमें अज्ञेय की कृतियों में विशेषकर शेखर एक जीवनी में कदम-कदम पर मिलता है। शेखर के बहिन सरस्वती की शादी के अवसर पर शेखर के आन्तरिक मन में एक उथल-पुथल देखने को मिलती है। शेखर को १०३ डिग्री का बुखार हो आता है। अपने बहिन पर वह अपना अधिकार समझता था उसके अधिकार को छीना जाना, उसे असह्य हो रहा था। दूसरी बात मानव, विशेषकर बालक लोगों की सहानुभूति भी तो अपनी ओर खींचना चाहता है—बीमार होकर ही सहानुभूति पाना शेखर के अचेतन मन का इष्ट रहा है।

अज्ञात रूप में शेखर का अपनी मौसेरी बहिन सरस्वती को 'सरस' बोध करना शारदा और शीला का अधिक निकट हो जाना भी मनोवैज्ञानिक तथ्यों से भरा पड़ा है। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक नियतिवाद (Psychic Determinism) भी हमें इनके कथा साहित्य में भी मिलता है। *कोठरी की बात* लेखक की कहानियों का संग्रह है। इस कहानी में जेल की कोठरी ने स्वयं अपने मुह में से तीन नवयुवकों के विषय में अपने अनुभवों का वर्णन किया है। सुशील नामक एक विद्रोही भी इस कहानी संग्रह से सम्बन्धित है। वह विद्रोही है तो इसीलिए कि इसके सिवाय उसके लिए और कोई दूसरा चारा भी नहीं था। वह क्रान्तिकारी इसलिए हुआ कि उसकी प्रवृत्ति इससे शान्त होती है—उसे अपनी प्रवृत्तियों में जीवन की चेतना तथा प्राणदायिनी शक्ति मिलती है। यदि कहा जाय कि सुशील शेखर का ही छोटा रूप

---

1. Every Definite image in the mind is steeped and dyed in the force water that flows round it. The significance, the value of the image is all in this halo or penumbra that surrounds and escorts it............Conciousness does not appear to itself chopped up in bits. It is nothing jointed. Let us call us the stream of thought of Conciousness or subjective life.

है तो अतिश्योक्ति न होगी। इसी बीज ने वृक्ष शेखर का रूप धारण कर लिया है। सुशील के विद्रोह की प्रेरणा घरों में, माता-पिता से और उसकी परिस्थिति से ही उसे मिलती है।

इस प्रकार से हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि अज्ञय की कथाओं ने एक नया मोड़ दिया है। गहमरी, प्रेमचन्द, प्रसाद तथा निराला ने एक निश्चित कदम उठाकर कथा-साहित्य को प्रगति दिया परन्तु अज्ञेय ने मनोविश्लेषकों के निश्चित सिद्धान्तों को आधार बनाकर अपने पात्रों में उन्हीं सिद्धान्तों तथा प्रवृत्तियों को साकार कर दिया है।

सांस्कृतिक विकास

सांस्कृतिक प्रगति पर आने से पूर्व हमें यह जान लेना है कि संस्कृति से हमारा तात्पर्य क्या है। समाज में रहते हुए प्रत्येक मानव को समाज के नियमों से अवगत होना ही पड़ता है। उन्हीं नियमों के अनुकूल ही उसके कार्य भी होने लगते हैं, यदि यह कहा जाय कि उसका आचरण भी अथवा व्यवहार भी उसी प्रकार होने लगता है तो अनुपयुक्त न होगा। इसलिए संस्कृति के अन्दर मानव के परम्परित व्योहार (Patterned behaviour) ही आ सकते हैं। परम्परित व्यवहार के अतिरिक्त और बहुत से व्यवहार हैं जिसे मानव परम्परा से आये हुए ही बातों से नहीं सीखता परन्तु आवश्यकतावश जिसे अपना लेता है। ऐसे व्यवहार भी सांस्कृतिक क्षेत्र के अन्तर्गत आ सकते हैं। अतएव संस्कृति मानव के परिमार्जितज्ञान, व्यव हार और आवश्यकताओं की वह प्रवृत्ति है, जिसे प्रत्येक मानव ने अपने समाज से सीखा है। इतने अनुभव के पश्चात जो उस समाज का मानसिक विकास हुआ संस्कृति उसी का आधार है। अतएव संस्कृति समाज का मानव पर एक संस्कार है।

संस्कृति के अन्तर्गत एक सबसे बड़ा तथ्य है जो आदमी को जानवरों से भिन्न रखता है वह तथ्य है भाषा का। ज्ञान की वृद्धि में भाषा भी पूर्ण रूप से सहायक हुई है। सम्भवतः यदि भाषा न होती हो तो विचार और अनुभूतियों का स्पष्टीकरण ही न हो पाता। जानवरों के पास भी एक प्रकार की बोली है, परन्तु यह वहम कि वे उस बोली के द्वारा अपने विचारों का स्पष्टीकरण कर सकते हैं, कुछ सीमा तक भ्रामक है। भाषा के द्वारा प्रत्येक मनुष्य वही नपा तुला अर्थ समझता है जो एक मनुष्य दूसरे से कहना चाहता है। अतएव सम्पूर्ण समूह का भाषा के द्वारा समाजीकरण होता है परन्तु जानवरों की बोलियों में यह बात नहीं आती, उनके अन्दर भी एक विचार को उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति है और उन विचारों के स्पष्टीकरण के लिए एक उफान जब उठता है तभी स्वभावतः एक प्रकार की आवाज उत्पन्न होती है, परन्तु प्रत्येक स्थानों पर और सभी समयों में वह बोली एक प्रकार की ही हो, यह नहीं देखा जाता। यदि यही तथ्य उस प्रवृत्ति में भी होता तो भाषा का एक दूसरा स्वरूप उन्हें भी दिया जा सकता था। जहां तक ध्वनि का सम्बन्ध है यह स्पष्ट है कि विभिन्न क्रियाओं के द्वारा जानवरों पर जो एक प्रभाव पड़ता है उसी के फलस्वरूप एक ध्वनि पैदा होती है परन्तु उस ध्वनि का फर्क सदा एक सा ही नहीं होता। उदाहरण के लिए एक कुत्ते को मारने पर वह पों-पों

ही चिल्लाता है। इस पों-पों की ध्वनि को वाह्य रूप से देखने पर तो वह एक सी प्रतीत होती है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक दिन मारे जाने पर कुत्ता उतनी ही देर तक और उतने ही चढ़ाव उतार के साथ चिल्लाता रहे जितना कि पिछली वार मारने पर चिल्लाया था। कहने का तात्पर्य यही कि भाषा में तो निश्चित नियम हैं, उसके चुने हुए शब्द हैं और उन शब्दों के निश्चित अर्थ भी हैं इसलिए भाषा एक दूसरे के भावों और विचारों के आदान प्रदान में सहायक होती हैं, परन्तु जानवरों की वोलियाँ (जिसका कि उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है) बिल्कुल भिन्न हैं, उनसे विचारों का आदान प्रदान नहीं हो पाता। इसलिए संस्कृति के विकास में भाषा का एक महत्वपूर्ण स्थान है, और यही (भाषा ही) मनुष्य को जानवरों से भिन्न रखती है। यद्यपि अपनी कुछ प्रवृत्तियों में वह जानवरों से अधिक निकट है। यदि सांस्कृतिक प्रगति में हम भाषा का स्थान देखें तो स्पष्ट होगा कि किसी भी संस्कृति में उस स्थान की भाषा से गहरा सम्बन्ध होगा और उस स्थान की भाषा भी यह स्पष्ट कर देगी कि मानव की भाषा तथा संस्कृति में (१) प्राकृतिक तथ्यों से कितना सम्बन्ध है (२) और भाषा ने सांस्कृतिक विकास में कितना अधिक सहयोग दिया है। संस्कृति के परिवर्तन होने पर कुछ नये-नये शब्द प्रयुक्त होते है। एस्किमों का उदाहरण लें, वे कितने ही शब्दों का प्रयोग वर्फ के लिए करते हैं, और उससे विभिन्न वर्फ के गिरने का, वर्फ पर फिसलने का आदि आधुनिक भारतीय समाज में एक थोड़ा सा परिवर्तन हुआ, यहाँ की संस्कृति पर बाह्य प्रभाव पड़ा और उस वाह्य संस्कृति ने कितने नये शब्द भारत को दे दिये। नये आविष्कारों के द्वारा विजली, टेलीफोन, और रेडियो के तकनीकी शब्द प्राप्त हुए, शायद इन आविष्कारों के पूर्व इन शब्दों की पृथक सत्ता ही नहीं रही होगी। विजली से तात्पर्य केवल आकाश में चमकने वाली विजली से ही रहा होगा। संस्कृति के विकास के साथ ही साथ शब्दों में भी बहुत गति आई और वे अपना यथास्थान अर्थ लेकर स्पष्ट प्रकट होने लगे। कुछ शब्दों की जिनका प्रयोग साधारण जनता में हो जाता है उनकी एक निश्चित पृष्ठभूमि रहती है और उस पृष्ठभूमि का उस स्थान विशेष की संस्कृति से सम्बन्ध रहता है। वातावरण, अनुभव के आधार पर भाषा में वृद्धि होती आई है। शायद यदि भाषा का यह स्वरूप न होता तो समाज का प्रत्येक मानव दूसरे मानव से इतना हिल - मिल न पाता, क्योंकि उसे अपने भावों के प्रदर्शन करने के लिए कोई निश्चित भाषा ही न रहती।[1]

---

1. A person's membership in a speech community is not merely something supperadded to his existence as a biological unit. Human behaviour is entirely permeated by social factors. With the possible exception of some physiological processes the activities of a human individual cannot be classified or predic-

भाषा का स्वरूप - प्रयोग आदि बातें समाज की 'सांस्कृतिक' दशा पर भी निर्भर रहती हैं। समाज कुछ शब्द लेकर अपनी अनुभूति के द्वारा ही अर्थ - बोध कराने लगता है। उदाहरण के लिए 'पन्त' के साहित्य में प्रभात, बूँद आदि शब्दों का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में होता है। 'पन्त' के पहले के सभी साहित्यिक प्रभात को पुलिंग के रूप में प्रयोग करते थे। परन्तु अनुभूति की तीव्रता के कारण पन्त ने (अनुभूति की तीव्रता भी संस्कार के द्वारा होती है।) प्रभात में एक झीनी झीनी आकर्षक आभा देखी और उन्होंने उसे अधिक मधुर बनाने के लिए स्त्रीलिंग में उस शब्द का प्रयोग करना प्रारम्भ किया।

संस्कृति की परिभाषा करते समय यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि संस्कृति, जन्म जात नहीं उसे मानव ने समाज से सीखा है। समाज में प्रचलित कार्यों को वह देखता है, उसे धीरे - धीरे वह स्वयं ग्रहण कर लेता है। इस परम्परित व्यवहार (Patterned behaviour) के द्वारा मानव जिन प्रवृत्तियों को अपने अन्दर आत्मसात कर लेता है वही उस समाज की संस्कृति है। व्यवहार की कुशलता ही समाज में सब कुछ है।

संस्कृति तथा सभ्यता

हिन्दी में संस्कृत शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के कल्चर के स्थान पर होता है; समाज अपनी तमाम विकृतियों के अतिरिक्त भी पूर्ण है, पूर्ण इस रूप में कि सामाजिक परम्परित नियमों का पालन करते आ रहे हैं, और इस प्रकार से परम्परितनियमों के द्वारा उन्हें अतीत अनुभव का एक इतिहास प्राप्त होता जा रहा है। वह इतिहास उनके लिए लाभदायक सिद्ध हो रहा है—अतीत की उन बोलती रेखाओं के रूप में, स्मृतियों के रूप में जिनमें उनके विजय और पराजय दोनों के कारण सञ्चित हैं। मानव अपने अतीत में पराजित होने के कारण को जान कर आगामी जीवन में सतर्क होता जा रहा है। इतिहास-परम्परित व्यवहारों को मानने से उसे एक यही लाभ हो रहा है—और इन्हीं परम्परित व्योहारों को पालन करना ही संस्कृति का द्योतक है। संस्कृति मानव के (अन्य मानव के प्रति) व्यवहारों तक ही सीमित है, परन्तु सभ्यता उससे आगे की वस्तु है, वह बतलाती चलती है कि हमारे पास है क्या? एक समाज सभ्य तभी कहा जा सकता है जब उसके अन्दर साहि-

---

ted on the sole basis of biological equipment, but depends very largely upon the society he lives and upon his place in this society.

—Philosophical Aspects of Language pp. 175

त्यिक, सांस्कृति, राजनीतिक और कलात्मक अभ्युदय अथवा जागरण हुए हों।[१] मानव के इतिहास में सम्भवतः ऐसा युग जिसमें हिन्दू संस्कृति अपनी पराकाष्ठा पर थी। वह युग ३०० और ५०० ईस्वी सन् के मध्य का रहा है। वह ऐसा युग है जब सस्कृत साहित्य की अपनी एक विशिष्ट सत्ता थी। संस्कृति, किसी एक विशिष्ट युग के पश्चात् आगामी युग तक प्रगति करती ही जाय, यह निराधार प्रतीत होता है। सांस्कृतिक प्रगति से तात्पर्य यह कदापि नहीं कि पिछले युग में संस्कृत के स्वरूप से अधिक विस्तृत और अधिक गौरवपूर्ण ही आगामी युग में संस्कृति का स्वरूप हो। इसका कारण है, एक युग की संस्कृति दूसरे युग की संस्कृति से कितने आगे है—यह कहा ही नहीं जा सकता। परिस्थितियाँ और अनुभव ही सदा से संस्कृति और सामाजिक प्रगति में गतिशील रहे हैं, और ये दोनों तथ्य अनुभव और परित युग और समय के बन्धन में बाँधे नहीं जा सकते। प्रत्येक परिस्थितियाँ अपनी एक नई समस्या उत्पन्न करती है, और प्रत्येक अनुभव एक नवीन मार्ग ढूँढ़ लाता है, इस नवीनता में परम्परा की पुरानापन तो रह ही नहीं पाता। इतना अवश्य होता हैं (जैसा कि कह चुका हूँ) कि इस अनुभव का आधार हमारा पिछला अनुभव कई अंश तक (जहाँ तक कि प्रस्तुत परिस्थितिओं) एक सा हो जाता है, उसी स्थल पर मनुष्य अपने पिछले अनुभवों से लाभ उठा लेता है। उसे ज्ञात हो जाता है कि ऐसी परिस्थिति होने पर ऐसा कार्य हुआ था, और उस कार्य का फल उसे वहीं सतर्क करा देता है।

एक संस्कृति दूसरी संस्कृति से भिन्नता रख रखती है। उसके स्वरूप और स्तर में कुछ अन्तर पड़ सकता है चाहे वह अन्तर नैतिक स्तरों पर आधारित हो

---

1. Civilization of a Society however created—whether by elite of that society through their own effort a through borrowing from some other society–becomes effective only through the lives of individuals. Civilization to be effective must therefore be appreciated, absorbed and acted upon by the individuals and groups composing the society. This individual aspect as opposed to the group–aspect, in other words the realistic and operative aspect illustrated in the lives of individuals composing the society may be properly termed culture. Civilization is the sum-total of social heritage projected on the social plane while culture is the same heritage focused on the individual plane. "Civilization is what we have and culture is what we are."

—Culture and Civilization by G. S. Gharve
Culture and Society pp. 3

अथवा बौद्धिक स्तर पर, इसका कारण केवल अनुभव और परिस्थितियाँ ही हैं। अतएव इसी आधार पर संस्कृति को हम चार भागों में विभक्त कर सकते है। (१) संस्कृति, (२) उच्च सभ्यता, (३) बहुत उच्च सभ्यता, और (४) पूर्ण सभ्यता। संस्कृति की इन सीमाओं से तात्पर्य कुछ विशेष है। इन सीमाओं के पीछे तो एक स्वाभाविक प्रवृत्ति छिपी है, वह प्रवृत्ति है प्रगति की। संस्कृति और उच्च संस्कृति के बीच की दूरी मनुष्य की आवश्यकताओं से ही उत्पन्न है—उसने तभी पहला वर्ग (संस्कृति) को छोड़कर उच्च संस्कृति में प्रवेश किया होगा जब उसने कुछ अन्वेषण (Adventure) और अनुभव किए होंगे। यही अन्वेषण और अनुभव उस प्रगति की ओर ले जा रहे हैं। यद्यपि कुछ विद्वान संस्कृति और सभ्यता की प्रगति इस रूप में (as a value) नहीं मानते।[1] परन्तु उनके देखने का यह दृष्टिकोण की नहीं है। उनके विचार में संस्कृति प्रगति के साथ ही साथ, सभ्यता की प्रगति के साथ ही साथ जीवन में आर्थिक विषमताएँ पैदा होती जा रही हैं, जीवन अधिक जटिल होता जा रहा है। अतएव वे अपने विचार से यह उचित नहीं समझते कि यह विकसित प्रगति की सीमा में आ सकता है।

अन्त में सांस्कृतिक विकास का स्वरूप निर्धारित करते समय हम यही कह सकते हैं कि एक स्थान की संस्कृति से दूसरे स्थान की संस्कृति से भिन्नता रखती है, एक जाति की संस्कृति दूसरी जाति की संस्कृति से कुछ अपनी कुछ अलग सत्ता रखे हुए दिखलाई पड़ती है। इसका कारण जो भी हो चाहे व्यवहारिक जीवन में अन्तर अथवा परम्पराओं की मान्यताओं में अन्तर हो परन्तु एक स्थान अथवा जाति की संस्कृति में भिन्नता तो पाई ही जाती है। यदि इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए भारत को देखें तो यह बात अधिक स्पष्ट प्रतीत होगी। मुसलमानों और अंग्रेजों की पराधीनता में रहने पर भी भारत की संस्कृतिक के मूल में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ। यद्यपि वाह्य-आचरणों में एक विशाल परिवर्तन है और वह परिवर्तन वाह्य-संस्कृतियों के ही आधार पर है परन्तु मूलाधार में परिवर्तन नहीं हो सका। संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान विल्सन डी० वेलिस के अनुसार—

"[2]संस्कृति (पूर्ण रूप से) एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं यात्रा किया करती।

---

1. Social development has been a gigantic mistake, that, the farther man has travelled from a simple state the more unhappy has his lot become, that civilization is radically vicious."

—J. B. Bury

2. A culture does'nt travel in toto into other culture areas though the peoples who carry if may extend their and so enlarge the and geographical boundries and their culture. Morever when people travel to new territory usually that culture is modified, it does't remain identical with its old self though of course it may preserve many old traits. Thus the culture of the old

अधिकांश रूप में यह देखा गया है कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपनी संस्कृति के प्रचार करने वाले लोगों में उस स्थान की संस्कृति के अनुसार ही कुछ परिवर्तन हो गए हैं। इस प्रकार से पुरानी दुनिया की संस्कृति पूर्ण रूप से नई दुनिया में नहीं पनपी।" यद्यपि मूलाधार में परिवर्तन से नहीं मानते, परन्तु फिर भी एक स्थान की संस्कृति दूसरे स्थान की संस्कृति में पूर्ण रूप से बिठाई नहीं जा सकती। इसका कारण है, प्रत्येक स्थान की अपनी आवश्यकता में और अपने ही उत्तर है। यह अवश्य है कि एक संस्कृति का दूसरे संस्कृति पर अन्तरावलम्बन अवश्य है। इसका कारण है, भारत पर होने वाले आक्रमण और विभिन्न जातियों का एवं दूसरे से मेला यदि संस्कृति मानसिक विकास की एक सीढ़ी न होती तो शायद ऐसा न हो पाता। अन्य जातियों के सहयोग से या आक्रमणकारी के अधिक निकट आने से ही सांस्कृतिक परिवर्तन होते आए हैं। पहले तो एक जाति दूसरी जाति की मान्यताओं को घृणा की दृष्टि से देखेंगी, उसे अपनाने में हिचकेगी परन्तु वही मान्यताएँ घृणा करने वाली जाति के निकट दिखलाई पड़ने लगेंगी—क्यों, इसका कारण मानसिक संघर्ष का वह धरातल है जहाँ संस्कृतियों के प्रति घृणा संचित नहीं थी परन्तु व्यक्ति विशेष अथवा जाति विशेष के प्रति घृणा और द्वेष संचित था—व्यक्ति विशेष या जाति विशेष के प्रति घृणा ज्यों ही दूर हुई त्यों ही उनकी संस्कृति पहली संस्कृति पर अधिकार जमा बैठी। घृणा के फलस्वरूप ही युद्ध था, युद्ध के फलस्वरूप ही मान्यताओं में अन्तर था परन्तु संघर्ष के समाप्त होने पर जब एक जाति दूसरी जाति के निकट आई तो स्वभावतः बिना जाने हुए दोनों संस्कृतियों में कुछ आदान-प्रदान होने लगा। एक दूसरे की वेष-भूषा, कला और चिन्तन धाराओं में कुछ एक से (common) तथ्य मिलने लगे। यदि वेश-भूषा को लेकर चलें तो भारत ने बहुत सी चीजें आक्रमण से अपनाई है। प्राचीन भारत में उत्तरीय और अधोवस्त्र का प्रयोग होता है। आर्यों के आक्रमण ने 'उष्णीष' (पगड़ी) और द्रापी (एक प्रकार की बण्डी) का प्रचलन हुआ। अचकन कुशान-नरेशों की देन है।[1] यह अपने विविध रूपों में होता हुआ मुगल काल तक आया, इससे कुछ ही भिन्नता लिए हुए काश्मीरी कोट है। पगड़ी का प्रचलन भी आर्यों के साथ भारत में आया पहले यहाँ पगड़ी का प्रयोग नहीं मिलता या पहनावे के अतिरिक्त रूढ़ियों और रीति-रिवाजों पर अन्य देशों का भी काफी प्रभाव पड़ा है। महाभारत काल तथा रामायण काल में गन्धर्व और स्वयंवर द्वारा ही विवाह प्रचलित था। अपने भुज बल से—उसका स्वामी बन सकता था। यह भी आवश्यक नहीं था कि विवाह की किसी एक प्रथा को ही एक पुरुष जीवन भर अपनाएँ। यदि वह एक ही प्रथा अपनाता तो शायद आज की भाँति

---

world was not transplanted entire to the new, but only certain traits crossed the Atlantic......

—Culture areas and culture traits
(Culture and progress) pp. 18
by Wilson D. Wallis

उसका जीवन अधिक संयमित और नियमित रहता, परन्तु महाभारत काल के पात्रों में यह बात स्पष्ट पाई जाती है। अर्जुन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। वह एक बार—पहिली बार, द्रोपदी से विवाह सम्मिलित रूप में स्वयंवर से करते है दूसरी बार कृष्ण की बहिन को गन्धर्व-विवाह से वरण करते हैं, उलूपी (नाग-कन्या) का भी विवरण उसके जीवन में एक विचित्र हल-चल और वैवाहिक प्रथाओं में एक मोड़ उत्पन्न करता है। वह युग बाहुबल प्रधान युग था—वही मनुष्य सब कुछ कर सकता था जिसमें कुछ शारीरिक शक्ति हो, और इसी शारीरिक शक्ति पर ही उस समय की वैवाहिक पद्धति भी आधारित थी इसके अतिरिक्त स्वयंवर प्रथा में स्त्रियों को अपने मनोनुकूल वर वरण करने की स्वतंत्रता अवश्य थी—परन्तु इस स्वतंत्रता का आधार भी स्वच्छन्द था। कोई भावुकता नहीं थी बल्कि इसके पीछे भी पुरुष की वीरता का प्रश्न रहता था—द्रौपदी और सीता का स्वयंवर दो विभिन्न युगों की एक सी प्रचलित रूढ़ियों का ही प्रमाण है। इन स्वयंवरों के पीछे भी एक परीक्षा—बल - वैभव दिखलाने की जो प्रवृत्ति छिपी रहती थी वह प्रशंसनीय है। इन स्वयंवरों में वही विजयी होता था जिसकी भुजाओं में बल हो, जो अपने कार्यों से लोगों को चकाचौंध कर सके। द्रौपदी का स्वयंवर अर्जुन के बल - विक्रम की आज भी प्रशंसा कर रहा है। धीरे-धीरे भारत में विदेशी आक्रमण हुए युद्ध हुए—जिनमें जय अभारतीयों के हाथ और पराजय भारतीयों के हाथ लगी। जय, पराजय के पश्चात भी दो जातियाँ—अपनी विभिन्न संस्कृतियों को लिए आगे आईं। मुगल शासकों की विलासिता को हिन्दुओं ने भी अपनाना प्रारम्भ किया। हिन्दू भी अधिक विलासी हुए। यद्यपि इसके भी पूर्व यदि हम आदिकाल तक जायें तो उसी दिन से हमें इतिहास में 'दासता' का विवरण मिलेगा जब मानव दल ने लहलहाती हुई पृथ्वी को देखा, स्वयं उग आती घास को देखा तभी खेती का विचार उदय हुआ और श्रम की तभी से नींव पड़ी। खेतों में उगी हुई फसल का प्रयोग करने के लिए, काटने - छाँटने के लिए मानव ने अन्य मानवों से भी कार्य लेना प्रारम्भ किया—इस प्रकार से श्रम की वृद्धि, उत्पादन के साधन ने कुछ ऐसे व्यक्तियों को पैदा किया जो कार्य करके अपने स्वामियों से उसके लिए कुछ माँग लिया करते थे और तभी से इन श्रमिकों का स्वामी सोचने लगा (अपने हित के लिए) कि इनसे कार्य अधिक से अधिक और उस कार्य के फल-स्वरूप जो भी धन अथवा धान्य दिया जाय वह कम से कम मात्रा में हों। संस्कृतियाँ अपना रूप बदलती गईं मानव ज्यों - ज्यों अपने को अधिक सभ्य कहने लगा त्यों-त्यों वह श्रमिकों को और दबाता गया। सभ्यता के विभिन्न रूपों के साथ दासता के रूप भी बदले हैं। प्रारम्भ काल में ये खेतिहरों के सहायक रहे, सामन्त युग में ये सामन्तों के दास रहे और आधुनिक युग में भी श्रमिक शोषित है, मिल के मालिक आज भी इन्हीं के आधार पर बढ़ते जा रहे हैं, अधिक पूँजी का सञ्चय करते जा रहे हैं। प्राचीन काल में होने वाले युद्धों में जब भी दो राजाओं का आपस में

संघर्ष चलता था अन्त में हारे हुए व्यक्ति विजयी को दास दासियाँ भी देता था। इन दासों पर राजा का पूर्ण अधिकार था, वे इनको बेच सकते थे, किसी वस्तु से बदल सकते थे अथवा इनका किसी प्रकार से शारीरिक प्रयोग कर सकते थे। महाभारत काल ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। युधिष्ठिर का द्रौपदी को जुआ पर लगा देना क्या यह पुरुष का पूर्ण रूप से नारी पर अधिकार नहीं सिद्ध करता ? उस समय की क्रीत दासियों से भी पुरुषों का सम्बन्ध होता था।

राजाओं अथवा शक्तिशाली व्यक्तियों ने अपनी दासियों के साथ भी भोग किया है, पाण्डवों की उत्पत्ति इसका प्रमाण है। यद्यपि दासियों को भोग करने का आदेश उन्हें शास्त्रों द्वारा नहीं मिला, दासियों से विवाह करने का भी आदेश शास्त्र नहीं देता फिर भी उनकी कामान्ध शक्ति ही ने उस समय ऐसे रिवाज को प्रचलित कर दिया था। मनु ने केवल आठ प्रकार के ही विवाहों का विवरण दिया है। उनके अनुसार ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ऐसे आठ प्रकार के विवाह हैं। इन आठो विवाहों की विधि और तुलनात्मक कोटियाँ भी उन्होंने निश्चित की हैं। ब्राह्म विवाह में योग्य वर को सत्कार पूर्वक बुलाकर गहनों से युक्त कर कन्या का दान किया जाता है। दैव विवाह में यज्ञ आदि करके कन्या का दान वर को कर दिया जाता है। एक गौ और एक बैल अथवा दो गौ और दो बैल को लेकर वर को कन्या देना आर्ष विवाह है। बैल और गाय को देना उस समय की ओर सङ्केत कर रहा है जब मानव ने जानवरों को पालना प्रारम्भ कर दिया था, और खेती करना भी सीख लिया था। शायद आर्ष विवाह में गौ और बैल का दान इसी खेती के आधार पर ही है। 'हे वर तू इसी कन्या के साथ गृहस्थ धर्म आचरण करना' यह कहकर के कन्या का दान करना प्राजापत्य विवाह है, इच्छानुसार धन देकर विवाह करना असुर विवाह है। वर और कन्या के तैयार हो जाने पर संयोग हो जाना गन्धर्व विवाह है। युद्ध या बल पूर्वक कन्या का हरण करना ही राक्षस विवाह है, चोरी से कन्या का हरण करना पैशाच विवाह है।[२]

---

१. दासता का इतिहास अत्यन्त लोमहर्षक है। चाहे उसका संगठन ऐशियाई-अफ्रीका में हुआ हो चाहे योरप-अमरीका में। दासता के इतिहास और उसके भारतीय रूप का अध्ययन बर्बर और सभ्य काल—दो स्पष्ट स्कन्धों में उपादेय होगा। दासता का उदय बर्बर काल में हुआ।

—दास प्रथा का विकास

डा० भगवतशरण उपाध्याय।

२. आठ प्रकार के विवाहों का श्रेणीगत विभाजन इस प्रकार से हुआ है। ब्रह्मोदेव आर्षः प्राजापत्य आसुरोगांधर्वोराक्षसः पैशाचइत्यष्टौविवाहः। योग्यवरमाहूयालं कृत्यकन्यादान विधिनातस्मैदानंब्रह्मो विवाहः यज्ञे ऋत्विक कर्मकुर्वतेऽलंकृत्य कन्यार्पणंदैवः व रादेकंद्वेमिथुनं - द्वेवामृहीत्वातस्मै कन्यार्पणमार्षः

महाभारत काल में राक्षस विवाह और पैशाच विवाह का का विवरण मिलता है। अर्जुन ने अनेक स्थानों पर—कहीं तो कन्या का हरण करके कहीं पर आपस में ही निश्चित करके ही विवाह किया है। ऐसे विवाह के लिए वे कहाँ तक अधिकारी थे, यह दूसरी बात होगी। हाँ स्त्रियों को दासी बना कर रखना या दासी रूप ले लेना यह कहीं भी धर्मशास्त्र में नहीं मिलता। समय - समय पर ही शक्तिशाली पुरुषों ने अपनी इच्छानुसार ही दास और दासियों के साथ अमानुषिक व्योहार किए हैं। अतएव दास प्रथा भारत की पुरानी प्रथा है, सांस्कृतिक विकास के साथ ही साथ दासों का यह रूप मन्द पड़ता जा रहा है। ज्यों-ज्यों एक चेतना और जागृति का उदय हो रहा है, वैसे ही वैसे मानव अपने को पहिचान रहा है। उत्तर वैदिक काल के साहित्य और इतिहासों में भी दास प्रथा का विवरण मिलता है। सिकन्दर के हमले के पूर्व तक्षशिला में दास दासी बेचे जाते थे जिनमें ऐसी कन्यायें भी थीं जिन्हें पिता बेच दिया करते थे। आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश में हमें लड़कियों का लुक छिपकर व्योपार करने वाले लोग मिलते ही हैं। काव्य काल में विशेष कर कालिदास के काव्य में दास दासियों के लेने देने की प्रथा का विवरण मिलता है। चन्द्रगुप्त के शासन काल का विवरण देते हुए मेगस्थनीज ने भी चन्द्रगुप्त को कई दासियों से घिर कर चलने की ओर सङ्केत किया है—शायद इनका मुँह देखना बहुत शुभकर माना जाता था।[1]

इदं गोमिथुनग्रहणम्ननिवितम् तस्यकुमारीपूजनार्थत्वेन- कन्याविक्रयाभावति त्वयैतयेनसहगृहधर्मं आचरणीय एत स्या जीवनपर्यन्त विवाहांतंर चतुर्थश्मोवान कार्यंइत्वाभाव्यकन्यादानं प्रजापत्यः ज्ञातिभ्योपथेच्छधनंदत्वा विवाह आसुरः वर वध्वोरिच्छयान्योन्यसंभोगे गान्धर्वः । युद्धविना बलाद्वाणंराक्षसः चौर्येणं-कन्याहरणपैशाचः पूर्वचतुर्पपूर्वः पूर्वः श्रेष्ठः उत्तरेषुत्तरउत्तरोनिद्यः तत्र विप्रस्य ब्राह्मदैवोप्रशस्त क्षत्रिय स्य गांधर्व राक्षसौ असुरौ वैषस्य आर्ष प्रजापत्य पैशाचः सर्वेपा संकटे राक्षस मिवाः सदाविप्रस्य ब्राह्मदैवेत्तरेपट क्षत्रिस्य वैश्य शूद्रयो ब्राह्मदैवराक्षस मित्राः पच सर्वेष्वपिविवाहेयुत्तत्त्वकारैः कन्यापरिग्रहोत्त र स्वस्थ गृह्यरीत्याविवाह होमादि विधिरा वश्यकः दानविधिनादनं सर्वत्रमवति पैशाचादौसप्तपदीविधिः पूर्व मन्पस्मैकन्यादेयः ब्रह्मादिष्वपिकन्यादानोत्तरमपि सप्तपदीविधेः पूर्व वरस्यषढ़त्वादिदोषज्ञातेवरमतो वा कन्यास्यस्मैदेया ब्राह्मादिष्कपि-कन्यादानोत्तरमपि सप्तपदीविधेः पूर्व वरस्यषढत्वादिदोषज्ञानेपरम तोवा कन्या-न्यस्मैदेया ब्राह्मविवाहोढायंजतिः पुत्रोदशपूवन्दिशपरान् पितृ स्तारयेत् दैवोढ़ा-पुत्रःसदासहा प्राजापत्योढ़ापुत्रः षट्पट् आर्षोढापुत्रस्रोहंगीन् ।

धर्म सिन्धु तृतीय—परिच्छेद पृ० ३७३।

१. ईसा पूर्व चौथी शती में होने वाले चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि राजा का प्रातःकाल उठते ही इन नारियों का मुख देखना कल्याणकर है। तत्सामयिक सिल्यूकस राजदूत मेगस्थनीज ने भी चन्द्रगुप्त के नारियों से घिरकर चलने

शुभ और अशुभ मंगल अथवा अमंगल का आधार किसी भी राजा की सम्पति पर ही आधारित था, जो जितना अधिक सम्पतिशाली रहा होगा वह उतने ही दास दासियों को रख सकता होगा, इसी रूप मे ही राजा अपने शक्ति का सँतुलन और मूल्यांकन करता था। दास दासियों का दल उसके शक्ति का और विजय की ओर सङ्केत करता था।

अतएव दास-प्रथा भारतीय संस्कृति के इतिहास का एक विशिष्ट अध्याय है। संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन के कारण, वाह्य-प्रभावों के कारण मूल चेतना में एक परिवर्तन अवश्य हो गया है परन्तु 'मूल चेतना' का आधार वही है। चन्द्रगुप्त और कुशान राजाओं के दास धीरे-धीरे मुसलमान काल में आते आते स्वयं अपना एक विशिष्ट स्थान ले लेते हैं। मुसलमान काल के इतिहास में गुलाम-वंश इसी का उदाहरण है। अब दासों में एक संगठन-शक्ति आ गई थी, उन्होंने अपने बहुसंख्या में होने का लाभ उठाया और स्वयं शासक बन गए, बलवन इसका नेता रहा। धीरे-धीरे युग और आगे आया—गुलाम बनाना हेय समझा जाने लगा—यह युग की प्रवृत्तियों के परिवर्तन के फलस्वरूप ही था, परन्तु फिर भी इसकी सत्ता आज श्रमिकों के रूप में है आज के मिल मालिकों ने उनके श्रम को थोड़े से जगमगाते हुए सिक्कों को देकर मोल ले लिया है, वे उसका जिस प्रकार भी चाहें प्रयोग कर रहे हैं और उनके श्रम का मनमाना लाभ उठा रहे हैं। यद्यपि उनके शरीर पर अब पहले का सा स्वामियों का अधिकार नहीं, फिर भी उनके श्रम का उपयोगितानुसार अभी मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है। अतएव यह बात प्रमाणित है कि दास प्रथा बहुत पुरानी प्रथा है, इसका जन्म (इतिहास के पन्नों के अनुसार) मुगलकाल में ही नहीं परन्तु हिन्दू-काल में ही है। यह हो सकता है कि दास और दासियों के साथ बर्ताव और व्यवहारों में वह कटुता न रही हो जो मुगल काल में थी अथवा जो कटुता ग्रीक और रोम दासों के साथ किए गए व्योहारों में मिलती है। यदि दास प्रथा का आविर्भाव पहले से ही न होता तो हरिश्चन्द्र के बिकने की कहानी और शैव्या के दासी के रूप में कार्य करने के वास्तविकता का कोई आधार ही न होता। राम के

की ओर संकेत किया है। ये यवनियां कौन थीं इसका विस्तृत प्रथम शती ईस्वी के अज्ञात ग्रीक लेखक द्वारा प्रस्तुत 'इरिथ्रियन-सागर का पेरिप्लस' नामक ग्रन्थ करता है। उसमें लिखा है कि किस प्रकार ग्रीक आदि नगरों से दासियां जहाजों में भर भर कर सुरा और अन्य व्यापारिक वस्तुओं के साथ भारत के पश्चिमी तट के बेरीगाजा (भृगु-कक्ष-भड़ोच) और शूर्पारक कल्याण आदि बन्दरगाहों पर उतारी जाती थीं जहां से उज्जैन होती हुई ये उत्तरी नगरों के राजप्रासादों और श्रीमानों के महलों में पहुंचती थीं। —दास प्रथा का विकास

भारतीय समाज का आर्थिक विश्लेषण पृष्ठ ३१३

डा० भगवत शरण उपाध्याय

विवाह में भी जनक से महात्मा रघुनाथ जी को दहेज में सौ करोड़ दीनार (सुवर्ण मुद्रा), दस हजार रथ, दस लक्ष घोड़े, छः सौ हाथी, एक लाख पैदल चलने वाले (पदाति) और तीन सौ दासियाँ दीं।[1] सम्भवतः आज भी उसी दास प्रथा का शेषांश पूर्वी-उत्तर प्रदेश के सनातन धर्म की रीति से होने वाले विवाहों में प्रचलित है[2] (कालिदास-काल) ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। पार्वती ऐसी साध्वी जिसने तप के द्वारा शंकर पर विजय पायी उसके लिए भी पिता का (वर के घर जाते समय) आशिर्वाद है कि पति के रुष्ट होने पर भी तुम रोष न करना[3] यह तो ठीक है, कौटुम्बिक शान्ति को स्थिर रखने के लिए यदि एक पक्ष किसी दूसरे पक्ष के रोष करने पर यदि शान्त ही रह जाता है तो उसका दासत्व नहीं हुआ परन्तु उसके शील और अच्छे स्वभाव का ही परिचय है, इसके अतिरिक्त पिता यह भी आशिर्वाद के रूप में कहता है कि पति के कुल में तुम्हारा दासत्व भी उचित है।[4]

संस्कृत साहित्य में प्रयोगकिए गए 'दास' शब्द का अर्थ कहाँ तक मुगल काल के दास दासियों से मिलता है, यह ठीक-ठीक बहुत सोचने के बाद भी कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता परन्तु दास दासियों का अपने शरीर पर भी अधिकार नहीं था। क्या वह अपने स्वामी की इच्छा के विरोध मे कुछ कह सकते थे, किसी दास ने ऐसा कुछ कहा है, इसका भी काव्य-काल मे कोई उदाहरण नहीं मिलता है। अपने विषय में कुछ बोल न सकना ही उनके दासत्व की ओर संकेत कर रहा था। इस प्रथा का, ज्यों-ज्यों युग बढ़ता गया परिमार्जन होता गया—और वह परिमार्जन विभिन्न युगों के मानसिक स्तरों के कारण ही था। पिछले पृष्ठों पर सांस्कृतिक विकास की कई मंजिल देख चुके हैं। इस प्रगति का कारण केवल मानव ही रहा है—यदि वह सामाजिकता से ओत प्रोत न होता तो सम्भवतः वह अपने सामने उपस्थित वातावरण में, रहते हुए भी अपने अनुभवों की ओर ध्यान ही न दे पाता। उसका यही दृष्टिकोण—विगत अनुभवों की ओर ध्यान देना ही कभी-कभी परम्परा में एक परिवर्तन उपस्थित कर देता है। आदि काल से अब तक जो प्रमाणित और अनुभव द्वारा प्राप्त की हुई विचारों की शृङ्खलाएँ चली आ रही है उनमे एक नई कड़ी जोड़ने का प्रयास आगे के युग का अभाव ही करता रहा है और यही पुराने और नवीनतम परिस्थितयों का

---

१. इति स्तुत्वा नृपः प्रादादाघवाय महात्मने।
दीनाराणां कोटिशतं स्थानामयुतम् तदा।
आश्वानां नियुतं प्रादाग्दजानां षट्शतं तथा।
पत्तीनां लक्ष्मेकं तु, दासीनां त्रिशतं ददौ।
—अध्यात्मरामायण—सर्ग ६ श्लोक ७६-७७

२. आज भी लड़की के साथ अन्य निश्चित दहेज की वस्तुओं के साथ ही साथ लौंडी गुलाम के लिए १ रु० दे दिया जाता है।

३. भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपंगमः

४. पतिगृहे तव दास्यमपि क्षमम्। —कालिदास (कुमार सम्भव)

संधिस्थल है जब सांस्कृतिक प्रगति का सूत्रपात होता है। पुरानी मान्यताएँ अपने पुरानेपन के कारण टूटती हैं, हेय समझी जाने लगी है और उनका स्थान नवीन मान्यताएँ ग्रहण कर लेती है। यह मानव के चिन्तन का स्वाभाविक विकास है जो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देता है। उसके विवेक और अनुशीलन करने की क्षमता में एक ऐसा मोड़ उत्पन्न हो जाता (युग की प्रवृत्तियों के कारण) जो उसको एक नई दृष्टि प्रदान कर देता है—यह नयापन और कुछ नही है केवल पुरानेपन के आधार पर खड़ा हुआ अनुभवों का वह ढाँचा है जो नवीन समस्याओं के फलस्वरूप ही आकर खड़ा हो गया है। पुरातन की ओर से, नवीन अवश्यकताओं और मान्यताओं के उपस्थित हो जाने पर नवीनता की ओर जाना यही सांस्कृतिक प्रगति है। हिन्दू काल से ही प्रचलित दास-प्रथा, बहुविवाह प्रथा उस युग के समस्याओं के अनुकूल ही थी। दास-प्रथा का सूत्रपात मानव की खेती में अधिक कुशलता और दक्षता प्राप्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने ही दिया, वह कम से कम श्रम के द्वारा अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता था अतएव अपने हित के लिए उसने दूसरे के हित पर शासन करना प्रारम्भ किया, क्योंकि उसके पास श्रम के साधन पूँजी अधिक थी इसलिए पैसों की आवश्यकता समझने वाले श्रमिकों ने अपना श्रमदान करना प्रारम्भ किया एक स्वामी और उसके दास का समाज बन गया, युद्ध हुआ आपस में दो स्वामियों से उनमें से एक जो विजयी रहा उसने पराजित स्वामी के दास दासियों, सम्पत्ति को हड़प करना प्रारम्भ करना किया, फल यह हुआ कि वह (अपहरण द्वारा) अधिक शक्तिशाली बन गया, शक्ति का विकास यहाँ पर एक ही ओर हुआ अतएव वह शक्ति सामूहिकता के कल्याण में बाधा उपस्थित करने लगी, वह शक्ति व्यक्ति विशेष की हुई जिसने सामूहिकता पर कुप्रभाव डाला, धीरे-धीरे युग और आगे आया उसके कुछ सामाजिक समझने लगे कि कुछ मनुष्यों की स्वेच्छा और इच्छाओं पर शासन करना उचित नही निन्द्य है उन्होने शाशित वर्ग की ओर से बोलना प्रारम्भ किया। यह सब परिवर्तन नई मान्यताओं के जन्म के कारण ही हैं और नई मान्यताएँ चेतना के फलस्वरूप है। जब समाज ने अपने अन्दर जनहित की भावना को आत्मसात किया और मुट्ठी भर जन के सुख के लिए असंख्य प्राणियों की टीस और पीड़ा का अनुभव करना प्रारम्भ किया तभी से सभी के हित के लिए एक चेतना का उदय हुआ—यही युग चेतना सांस्कृतिक प्रगति का आधार है, प्रगति इसी चेतना के आधार पर ही होती आई है कहने का तात्पर्य यह नही कि उस युग की कोई चेतना ही नही थी, प्रत्येक युग अपने में चैतन्य है परन्तु उस चेतना की कुछ सीमाएं थी, वह समष्टिगत न होकर व्यक्तिवादी थी, समष्टि ने व्यष्टि पर जिस दिन विजय पाई उसी दिन समष्टिगत चेतना का भी उदय हुआ और इसी उदय के साथ ही साथ रुचियों का परिवर्तन प्रारम्भ हुआ, और इस परिवर्तन का दूसरा रूप सांस्कृतिक विकास ने ले लिया।

भारतेंदु युगीन काव्य एवम् निबंध की रूपरेखा

भारतेन्दु युगीन काव्य अपने पीछे रीतिकालीन काव्य की परम्परा को छोड़ कर आगे आया है। नायिकाओं का नखशिख वर्णन, समस्यापूर्तियाँ आदि ऐसे काव्य के स्वरूप थे जो रीतिकाल में प्रचलित थे, भारतेन्दु युगीन काव्य में भी हमें इन सभी का दवा हुआ स्वर मिलता है, परन्तु काव्य के वस्तु विन्यासों को छोड़कर उस काल का काव्य और आगे बढ़ा है। इस काल के अन्य कवियों के द्वारा महामारी, अकाल, टैक्स आदि विषयों पर काव्य रचना हुई। वस्तु विधान मे ही केवल परिवर्तन नहींहुआ परन्तु रूप विधान में भी हमें परिवर्तन मिलता है। लोकगीतों के रूप में इन काव्य वस्तुओं में रचनाएँ हुई। दरबारी संस्कृति में एक नवीन चेतना का उदय होता दिखलाई पड़ रहा था, यद्यपि पूर्ण रूपेण उस समय का काव्य दरबारी प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो पाया था, समस्यापूर्तियाँ उसी के अवरोध के रूप मे थी, शृंगार रस का प्रयोग भी इसी के लक्षणों में से एक था। 'पूरी अमा की कटोरिया सी, चिरजीवो सदा विक्टोरिया रानी' नामक पंक्ति में समस्यापूर्ति ही की ध्वनि का आभास मिलता है।

भारतेन्दु-युगीन प्रयोगों में एक नया प्रयोग है लोकगीतों में सामाजिक एवम् राजनीतिक चेतना का आभास होना। हिन्दी 'प्रदीप' में प्रकाशित आल्हा मे अकाल का वर्णन इसी कोटि का है। जनता का रोषभरा रूप और यथार्थ की सच्ची झांकी हमें इसके पहले के काव्य में नहीं मिलती। भूख का चित्रण, तथा बेटवा और बिटिया

संवत उन्नीस सौ तिरपन माँ, पड़ा हिन्द में महा अकाल,
घर घर फांके होवन लागे, दर दर प्रानी फिरैं बेहाल,
गेहूँ, सावाँ, चावल, मकरा, सबै अन्न एक भाव बिकाय,
बिन पैसा सब छाती पीटैं, अब तो राम रहा नहि जाय,
कोई पात पेड़न के चाबैं, कोइ मांस कोई घास चबाय,
कोई बेटवा बिटिया बेचै, अब तो भूख सही न जाय,
कोई घर घर भीखौ माँगे, कोउ लूट पाट के खांय,
बहुत लोग जो अन्न देत हैं, राम निहोरे करैं सवाब,
बहुत लोग देते हैं फांसी, अस मलिका से चहैं खिताब,
सी०एस०आई०, के०एस०आई०, रायबहादुर केर खिताब,

'हिन्दी प्रदीप'

के बेचने का चित्र उपस्थित करता हुआ दृश्य हमें इस सरल भाषा में अन्यत्र नहीं मिलता। भारतेन्दु के इस प्रचलित आल्हा में दो चूडान्त दृश्यों को उपस्थित किया गया है, एक ओर तो भीख माँगना, पेड़ के पत्तों को खाना, लड़के और लड़कियों को खाना और दूसरी ओर रायबहादुरी का खिताब, और विलासिता का नया-प्रदर्शन। भारतेन्दु ने अपने ऐसे गीतों में यथार्थ वादी परम्परा का निर्वाह किया है, उन्होंने जो कुछ अपने आंखो से देखा उसका चित्रण वैसा ही कर दिया है।

भारतेन्दु की कविताओं का वाह्य कलेवर रीतिकाल का सा है अवश्य परन्तु उन कविताओं की आन्तरिक व्यंजना रीति से पृथक सी है। उनमें वह बँधी बँधाई रीति नहीं, छन्दों का वह प्रयोग नही, यदि कही है भी तो उन प्रयोगों में केवल अपने ही व्यक्ति का प्रतिपादन न करके समष्टि के स्वर दबे हुए मिलते हैं। अपने देश की दशा पर आंसू बहाने वाला वह पहिला कवि था जिसने 'सब मिलि रोवहु भारत भाई' की आवाज लगाई है। सभ्यता[१], शिक्षा की बेकारी[२], सरकारी अमलों[३], तथा पुलिस[४] आदि विषयों पर भारतेन्दु ने खुल करके लेखनी चलायी है, रीतियुग केवल काव्य का चित्रण करता था, नायिकाओं की अठखेलियां, तथा सौंदर्योपासना ही उनकी काव्य दृष्टि का प्रधान अँग था, भारतेन्दु ने भी शृंगारिक कविताओं की रचना की है परन्तु सामाजिक विषयों पर तथा अभावों पर भी उन्होंने अपनी कलम चलाई है।

आधुनिक सभ्यता के वे विरोधी हो, ऐसी बात नही, परन्तु अति आधुनिकता की धुन में सभी की आलोचना, अपने से बड़ों को गँवार समझना आदि अनर्गल विश्वासों पर उन्हे रोष होता था। ग्रेजुएटों की बेकारी, तीन बुलाने पर तेरह आना आदि विषयों को भी उन्होंने काव्य मुकुरियों में ढाला। समाज का बिगड़ना या बनना बहुत कुछ शासन व्यवस्था पर भी आधारित रहता है। सरकारी अमले किस प्रकार से अपने को वेतन के ही अधिकारी समझते थे और अपने नैतिक आदर्शों को भूल करके केवल बाहरी दिखावट को ही अपना रहे थे इन सभी यथार्थ तत्वों को अभिव्यक्त किया है।

---

१. सब गुरुजन को बुरो बतावें, अपनी खिचड़ी आप पकावें,
   भीतर तत्व, न झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेजी !
२. तीन बुलाये तेरह आवे, निज - निज विपदा रोय सुनावे,
   आँखौं फूटी भरा न पेट, क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रेजुएट !
३. मतलब को ही बोलें बात, राखें सदा काम की घात,
   डोलें पहिने सुन्दर समला, क्यों सखि सज्जन नहिं सखि अमला !
४. रूप दिखावत सरबस लूटैं, फन्दे में जो पड़ै न छूटैं,
   कपट कतरी हिय में हूलिस, क्यों सखि सज्जन नहिं सखि पुलिस !

हरिश्चन्द्र मैगजीन से

लोक गीतों की रचना के पश्चात भारतेन्दु के काव्य का दूसरा अनिवार्य तत्व है प्रकृति-चित्रण। प्रकृति चित्रण प्रायः प्रत्येक कवियों ने किया है परन्तु उनका अपना एक विशिष्ट ढंग है। प्रकृति अब मानव के जीवन को निकट की वस्तु हो गई है, भारतेन्दु ने इसका आभास करना प्रारम्भ कर दिया था। अब तक के काव्य में प्रकृति का वर्णन परोक्ष रूप में हो जाता था, कवि प्रकृति का दर्शकमात्र था, वह देखा करता था उसके परिवर्तनों की ओर उन्हीं परिवर्तनों की रूप रेखा वह खींच देता था, भारतेन्दु के प्रकृति चित्रण में वाह्य निरूपण ही केवल नहीं रहा, कवि अपनी समस्त अनुभूतियों से पूर्ण सामञ्जस्य तो नहीं कर पाया, अपने को प्रकृति के अंगों में रमा तो नहीं पाया फिर भी प्रकृति उद्दीपन न होकर आलम्वन के रूप में आई। अब तक प्रकृति का प्रयोग नायक नायिकाओं की इक्षा को वर्णन करने में होता था वियोग दुख, सुख आदि मानव की आन्तरिक भावनाओं को हम प्रकृति के बाह्य रूप में नहीं पढ़ सकते थे। प्रकृति से सामञ्जस्य होना तो छायावादी युग की देन है। अपने संपूर्ण व्यक्तित्व को तिरोहित कर देना, उसे भूल जाना, तो इस युग के प्रकृति-चित्रण का विषय नहीं रहा, अब विषय हो गया प्रकृति वर्णन में आलम्बन रूप एवम् मानव जीवन में उसकी उपयोगिता। यह आधारभूत अन्तर सौन्दर्याङ्कन की दृष्टि के साथ ही साथ होता गया। गंगा-छवि वर्णन में कवि ने गंगा का प्राकृतिक वर्णन किया है, परन्तु इस वर्णन को सांसारिक वस्तुओं के चिन्तन में अवरोध रूप में नहीं किया गया है, जीवन में उपयोगिता का महत्व उसमें पूर्ण रूप से निर्धारित किया है। इसके अतिरिक्त मानव को अपने अनेक मनोरथों को मिटा देना पड़ता है, भूल जाना पड़ता है, कवि इसी जगत के सत्य की स्थापना अन्तिम पंक्ति में कर रहा है। लहरों का गिरना और एक का दूसरे पर आना यह स्पष्ट करता चलता है कि मानव मन की तरंगें किस प्रकार से बनती बिगड़ती रहती हैं। यहाँ 'विविध मनोरथ' अमूर्त से लोल लहर, मूर्त की उपमा दी गई है। इसके अतिरिक्त देश की दुर्दशा का चित्रण भी इसी प्रकृति का आधार लेकर हुआ है। प्रकृति से अब तक श्रृङ्गार के उपमान ही मिलते आये हैं, परन्तु भारतेन्दु जी ने प्रकृति को एक उपमान रूप में न देखकर प्रकृति से उपमायें देकर वास्तविक जीवन की कहानी कही है, उस समय के सम्पूर्ण वातावरण का चित्रण तथा यथार्थ परिस्थितियों का ज्ञान हमें ऐसे उदाहरणों से होता है—

'भारत में मची है होरी !
धूर उड़त सोइ अबीर उड़ावत सबको नैन मरोरी,

---

१. नव उज्ज्वल जल धार हार हीरक सी सोहति,
बिच बिच छहरति बूँद मन्द मुक्तामनि मोहति,
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत,
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।

दीन दसा अँसुवन पिचकारो सब लिलार भिजयो री
भई पतवार तत्व कोउ नाही सोइ बसंत प्रगट्यौ री,
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै सोइ फूली सरसों री,
सिसिर को अंत भयो री !!

भारत की दुर्दशा का चित्रण तत्काल किया गया है और कुछ एक पंक्तियाँ तो इस गीत में अपना विशिष्ट अर्थ रखती हैं, और बहुत जोरदार हैं

'भई पतझार तत्व कँउ नाहीं सोइ बसन्त प्रगट्यो री,
पीरे मुख भइ प्रजा दीन ह्वै सोइ फूली सरसों री !
सिसिर को अन्त भयो री !

उपर्युक्त वर्णन में नये उपमानों के द्वारा, भारत की दुर्दशा का चित्रण करना ही कवि को अभीष्ट रहा है । ऐसे और भी वर्णन मिलते हैं, जिसमें पोरस को धार की भाँति तीव्र मान लिया है, तलवारों को बिजुली, बादल को तोपें, इस प्रकार इन्हीं शब्दों से सम्पूर्ण प्रकृतिरूप को रूपकों से बांध दिया गया है ।[1]

हास्य और व्यंग

हिन्दी काव्य में हास्य और व्यंग का सर्वथा अभाव है । इसका कारण है: हिन्दी साहित्य सर्जक अधिकतर या तो संत हुए हैं या तो दरबार के कवि, अपनी स्वेच्छा से कविताओं की रचना करना तो इनका उद्देश्य रहा है अवश्य परन्तु भक्तों के लिए और दरबारी कवियों के लिए स्थिति एक सी थी । भक्त यदि मनमानी बात कहता है तो उसका सर्वस्व, उसका आराध्य उसके प्रतिकूल हो जायेगा, इसलिए आराध्य की इच्छा के विपरीत अथवा उस भक्ति विशेष की चिन्तनधारा विश्वास और आस्था के विपरीत भक्त कवि अपनी कोई स्वतन्त्र धारा बना ही नही सकता, मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी हो जाती है कि स्वतन्त्र चिन्तन अधिकतर भक्त नहीं कर पाते, अपने सम्प्रदाय में ही वे सीमित रहते हैं । यही बात रीतिकालीन कवियों की रही है, अधिकांश कवियों ने अपने राजा अथवा आश्रयदाता की भावनाओं एवम् मनोवृत्ति के विपरीत सोचकर कुछ कहने का साहस ही नहीं किया है । यही कारण है कि कुछ एक भक्त कवियों को छोड़कर व्यंग का अभाव पाय ही रहा है । कबीर ने हिन्दी में व्यंग को प्रचलित कर दिया, कबीर ने स्वतन्त्र रूप से व्यंग को काव्य का अंग बनाया यद्यपि उन व्यक्तियों के पीछे समाज को सुधारने की एक स्वस्थ भावना भी रहती है, फिर भी व्यंग का महत्व अन्य कवियों में नगण्य ही रहा । तुलसी ने

---

१ पोरस सर जब रन मँह बरसत, बारिन कै मोरा जोया हरसे,
बिजुली की चमकैं तरवारैं, बदरा सी तोपैं ललकारैं,
बीच अचल गिरिवर सों छजिगज चढ़ देवराज सम परसत,
झींगुर से झनकत हैं बख्तर जबन करत दादुर से टर टर,
आदि !

हास्य का पुट तो अवश्य दिया है, सूर ने उद्धव और कृष्ण की वार्ता में व्यंग का आधार लिया है परन्तु वह व्यंग प्रेम व्यंग ही रह जाता है, उससे समाज की अच्छाइयों बुराइयों पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। वह व्यंग समाज से सीधे रूप में सम्बन्धित नहीं।

सन्त कवियों में कबीर ने अपनी व्यंगोक्तियों के द्वारा समाज के गलित अंगों को छेद दिया है, रूढ़ियों पर आघात किया है उनके पश्चात भारतेन्दु साहित्य में हास्य और व्यंग का पुट मिलता है। समाज की रूढ़ियों को हटाने में एवम् उन्हें एक नया रूप देने में आवश्यकता अन्तर के परिवर्तन की रहती है। जब तक जनता का अन्तस्तल परिवर्तित नहीं होता, उसमें एक नई ज्योति एवम् आत्मा का उदय नहीं होता, तब तक सामाजिक रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास जो बने थे बने ही रहेंगे। भारतेन्दु ने धार्मिक मतमतान्तर जनता की कूपमण्डूकता, विलासी जीवन, बैर, फूट, महंगी इन सभी तथ्यों का आधार लिया है। यह कवि के जागरूक होने की निशानी है कि जनता की कुण्ठा को, तथा उसकी मनोवृत्ति को परिवर्तित करना। भारतेन्दु ने इन्हीं तरीकों को अपनाया जिससे जन – जागरण हो। भारतेन्दु कालीन परिस्थितियों के अध्ययन के बीच हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि दो ही प्रकार की विकृत्तियाँ एक तो प्राचीन रुढ़ि प्रसूत विकृत्तियाँ दूसरी विदेशी सम्पर्क से उत्पन्न विकृत्तियाँ ही राष्ट्र को पंगु बना रहीं थीं।

इस प्रकार से भारतेन्दु ने अपने युग की परम्परा में एक नवीन चेतना जोड़ दिया। व्यंग काव्य का वर्गीकरण करते समय हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति, राजनीति संस्कृति और साहित्य इन सभी अंगों पर कहीं तो विदेशीपन का पहरा है कहीं अपनी ही रूढ़ियों को बल पूर्वक पकड़कर बैठने की जिद। भारतेन्दु ने इन सभी क्षेत्रों में विचारों की परिवर्तनशीलता पर ध्यान दिया।

धर्म के वास्तविक रूप को पहचानने का उनका आग्रह बड़ा ही प्रगतिसूचक विदित होता है। शैव शाक्त और वैष्णव आदि के झगड़े ही उस समय धार्मिक क्षेत्र में वर्तमान थे और जनता वास्तविकता को प्राप्त करने के लिए इन झूठे झगड़ों में उलझ रही थी भारतेन्दु ने इसका चित्र खींचा है, इन पंक्तियों में उस युग की एक झांकी है——

'रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए,
शैव, शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाए,
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो,
खान पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायो,
जन्म पत्र विधि मिलैं ब्याह नहिं होत हते अब,
बालक पन में ब्याहि प्रीति बल नाम कियों सब,
करि कुलीन को बहुत ब्याह बल बीरज मारयो
विधवा - विवाह निषेध कियो व्यभिचार प्रचारयो

रोक विलायत गमन कूप - मण्डूक बनायो,
और न को संसर्ग छोड़ाय प्रचार घटायो,

इन पंक्तियों में भारतेन्दु ने यथार्थ चित्रण करके यथार्थ और वास्तविक कुरीतियों के प्रति एक कुरुचि उत्पन्न कराने की चेष्टा की है। बाल-विवाह के विरोध में, विधवा विवाह निषध के विरोध में उन्होंने अपनी आवाज उठाई है। सम्भवतः ये सभी सत्य समाज को अवनति की ओर ले जाने में सहायक थे, इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड गमन अवरोध और इस प्रकार से अपने सीमित रहने की उन्होंने हँसी उड़ाई है।

कवि की यह नवीन मोड़ है जो व्यक्ति को त्याग कर अब समिष्टि की ओर और समाज के गले अंगों को नवीन चोला देने में अग्रसर रहा है। इनकी पंक्तियों में सुधार की दृष्टि से तो कही कहीं निर्गुण कबीर की सी ध्वनि आने लगी है।

इन व्यंगों की भाषा कितनी सरल और सीधी है। अंग्रेजी शासन के बीच शोषण, अत्याचार तथा वैमनस्य (आपस का) कितना बढ़ गया था, इसका सही सही चित्र है। भारतेन्दु ने इन विकारों के सही नस को पहिचाना था और उन विचारों की आलोचना भी की है। सबसे बड़ी बात जो इन्हें खटकने की थी वह थी भारतवासियों के विचारों में परिवर्तन। भारतीय संस्कार भारतीयों से दूर होते जा रहे थे। देशवासियों की इस भावना पर व्यंग करते हुए भारतेन्दु ने लिखा भी है। ये पंक्तियाँ शैली के ढंग से तथा भाषा सारल्य की दृष्टि से सर्वथा नवीन है।[1] चाहे देश खाक में मिल जाय परन्तु राजा, नवाबों का अपना हाथ पैर हिलाकर उसे बचाना अच्छा नहीं, यह आशय भारतेन्दु ने राजा नवाबों के जीवन का लिया है। देश की परतंत्रता का मुख्य कारण मानसिक परतंत्रता ही हुआ करती है, और इस मानसिक परतंत्रता के पीछे ही भारत की गुलामी का स्थायित्व बढ़ता गया है।

ऐसी भावनाओं से भारतेन्दु का काव्य - साहित्य भरा पड़ा है। चेतनशील साहित्यकार अपने में ही सीमित न रह करके समाज और राष्ट्र के प्रश्नों एवम् समस्याओं पर भी अपने विचार प्रकट करता है। भारतेन्दु को हम इस क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ा हुआ पाते हैं। इन्होंने समाज की रूढ़ियाँ, शासन के प्रति असंतोष और फिर एक नयी भाषा हिन्दी की ओर अपना झुकाव भी दिखाया है। इसमें

---

१. दुनिया में हाथ पैर हिलाना नहि अच्छा,
मर जाना पै उठ के कहीं जाना नहि अच्छा,
बिस्तर पै मिस्ले लोथ पड़ा रहना हमेशा,
बन्दर की तरह धूम मचाना नहि अच्छा,
धोती भी पहिने गर कोई गैर पिन्हा दे,
उमरा को हाथ पैर हिलाना नहि अच्छा,
मिल जाय हिन्द खाक में, हम काहिलों को क्या,
ऐ मीर—फर्श रञ्ज उठाना नहि अच्छा।

सन्देह नहीं यह कवि अपनी सीमाओं में नहीं बँधा है, परन्तु कवि अपने साथ ही साथ सीमाओं को बढ़ाता आया है।

कबीर की भाँति भारतेन्दु ने भी वर्ग और छुआछूत की भावनाओं की तीखी आलोचना की है। इन्होंने अधिकतर शैवों और वैष्णवों के आडम्बर की आलोचना की है। वैष्णवों का धर्म केवल कण्ठी और मुद्रा को धारण कर लेना ही नहीं होता, परन्तु आन्तरिक शुद्धि ही इनका प्रयोजन होना चाहिए। ब्राह्मणों के अन्दर भी फैली हुई इस छुआछूत और आचार-विचार को पावन करने की ओर सङ्केत किया गया है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु ने ब्राह्मण तथा अन्य उच्च वर्ग वाले लोगों की भी आलोचना की है, उनका इन पंक्तियों को लिखने में संदेश यही है कि आन्तरिक शुद्धि वाह्य शुद्धि से कहीं अधिक टिकाऊ है। यह भारतेन्दु का प्रगतिशील दृष्टिकोण है।

राजनीतिक क्षेत्रों में भी ऐसे ही तीखे व्यंग बिखरे पड़े हैं। व्यंग की सृष्टि साहित्यकार के अन्तर चेतना से ही होती है, उसका आत्म सम्मान तथा आन्तरिक भावनाएं जब समाज और शासक के ठोकरों से कराह उठती है तभी वह कुछ न कुछ कहने पर बाध्य हो जाता है। राजनीतिक दशा पर टिप्पणी भारतेन्दु की ही नहीं उस समय की जनता की एक दबी हुई आवाज के रूप में हैं। उन्होंने कहीं तो विदेशियों को, भारत का धन लूट कर ले जाने पर जी भर कोसा है,[2] कहीं उनकी चरित्रगत विशेषताओं को बतलाया है। अंग्रेजों की चरित्रगत विशेषता ही यही है कि हँस हँस कर तन मन दोनों लूट लेते हैं।[3] उस समय की पुलिस का स्वरूप कितना बिगड़ा था, और जो भी उसके फन्दे में पड़ जाता था बिना लुटाये नहीं जाता था इस ओर भी उनका संकेत है।[4]

---

१. वैष्णव लोग कहावहिं कंठी मुद्रा धारि,
छिप छिप कै मदिरा पियहिं यह जिय माँझि विचारि,
होटल में मदिरा पियें चोट लगै नहि लाज,
लोट लए ठाढ़े रहत, टोटल देवे काज।
ब्राह्मण सन छिपि छिपि पिवत, जामें जानि न जाय,
पोथी के चौगान में, भरि बोतल बगल छिपाय।

२. अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी, पै धन विदेश चलि जाति यहै अति ख्वारी,

३. भीतर भीतर सब रस चूसैं, हँसि हँसिकर कै तन मन धन मूसैं,
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखी सज्जन ! नहि अंग्रेज ?

४. रूप दिखावत सर्वस लूटैं, फन्दे में जो पड़ै न छूटैं,
कपट कटारी जिय पे हुलिस, क्यों सखि सज्जन नहि पुलिस।

निबन्ध रचना

भारतेन्दु युग में नाटकों की प्रगति पर एक दृष्टि डाली जा चुकी है, नाटकों में कहीं तो व्यंग था समाज की कुरीतियों के प्रति, कहीं तो व्यंग था परम्परा के पालन के प्रति, इन सभी व्यंगों के बीच गद्यात्मक प्रवृत्ति खूब उभरी। लेखक अपने 'स्व' पर आघात सहते - सहते व्यथा से पागल सा हो गया, फलस्वरूप उसकी भावनाओं को गद्य का साकार रूप मिला। यद्यपि गद्य का शैशव था अभी प्रारम्भिक रूप था परन्तु इसी रूप में कहानियों से लेकर आलोचना तक सम्पूर्ण साहित्यिक विषयों पर गद्य में ही लिखा गया। 'राजा भोज का सपना[1]' 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न[2]' 'यमपुर की यात्रा[3]' 'आय[4]' आदि शीर्षक निबन्धों में सफलता मिली है। 'आय' शीर्षक निबन्ध एक नया प्रयोग है। अँग्रेजी के निबन्धों की भाँति लेखक अपने से फष्ड का पूरा सामञ्जस्य स्थापित करा लेता है ऐसा लगता है जैसे लेखक अपने से अपना अन्तस्तल खोलकर पाठकों से बात करता चलता है। 'राजा भोज का सपना शीर्षक निबन्ध में परिचयात्मक रूप अधिक है। शैली विशेष नहीं, 'वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी राजा भोज का नाम नही सुना' प्रारम्भ ऐसा ही है। राजा भोज ने सम्पूर्ण दान पुण्य जो भी किया सब कुछ अपनी कीर्ति के विचार से, लेखक का उद्‌देश्य है कि मोटे तगड़े लोगों को दान देने से कहीं अच्छा है कि उन्हें दान दिया जाय जो इसके अधिकारी हैं, अधिकारी इस अर्थ में जिसे आवश्यकता है कि जो क्षुधा से क्षुधित है, और भूख की ज्वाला ने जिन्हें कँकालवत कर दिया है। स्वप्न में राजा उन्हीं भूखों तथा नंगों की सूरतों को देखता है जिन्हें दान देकर वह लाभ उठा सकता था, परन्तु उसकी कीर्ति उनमें न होती। गाँव और इलाके जिनमें कि कुओं की आवश्यकता थी, तथा जहाँ खेती की वृद्धि हो सकती थी, राजा ने उन गाँवों के लिए कुछ न करके केवल दान ही दिया है। यह एक व्यंग चित्र है, जिसमें वास्तविकता की झाँकी स्पष्ट देखने को मिलती है भोज का सारा दान

---

१. शिव प्रसाद सितारेहिन्द

२. भारतेन्दु

३. राधाचरण गोस्वामी

४. प्रताप नारायण मिश्र

५. कभी तो राजा को वे सब भूखे और नगे उस आइनें मे दिखलाई देते जिन्हे राजा खाना पहिनने को दे सकता था परन्तु न देकर दान का रुपया उन्ही हट्टे कट्टे मोटे मुसण्डे खाते ोतों को देता रहा जो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफारिश ले आते थे। कभी - कभी वे दीन दुखी दिखलाई देते जिनपर राजा के कारदार जुल्म किया करते थे और उसने कुछ भी उसकी तह की बात और उपाय न किया.......।

तथा पुण्य बेकार है, क्योंकि वह दान अपने स्वार्थ तथा हित के लिए दिया गया है। कीर्ति मात्र ही उनका उद्देश्य है।

इस प्रकार से हिन्दी के निबन्धों ने सामाजिक, साहित्यिक एवम् सांस्कृतिक जागरूकता का संदेश दिया है। इसी के बीच जनता की स्वतन्त्र चेतना का विकास करना ही इनका मुख्य उदेश्य रहा है। भारतेन्दु - युग के निवन्ध चाहे जैसे भी हों अथवा जिस कोटि के हों उन सभी के पीछे एक दबी हुई चेतना छिपी रहती है जनता के सर्वांगीण विकास की, उसको जागृत करने की यही कारण है कि वे निवन्ध अब तक के अज्ञान और अचेतन युग की धरोहर के रूप में मिलते हैं। निवन्धों के विषय निर्धारित करते समय इनके निबन्धों को निम्न क्रम में रखा जा सकता है :—

अ—ऐतिहासिक रचनाएँ

ब—धार्मिक रचनाएँ

स—आख्यान

एवं द—प्रहसनात्मक

जागृति एवम् चेतना के दृष्टिकोण से उपर्युक्त विभाजन समाज के शाश्वत सभी अंगों को आच्छादित कर लेता हैं। यदि सरसरी दृष्टि से देखें तो हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि भारतेन्दु युगीन निबन्धों की पहिली विशेषता है समाज सापेक्षता। अब तक का साहित्य समाज के लिए उतना हितकर न होकर या तो व्यक्तिगत अनुभूतियों का चित्रण करता था या व्यक्ति के एवं विशिष्ट मनोभूमि की समाज सापेक्षता से तात्पर्य यह है कि इस युग का निबन्ध समाज को दृष्टि में रख कर उसके गलित अंगों को कुरेद कर उसे स्वस्थ करने की कामना रखता है। ऐतिहासिक रचनाओं के सृजन में उनका मुख्य उद्देश्य हैं कि भारत के अतीत को उसके सही रूप में जनता के समक्ष रख देना। अंग्रेज इतिहासकारों ने भारत के इतिहास को उतना व्यापक और चेतन रूप नहीं दिया है जितना कि होना आवश्यक था। ऐसा न करने पर हम उन्हें दोषी नहीं ठहराते, शायद उनका मानसिक अपनत्व भारतीय इतिहास से उतना नहीं हो सकता जितना कि एक भारतीय का। जो भी करना हो हमें यहाँ विवादों की ओर न जाकर यह स्पष्ट कर देना है कि भारतेन्दु ने ऐतिहासिक रचनाओं का सृजन करके, भारत के अतीत की झांकी प्रस्तुत करके, वर्तमान को उस अतीत से प्रेरणा लेने की पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी। यही कार्य आगे चल कर 'प्रसाद' ने भी किया है अपने नाटकों में उन्होंने भारत के अतीत को पुर्नजागृति प्रदान की है। इन रचनाओं में केवल भारतीय महापुरुषों की या वंशावलियों का संदर्भ दिया हो ऐसा नहीं है उन्होंने, नैपोलियन तृतीय सुकरात लार्ड (मायो) लार्ड लारेंस आदि पर भी प्रकाश डाला है। अतएव इन रचनाओं का विश्लेषण एक एक कर हम करेंगे।

ऐतिहासिक रचनाओं के अन्तर्गत इनका पहला लेख है महाराष्ट्र देश का

इतिहास। इसके दो भाग हैं। पहिले के अन्तर्गत शिवा जी और दूसरे के अन्तर्गत पेशवाओं का वृत्तान्त है। निवन्ध का प्रारम्भ महाराष्ट्र देश की रूप रेखा से हुआ है, तत्पश्चात शिवा जी का सम्पूर्ण जीवन चरित तथा उनके द्वारा जीते गए नगरों का इतिहास है। इन्होंने सन् १६७६ में रामगढ़ में शिवा जी का अभिषेक माना है। उनका सम्पूर्ण शासन आठ मुख्य प्रधानों के द्वारा ही चलता था, इसका उल्लेख है।[1]

दूसरा लेख है रामायण का समय। यह एक खोजपूर्ण लेख है। इसमें रामायण काल की पुरातत्व सम्बन्धी खोजों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण में वर्णित यंत्रों और शस्त्रों की भी मीमांसा की गई है। रामायण काल की चेतना कितनी थी अथवा उस काल मे भी सड़कें, और तीव्र चलने वाले रथ आदि मौजूद थे, इसका भी लेखक ने इस लेख में विवरण प्रस्तुत किया है। रामायण के प्रत्येक काण्ड में वर्णित यंत्र आदि का इन्होंने विश्लेषण तो किया ही है, इसके अतिरिक्त उस काल में स्त्रियों की वीरता एवम् उनका शस्त्र चलाने की विद्या में निपुण होना, उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया है।[2] स्त्री शिक्षा का तथा नारी-जागरण का संदेश देना ही भारतेन्दु का लक्ष्य रहा है। अतएव पुराने उद्धरणों को एकत्रित करके वे विद्वन्मण्डली को यह समझा देना चाहते थे कि नारियां भी आदि काल से वीरांगना रही हैं। समाज में उनको पूजा एवम् उन्हें प्राथमिकता दी जाती थी और आज के युग में भी उन्होंने इसकी आवाश्यकता का अनुभव किया है।

इनका अन्य उद्धरणीय लेख है 'अगरवालों की उत्पत्ति'। लेख का प्रारम्भ ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति का विवरण देने से हुई है, और इस उत्पत्ति का आधार

---

१. सन् १६७६ में रामगढ़ में शिवाजी का विधिपूर्वक राज्याभिषेक हुआ और तब इसने अपने आठ मुख्य प्रधान रखे थे। पेशवापंत, अमात्य, पंतसचिव, मंत्री, सेनापति, सुमंत, न्यायाधीश और पंडित रावा यही आठ पद उसने नियुक्त किए थे और अपने जीते हुए देशों का काम आका जी सोनदेव को अधिकार दे दिया।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली
(महाराष्ट्र देश का इतिहास)
सम्पा० ब्रजरत्नदास पृष्ठ १७२

२. जिस समय राजा दशरथ ने अश्वमेध यज्ञ किया था उस समय का वर्णन है कि रानी कौशिल्या ने अपने हाथ से घोड़े को तलवार से काटा। इस बात से प्रगट होता है कि आगे की स्त्रियों को इतनी शिक्षा दी जाती थी कि वह शस्त्र विद्या में भी अति निपुणता रखती थी।

वही०, पृष्ठ ३८०
'रामायण का समय'

माना गया है। ब्राह्मण की उत्पत्ति मुख, क्षत्री की भुजा, वैश्य की जाँघ और शूद्र की चरण से मानी गई है। अगरवाल वंश में राजा वल्लभ तथा प्रतापी राजा अग्र की बात बताई गयी है। नागकन्या माधवी सब अगरवालों की जननी मानी गई है और सर्पों के कुल से अगरवालों का सम्बन्ध दिखाया गया है।

मध्य भाग में बड़े विस्तार पूर्वक अगरवालों का वासस्थान (बसने की जगह) के भी (१६ स्थानों के) नाम दिए गए है। आगरा और अगरोहा को राजा अग्रसेन के नाम से प्रसिद्ध माना है। इन्होंने अपनी राजधानी में महालक्ष्मी का एक बड़ा मंदिर भी बनवाया था। कुछ अगरवालों ने कुछ समय पश्चात वेद धर्म को त्याग दिया था वेद धर्म न छोड़ने वालों में दिल्ली और आगरा के अगरवाल थे। इस वंश के राजा दिवाकर का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने कि अपने वेद धर्म को छोड़कर जैन धर्म का अवलम्ब ग्रहण किया था[2] लेख के अंत में अगरवालो का "संक्षिप्त इतिहास बताते हुए मुगलकाल के अंत तक लेखक आ गयी है। मुगल काल में इन लोगों को राज्य प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई। इस लेख का उद्देश्य अगरवालों की उत्पत्ति का क्रमिक विकास ही प्रस्तुत करना रहा है तथा बीच बीच में सनातन धर्म का सनातनी होना और बहुतायत से अङ्गीकार किए जाने की बात भी बतलाई गई है।

अगरवालों की उत्पत्ति की भाँति इन्होंने अपना एक अन्य लेख खत्रियों की उत्पत्ति शीर्षक लिखा है। इस लेख में खत्री वंश के विषय में जो भी भ्रान्तियां है उनका विवरण दिया गया है। कुछ लोगों ने खत्री को खात राजपूत के वंश से माना है, कुछ ने इन्हें बढ़ई के वंश से माना है। अन्य स्थानों पर लेखक ने इनकी उत्पत्ति

---

१ एक समय नाग लोक से नागों का कुमुद नाम का राजा अपनी माधवी कन्या को लेकर भू लोक मे आया और उस कन्या को देख कर खुद मोहित हो गया और नागराज से वह कन्या माँगी, पर नागराज ने इन्द्र को वह कन्या नहीं दी और उसका विवाह राजा अग्र से कर दिया। यही माधवी कन्या सब अगरवालों की जननी है और इसी नाते हम लोग सर्पों को मादा कहते है।

प्रकाशक : —भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग तीसरा
काशीनागरी प्रचारिणी सभा। अगरवालों की उत्पत्ति पृष्ठ ८
संकलनकर्ता :
बाबू ब्रजरत्नदास बी० ए० एल० एल० बी०

२ 'इस वंश में दिवाकर एक राजा हुआ जो वेद धर्म छोड़कर जैनी हो गया और उसने बहुत से लोगों को जैनी किया और उसी काल से अगरवालों में वेद धर्म छूटने लगा परन्तु अगरोहा और दिल्ली के अगरवालों ने अपना धर्म नही छोड़ा।'

—वही—पृष्ठ १०

के विषय में अपनी स्वतन्त्र धारणा को भी व्यक्त किया है। उनके अनुसार पञ्जाब में 'क्ष' के स्थान पर 'ख' का प्रयोग होता है, अतएव वहीं से 'क्षत्री' ही खत्री कहलाने लगे। कुछ लोगों ने खत्री को हयहय वंश (क्षत्रियों में) माना है। सहस्त्रार्जुन से और परशुराम से युद्ध ठनने पर परशुराम ने समस्त क्षत्रियों को मारने का बीड़ा उठाया था, तभी कुछ क्षत्री अपने को खत्री कह कर बच गये थे, सम्भवतः खत्री उसी का नामकरण है।

कुछ भी हो लेखक ने,अनुमान से कहीं-कहीं शुद्ध ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित करके, खत्रियों की उत्पत्ति का कारण ढूंढा है। उक्त लेख की शैली तो बहुत ही साधारण है, तथा भाषा की बोलचाल की ही खड़ी बोली है परन्तु अगरवालों की उत्पत्ति और खत्री की उत्पत्ति शीर्षक लेखों में जिज्ञासा प्रधान अधिक है। भारतेन्दु युग में जब कि लेखों का (गद्य का) विकास नहीं ही के बराबर था, इतनी (Rational-intellect) का होना इनके लेखों का अपना एक विशिष्ट गुण है। जाति अथवा उपजाति की उत्पत्ति में इनका झुकना यही बताता है कि कृत्रिम इतिहास और अन्वेषणात्मक जाति की ओर लेखक की कितनी रुझान थी।

प्रगति की पुष्ठभूमि के रूप से इतिहास का महत्व छिपा रहा है, और इतिहास के अभाव में प्रगति का ठीक-ठीक रूप भी आंकना दुर्लभ सा रहता है। भारतेन्दु की जिज्ञासा की प्रगति इतिहास के खण्डहरों को पारकर तथा उन्हीं अवशेषों से एक नवीन गति ग्रहण कर आगे बढ़ी है। इसी के फलस्वरूप कुछ ऐतिहासिक लेखों का जैसे दिल्ली दरबार दर्पण, अकबर और औरंगजेब तथा बूंदी का राजवंश शीर्षक लेखों का निर्माण हुआ है।

बूंदी का राजवंश उनका अन्य उल्लेखनीय ऐतिहासिक निबन्ध है। इसमें राजवंश तथा कोटा की शाखा की वंशावली प्रस्तुत की गई है। इस वंश का मूल पुरुष अन्दल चौहान माना गया है। अन्हल शब्द की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए भारतेन्दु जी अन्हल के मूल रूप में अनल शब्द ही पाते हैं। अनल का अर्थ अग्नि के होता है, आबू पहाड़ के आस-पास के चार क्षत्री वंश[1] अग्नि से ही उत्पन्न किए गए माने जाते हैं।

---

१. भारतेन्दु जी ने पुराणो के आधार पर अग्नि कुल की उत्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार की है। "जब परशुराम जी के घोर क्षत्रिय कुल का नाश हो गया तब उन्होंने पृथ्वी की रक्षा के हेतु चिन्ता करके आबू पर्वत पर ऋषियों से इस विषय का परामर्श करके सब के साथ क्षीरसागर पर जाकर भगवान से स्तुति किया। आज्ञा हुई की चार कुल उत्पन्न करो फिर ऋषियों के साथ ब्रह्मा, रुद्र और इन्द्र आबू पहाड़ पर आये और वहां यज्ञ किया। इन्द्र ने पहले अपनी शक्ति ने घास का पुतला बनाकर कुन्ड में डाला जिससे 'मार मार' कहते हुए माला लिए एक पुरुष निकला, जिसको ऋषियों ने प्रमार नाम देकर धार और

इस प्रकार बूंदी वंश की पूरी जानकारी ऐतिहासिक आधार पर लेखक के द्वारा प्रस्तुत की गई है। इतिहासकारों में लेखक प्रिंसिप, टाड तथा अंक गजेटि-को उद्धृत किया है।

ऐसे खोज पूर्ण लेख लिखने के पीछे भारतेन्दु की ऐतिहासिक चेतना का विकास होना ही मुख्य कारण है। भारत के राजवंशों तथा जातियों उप जातियों के सम्बन्ध में अंग्रेज इतिहासकारों के अनेक मत हैं, कुछ मत तो जातीयता एवम् राष्ट्रीयता की भावना को भारतीयों के मस्तिष्क से कुचल देने के लिए ही जबर-जस्ती ले लिए गए है, भारतेन्दु ने अपने ऐतिहासिक लेखों में इन्ही भ्रमों को दूर करने तथा उनका उन्मूलन करने के लिए ही ऐसा विषय इन सतर्क आधारों के साथ प्रतिपादित किया हैं। दूसरी कोटि में ऐतिहासिक निबन्ध आते हैं जिनमें अंग्रेजों के प्रति भारतीयों की कैसी धारणा थी अथवा भारतीयों के मस्तिष्क से कितनी परा-धीनता थी इसका उल्लेख किया गया है।

ऐतिहासिक निबन्धों की सूची में अन्य निबन्ध आता है 'उदय-पुरोदय'। इस लेख में प्राचीनता की झांकी दर्शनीय है। इतिहासकार टाड कृत 'राजस्थान' और 'फरिश्ता' नामक ग्रंजरी के आधार पर मेवाड़ के प्राचीन ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। इन्होंने राजस्थान में मेवाड़ और जैसलमेर राज्य को सबसे प्राचीन माना है।[1] आठ सौ वर्ष की परतंत्रता के बाद भी यह राज्य जैसे का तैसा है, इसकी गुरुता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

उज्जैन का देश दिया। उसी प्रकार ब्रह्मा ने वेद और खड्ग लिए हुए एक पुरुष उत्पन्न किया एक चुलूक (चुल्लू) जल से जी उठने से इसका नाम चालुक्य हुआ और अन्दलपुर इसकी राजधानी हुई। रुद्र ने तीसरा क्षत्री गंगा जल से उत्पन्न किया, यह धनुष लिए काला और कुरूप था इससे इसका नाम परिहार रक्खे वनों और जंगलों की रक्षा इसको दी। अन्त में विष्णु ने चार भुजा का एक मनुष्य चतुर्भुज नामक उत्पन्न किया। इसकी राजधानी (अकवती) हुई। इन्हीं चार पुरुषों से क्रम से पवार, सोलंकी, परिहार और चौहान पैदा हुए।

बूंदी का राजवंश भारतेन्दु ग्रंथावली तीसरा खण्ड पृष्ठ २६५ से उद्धृत

१ राजस्थान में मेवाड़ और जेसलमेर का राज्य सबसे प्राचीन है। आठ सौ बरस से भारतवर्ष में विदेशियों का राज्य प्रारम्भ हुआ, तब से अनेक राज्य बिगड़े और बने पर यह ज्यों का त्यों है। गजनी के बादशाह लोग सिंधु नदी का गंभीर जल पार करके हिन्दुस्तान में आए। उस समय जहाँ मेवाड़ के राज्य का सिंहासन था वहीं अब भी है। बहुत से राजा लोग उस राज्य के चारों ओर, बहुत से वहाँ से और कहीं जा बसे, पर इनके महल अब भी यहीं खड़े हैं जहाँ पहिले खड़े थे सतयुग से आज तक इस वंश के सब पुरुष सिंहासन पर ही थे।

वही—उदय पुरोदय पृष्ठ २१४

इसके पश्चात इन्होंने लाहौर को लवपुर माना है। लवपुर से तात्पर्य ऐसा नगर जिसे रामचन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र लव ने अपने राज्य समय में बसाया था। सुमित्रा-पुत्र नामक राजा भी इसी राज्य से सम्बन्धित हैं, वे लव से पचपन पीढ़ी पीछे हुए थे। लेखक ने इस सम्बन्ध में अनेक वंशावलियों का परिचय दिया है।

अन्त में वल्लभी पुर नगर के ध्वंस के कारण लिखे गए हैं, और उस नगर के ध्वंस में किसका हाथ था यह निश्चित नहीं हो पाया है। यह अवश्य बता दिया गया है कि इसको किसी 'असभ्य जाति ने नाश किया'। इसी दौरान में श्वेत वर्ण की एक हूण जाति का भी उल्लेख मिलता है। ये श्वेत वर्ण के हूण शासक के रूप में थे।

"उसी काल में श्वेतवर्ण की एक हूण जाति भी सिन्धु के किनारे राज्य करती थी। हूण जाति नामक प्राचीन असभ्य मनुष्यों का लेख पुराणों और यूरोप के इति-वृत्तों में भी पाया जाता है, संभावना होती है कि इन्हीं दो जातियों में से किसी ने वल्लभीपुर नष्ट किया होगा। पारद और हूण दो जातियों का आदि निवास शाक द्वीप है। महाभारत में शाक द्वीपी और पूर्वोक्त हूणादिकों को इसी प्रकार यवन लिखा है। पुराणों में इन सबों को एक प्रकार को क्षत्री लिखा है। ये सब असभ्य जाति किस काल में यहाँ आये इसका पता नहीं लगता।"[1]

ऐतिहासिक लेखों में अन्य उल्लेखनीय लेख है पुरावृत्त संग्रह। इस लेख में प्राचीन पुस्तकें तथा मुगलकालीन राजा महाराजाओं के जीवन वृत्त और उस राजा की नीति एवम् चरित्र का उल्लेख है। अकबर और औरङ्गजेब की बुद्धि एवम् दोनों में तारतम्य दिखाना ही लेखक का इष्ट है।

लेखक ने अकबर की सर्वप्रियता का उल्लेख किया है।[2] अकबर का चरित्र चित्रण करके उस समय के बृटिश शासकों का ध्यान इस ओर ये आकर्षित करना

---

१. उदय पुरोदय—भारतेन्दु ग्रन्थावली—पृष्ठ २२२, २२३

२. आमेरोरा समुद्रावधवति वसुमती यः प्रतापेन तावत।
दूरे गाः पाति मृत्योरपि करमुचतोर्य वाणिज्य वृत्योः
अप्यश्रोधीत् पुराणं जयति, च दिव कुशाम योगं विधन्ते।
गङ्गाम्यो भिन्नमम्भो न च पिवति जयतेष जल्लालुदीन्द्रः
अङ्गवङ्ग, कलिङ्ग सिलिहट-तिपुरा-कामता-कामरूपा,
नान्ध कर्णाट लाट द्रविड़ मरहट द्वारिका चोल पाण्डयान्,
भोटान्नं सारवारोतकल मलय खुरासान् खान्धार जाम्बू,
काशी-काश्मीर ढक्का बलख तबखशा-काबिलान्य प्रशास्ति॥
कलियुगमहिमाऽपचीयमानश्र्, तिसुर मिद्धि जधर्मरक्षणय।
घृतसगुणतन् तप्रमेयं पुरुषमकब्बरशाह मानलीस्मि॥
भारतेन्दु ग्रन्थावली से उद्धृत—पुरावृत्त संग्रह पृष्ठ ११८

चाहते थे कि २ भारतीय शासकों ने भारत को किस प्रकार अङ्गीकार किया, और भारतीय जन परम्परा को कोई भी ठेस नहीं लगने दी है। अकबर की प्रशंसा में लेखक ने अकबर के एक सेवक के पत्र का उल्लेख किया है। यद्यपि उक्तियों में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति भी मिलती है फिर भी अकबर की नीति का वर्णन तो स्पष्ट हो ही जाता है। अकबर को उसकी प्रजा किस रूप में मानती थी, इसका प्रमाण है अकबर के एक सेवक का ही उल्लेख। श्लोक का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है—

"जो समुद्र से मेरु तक पृथ्वी को पालता है। जो मृत्यु में गउओं की रक्षा करता है, जिसने तीर्थ और व्यापार के कर छुड़ा दिये है, जिसने पुराण सुना, जो सूर्य का नाम जपता है, जो योग धारण करता है और गंगाजल छोड़ कर और पानी नहीं पीता, उस जलालुद्दीन की जय। अभंवग कलिंग, सिलहट, त्रिपुरा, कामता, कामरूप, अंध, कर्णाटक, लाट, द्रविण, महाराष्ट्र, द्वारिका, चोल, पाण्डव, भोट, मारवाड़, उड़ीसा, मलय, खुरासान, कंदहार, जम्बू, काशी, ढाका, बलख बदखशाँ और बाबुल को जो शासन करता है। कलयुग की महिमा से घटते हुए वेद, गऊ, द्विज और धर्म की रक्षा को सगुण शरीर जिसने धारण किया है। उस रप्रमेय पुरुष अकबर शाह को हम नमस्कार करते हैं।" इन पंक्तियों से अकबरशाह का अभिवादन किया गया है। अकबर की विजय के दो ऐतिहासिक प्रमाण हैं, तीर्थ और व्यापार का कर

पुरावृत-संग्रह का अन्तिम भाग दान-पत्रों और स्थान विशेष की महत्ता से ही भरा हुआ है। दान पत्रों में कन्नौज के राजा का दान पत्र,[1] अशोक का दान-पत्र,[2] राजा जनमेजय का दानपत्र[3] और मंगलीश्वर का दानपत्र[4] का उल्लेख किया है।

इन दानपत्रों की ऐतिहासिक महत्ता दिखलाते हुए भारतेन्दु ने काशी एवम् अन्य स्थानों के प्रसिद्ध स्थानों वर्णन किया है। मणिकर्णिका के नाम ने लेखक के

---

१. कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द ने उन्हीं के अन्यतर दानपत्र की प्रति है। लेखक ने उनके दान की महिमा गाई है।

२. महावीधि मन्दिर के समीप एक पत्थर के टुकड़े पर लिपिडब्ल्यू हार्योन के पापी था, लेखक ने अन्य दान पत्रों के साथ उस दान पत्र का भी उल्लेख लिपि को देकर किया है। द्रष्टव्य भा. ग्रन्थावली पृ. १३१

३. यह दानपत्र युधिष्ठिर के संम्वत १११ का माना गया है। कर्नेल एलिस के विचार में यह उस जन्मेजय का नहीं है विजयनगर के राजाओं में से किसी का है।

४. मंगलीश्वर का दान पत्र कलादगी जिले में वदामों में हिन्दूमत की बड़ी गुहाओं के पास खुदा है। मंगलीश्वर कीर्तिवर्मा का भाई पुलवंशी का पुत्र था। इसका राज्य शक ४७७ माना गया है।

मस्तिष्क में जीवन की असारता का उदय किया है। काशी नामक विवरण में काशी की महत्ता है। काशी के तीन भागों का वर्णन है।[1] इस नगरी में शिव की मूर्तियों के भी उपलब्ध प्रकार भी बताये गए हैं। इस प्रकार से काशी का सांस्कृतिक एवम् ऐतिहासिक विश्लेषण है। काशी की प्राचीनता एवम् गौरव लेखक सहज ही में आकर्षित कर पाया है।

चरितावली

जैसा नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें चरित्रों का सङ्कलन है। चरित्र से तात्पर्य किसी विशेष भारतीय अथवा अभारतीय राजाओं एवम् महापुरुषों से नहीं है, भारतीय हो अथवा अभारतीय, राजा हो अथवा धर्म प्रचारक एवम् प्रवर्तक सभी महान् व्यक्तियों की उपासना की गई है। इसका आधार केवल चरित्र और वीरता की पूजा ही है, चरित्र और वीरता लेखक की जब भी, जिस किसी में भी मिली है, उसकी प्रतिष्ठा ही ध्येय रहा है। इस प्रकार से विक्रम, कालिदास, रामानुजाचार्य, शङ्कराचार्य, जयदेव, पुष्पदत्ताचार्य वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नैपोलियन तृतीय, जग बहादुर, द्वारिकानाथ मिश्र, (जङ्गुन) राजाराम शास्त्री, लार्ड मायो, लार्ड लारेंस, महाराजाधिराज जार, की चरित विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।

पुस्तक के अन्तिम भाग में कुण्डलियाँ भी दी गई हैं। पहिली कुण्डली Francis I King of France की है, दूसरी Charls V Emperor of Germany की, तीसरी Napolean III Emperor of France, Fedrick Willian V Emperor of Germany, महाराज मल्हार राव, टीपू सुल्तान, सिकन्दर एवम् रावण की जन्म कुण्डली एकत्रित कर संग्रहीत है।

चरितावली का पहिला चरित्र है विक्रम का। इसका आधार जनश्रुतियों पर न हो करके शुद्ध ऐतिहासिक है। वहिसाक्ष्य में बुहलर साहब का विक्रमांक चरित नामक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का श्रेय लेखक ने बुहलर को ही दिया है। यह ग्रन्थ विलह्‌ण कवि द्वारा रचित है।

कालिदास का जीवन चरित भी लेखक ने दिया है। कालिदास नाम के कई कवि हुए हैं, मुख्य गिने जाते है केवल दो ही। एक तो जो राजा विक्रमादित्य के नौरत्नों में से थे दूसरों जो राजाभोज के समय में हुए हैं। पहिले कालिदास ही सर्वश्रेष्ठ समझे गए हैं। इनके द्वारा ही रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, ऋतुसंहार नामक काव्य-ग्रन्थ रचे गए है। इस विवरण में संक्षेप में कालिदास की जीवनी तो है ही इसके अतिरिक्त कालिदास के कालक्रम को भी निश्चित किया गया है।

---

१. मैं इस कार्य के तीन भाग का वर्णन करूंगा यथा प्रथम भाग में पाँचकोश का दूसरे में गोसाइयों के काल का, तीसरे कुछ अन्य स्फुट वर्णन। आदि

वही, काशी पृ० १३९

इस प्रकार से इस लेख में प्रतिभाशील व्यक्तियों में, प्रतिभा की स्थापना और उस प्रतिभा को किस प्रकार से विकसित करने के लिए आपत्ति एवं विरोधों का सामना करने पर भी सफलता प्राप्त होती है, इसी का उल्लेख है।

दिल्ली दरबार दर्पण

यह भी एक ऐतिहासिक लेख है। इस लेख के विश्लेषण के लिए हम इसे तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहिला भाग दरबार का वर्णन, दूसरा वाइसराय का व्याख्यान एवम् कृतज्ञता प्रकाशन और तृतीय भाग के अन्तर्गत राजाओं नवाबों को जो उपाधियाँ एवम् सलामियाँ बख्शी गई उसका सम्यक वर्णन।

निबन्ध का प्रारम्भ दरबार के वर्णन से होता है। दरबार के वर्णन के बीच लेखक ने भारत की वास्तविक स्थिति एवम् मानसिक गुलामी का चित्रण किया है। इन लेखों के मध्य में यह स्पष्ट होता चलता है कि देशी (भारत के) राजे रजवाड़े लोग केवल शारीरिक परतन्त्रता के योग्य नहीं थे वरन् उनमें से मानसिक स्वतन्त्रता का बिल्कुल ह्रास हो गया था, शासक के प्रति अपने सहज कर्तव्यों को तो वे अदा कर, अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण समर्पण भी इन्होंने कर दिया था। भारत के परतन्त्रता की यह बुनियाद .इसीलिए ठोस रही। लेखक ने छोटे राजाओं के बातचीत के ढंग का भी ढांचा प्रस्तुत किया है। 'नवाब लुहारू की भी बातचीत सुन करके ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्हें हँसी न आई हो। नवाब साहब बोलते तो बड़े बड़ाके से थे पर उसी के साथ कायदे और मुहावरे के भी खूब हाथ पाँव तोड़ते थे। इनके वाक्य कुछ ऐसे थे जिनके कुछ अर्थ भी नहीं हो सकते, पर नवाब साहब को अपनी अंग्रेजी का कुछ ऐसा विश्वास था कि अपने मुँह से केवल अपने को ही नहीं वरन् अपने दोनों लड़कों को भी अंग्रेजी, अरबी, ज्योतिष, गणित आदि ईश्वर जाने कितनी विद्याओं का पांडित्य बखान गए।[1]" ऐसे उदाहरणों को देने के पीछे लेखक का एक मात्र उद्देश्य है भारत के नवाबों की मनोवृत्ति एवम् मानसिक स्तर का द्योतन कराना। उस स्थिति में जितना भी खुला वर्णन कर सके हैं भारतेन्दु की यथार्थवादी मनोवृत्ति ने उतना ही खुला वर्णन करने की चेष्टा की है। लेखक भारतीय नवाबों एवम् राजाओं की देशद्रोही वृत्तियों को दिखलाने में सफल रहा है।

हिन्दी में ऐसी (डायरी के रूप में अथवा इन्टरव्यू के रूप में) लिखने की शैली प्रचलित नहीं थी, भारतेन्दु ने इस शैली को अपना कर एक नवीन प्रेरणा हमारे समक्ष रखा है। मनोवृत्तियों का दिग्दर्शन इस शैली के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकता है। बीच-बीच में लेखक का व्यंग्य भी निखर आया है जैसे राजाओं और वायसराय मिलन का वर्णन, इस मिलन में लेखक ने राजाओं की प्रशस्ति के साथ ही साथ उनके unmanneid की ओर-भी व्यंग किया है।

---

१. दिल्ली दरबार वर्णन वही पृष्ठ १८५

'कोई तो दूर से ही हाथ जोड़े आए, और दो एक ऐसे थे जबकि एडिकांग के बदन झुकाकर इशारा करने पर भी उन्होंने सलाम न किया तो एडिकांग ने पीठ पकड़ कर उन्हें धीरे से झुका दिया। और भी कोई बैठ कर उठना जानते ही न थे, यहां तक एडिकांग को 'उठो' कहना पड़ता था।' ऐसे वर्णन हिन्दी गद्य के लिए नवीन थे; ये वर्णन प्रायः अंग्रेजी साहित्य के डायरी नोटिंग के रूप में आते हैं। भारतेन्दु ने ऐसे वर्णनों द्वारा एक नई शैली का प्रतिपादन किया। ऐसी शैली में लेखक अपनी भाषा की तीव्रता के साथ ही सब कुछ कह देता है, उसके वाक्यों की टुकड़ियों की व्याख्या की आवश्यकता रहती है। जैसे ऊपर के उदाहरण में एडिकांग का 'उठो' कहना, उठो, एक शब्द ही मे कितना व्यंग, भारतीय नवाबों की ह्रासोन्मोमुख प्रवृत्तियों एवम् उनके मानसिक जागरण का संकेत हो जाता है।

लेख का दूसरा भाग है व्याख्यान। व्याख्यान के अन्तर्गत देश की वास्तविक स्थिति का तो उतना स्पष्टीकरण नहीं होता जितना कि बृटिश नेता हमारे देश के लिए क्या सोचते थे, इसका प्रकाशन हो जाता है। व्याख्यान के बीच भी वाइसराय के सलाम करने के ढंग पर लेखक की तीव्र दृष्टि गई है उन्हीं के शब्दों में—

"श्री युत न बड़े ही आदर के साथ दोनों हाथों से हिन्दुस्तानी रीति पर कई बार सलाम करके सबसे बैठ जाने का इशारा किया। यह काम श्री युत का, जिससे हुब्बार्ड में की डाली दूनी हो गई, पायोनियर सरीखे अंग्रेजी समाचार पत्रों के सम्पादकों को बहुत बुरा लगा जिनकी समझ में वाइसराय का हिन्दुस्तानी तरह से सलाम करना बड़ी हेठाई और लज्जा की बात थी।" अन्तिम वाक्य में भारतेन्दु की भारतीय संस्कृति के लिए भक्ति निखर पड़ी है। यह उनकी राष्ट्रीयता का चिन्ह था, जो कि इने गिने लेखकों में उस समय पाया जाता था। भारतेन्दु का चेतनशील मस्तिष्क इस ओर बड़ा ही सजग रहा है।

पञ्च पवित्रात्मा

पञ्च पवित्रात्मा मुसलमानी मत के पांच प्रवर्त्तकों की संक्षिप्त जीवनी के रूप में है। महात्मा मुहम्मद, आदरणीय अली, बीबी फातिमा, इमाम हसन और इमाम हुसैन की जीवनी संग्रह है। इस लेख को हम उतना ऐतिहासिक रूप न देकर धार्मिक रूप ही देंगे। धार्मिक इस (अर्थ) में कि कहीं-कहीं कुछ ऐसे प्रसंगों का प्रतिपादन लेखक ने किया है जो ऐतिहासिक प्रतीत न होकर विश्वास पर ही आधारित अधिक लगता है। जीवनी के मध्य में ही ऐसे प्रसंग भी आ गए हैं जहाँ बीबी फातिमा को अच्छे-अच्छे वस्त्र सहसा प्राप्त हो गए हैं, यद्यपि वह एक विवाह में आमंत्रित हैं और वहाँ जाने के लिए मुहम्मद की आज्ञा भी उन्हें मिल गई है परन्तु वस्त्रों के अभाव में वहां जाने में ही उन्हें संकोच है, फिर भी महात्मा मुहम्मद की आज्ञा के कारण बीबी जी अपने फटे पुराने वस्त्रों में ही आने जाने लगी, 'ईश्वर

के अनुग्रह से उनके अंग पर दिव्य वस्त्राभरण सज्जित हो गए।' ऐसा उदाहरण ऐतिहासिक न होकर धार्मिक ही कहा जा सकता है।[1]

जीवनी का कुछ अंश प्रारम्भ मे है। महात्मा मुहम्मद का बचपन का जीवन और अरब के जीवन की कुछ झांकी इस लेख मे देखने को मिलती है। लेखक का अभिप्राय केवल जीवनी देना ही नहीं है वरन् अरब का वातावरण और कुछ आदर्शमूलक बातें बताने का भी। बाहरी तड़क-भड़क शृंगार और दिखावा पर मुहम्मद का विश्वास नहीं था, उन्ही के मत का प्रतिपादन करते हुए लेखक अपना भी स्वीकृत सूचक संकेत दे देता है। भारत के अतिरिक्त अन्य राष्ट्र एवं अन्य संस्कृति के उपासक महापुरुषों का जीवन चरित और उद्देश्य देना भारतेन्दु का पहिला प्रगतिशील प्रयास था। अन्त में उनके ऐतिहासिक लेखों की आवश्यकता के विषय में यही कहा जा सकता है कि लेखों के पीछे एक तो राष्ट्रीय जागृति का उद्देश्य था, और चरितावली प्रस्तुत करके लेखक अपने महापुरुषों के तथा अन्य राष्ट्र के महापुरुषों के ज्वलन्त चरित्रों की झांकी प्रस्तुत करते हुए उनका आदर्श अपने वर्तमान साथियों के समक्ष रखना उचित समझता था। रामानुजाचार्य, शंकराचार्य, अकबर और औरंगजेब, सुकरात आदि ऐसे व्यक्तित्व हैं जिनके उल्लेख से सामूहिक चेतना जगाना ही, इस प्रकार से व्यक्तित्व का निर्माण करना ही लेखक को इष्ट था।

दूसरे, लेखक अपने इतिहास को पुनः मांज करके, संवार संभार करके भारतवासियों के समक्ष उसके वास्तविक रूप को देना चाहता था। सामाजिक जागृति लाने के लिए इतिहास से परिचय कराना परमावश्यक हो जाता है। चेतना की शृङ्खला अपने अतीत के बलिदान एवम् आहुतियों से अनुप्रणित होकर ही आगे बढ़ती है। भारतेन्दु ने अतीत के गह्वर में प्रवेश करके वर्तमान को उसी रूप में गढ़ने की व्यापक प्रेरणा दी। इस दृष्टि से भारतेन्दु के साहित्य में प्रगति के लक्षण हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

धार्मिक निबन्ध

भारतेन्दु ग्रन्थावली के निबन्धों की सूची के अनुसार निबन्धों की दूसरी कोटि धार्मिक निबन्धों की है। भारतेन्दु ने धार्मिक शब्द को संकीर्ण नहीं रखा है, भारतेन्दु की सामाजिक एवम् धार्मिक परिस्थिति के संदर्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि धर्म के सम्बन्ध में कितनी भ्रान्तियां चल रही थी, ब्रह्मसमाज एवम्

---

१. महात्मा मुहम्मद ने उत्तर दिया कि बेटी तुम किंचित मात्र भी सोच मत करो। हमारे पास उत्तम वस्त्राभरण और धन तो निस्संदेह कुछ भी नहीं है परन्तु निश्चय रखो कि जो आज तक पीले वस्त्र पहन कर अलंकार के उद्यान में फूली फूली दिखलाई पड़ती है वे अपने दुष्कर्मों से फल तृण से भी तुच्छ होकर नर्क की अग्नि में जलेंगी।

—वही पञ्च पवित्रात्मा पृष्ठ २९८

आर्यसमाज का उदय हो रहा था, सनातनधर्म को उस समय के समाज ने बड़े ही रूढ़िगत धर्म पद्धति के रूप में देखा था। इन सभी भावनाओं की प्रतिक्रिया इनके लेखों में मिलती है। इस परिस्थिति में कुछ निबन्ध तो ऐसे प्राप्त हैं जिनमें कि धर्म का वास्तविक अर्थ स्पष्ट किया गया है और उनका रूप बताया गया है इसके अतिरिक्त कुछ व्याख्यात्मक निबन्ध हैं, वैष्णव धर्म को अथवा उसके अन्तर्गत संस्कारों की व्याख्या की गई है।

तदीय सर्वस्व (उपक्रम) में धर्म के वास्तविक रूप की विवेचना की गई है। उस समय के प्रचलित 'ब्रह्महत्या' एवम् 'पाप'[1] के सम्बन्ध में इस लेख के प्रारम्भ में ही प्रकाश डाला गया है। भारतेन्दु के अन्दर एक सांस्कृतिक संस्कार की भावना प्रबल दृष्टिगत होती है। सांस्कृतिक संस्कार से तात्पर्य धर्म की निष्ठा के उस आन्तरिक स्वरूप से है जिसके द्वारा हर धर्म का सामूहिक औचित्य एवम् अनौचित्य समझ पाते हैं। कोई भी विचार चलते चलते रूढ़िगत हो जाते है, उन मौलिक विचारों की छाया में सामाजिक प्रतिछाया का भी योग होने लगता हैं, जहाँ मौलिक सिद्धान्तों में सामाजिकों का अपना दृष्टिकोण एवं सिद्धान्त जुड़ना प्रारम्भ हुआ वहीं वह धर्म-दर्शन रूढ़िगत हो जाता है। सांस्कृतिक चेतना उसी बाह्य आडम्बरों की छाया को दूर करती चलती है उस समय के धर्म का वास्तविक रूप[2] तो बड़ा ही संकीर्ण हो गया था। छुआछूत एवं ब्राह्मण अब्राह्मण की भावना समाज को पंगु कर रही थी। भारतेन्दु ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से अपना मत प्रकट किया है। कबीर या अन्य सुधारवादियों की भाँति धर्म के मूल तत्वों पर उन्होंने विचार किया है, भक्ति का सर्वस्व उन्होंने प्रेम को माना है और परमेश्वर को पाने का पथ भी यही है। 'निश्चय रखें कि परमेश्वर के पाने का पथ केवल प्रेम है और बात

---

१. छोटी-छोटी बातों में ब्रह्महत्या का पाप। तुच्छ तुच्छ बातों में बड़े-बड़े यज्ञों का पुण्य, अहं ब्रह्म का ज्ञान और मूलधर्म छोड़ कर उपधर्मों में आग्रह ने भारतवर्ष से वास्तविक धर्मों का लोप कर दिया।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली तीसरा भाग

सम्पा० ब्रजरत्नदास ना०प्र० सभा काशी, तदीय सर्वस्व

(उपक्रम, पृ० ५८३)

२. धर्म हमारा ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से एक चुल्लू पानी से मर जाता है। कच्चे गले सड़े सूत की पिउंटी की दशा हमारे धर्म की हो गई है। हाय !!

—वही

चाहे धर्म की हो या लोक की, दोनों बेड़ी ही हैं। बिना शुद्ध प्रेम न लोक है न परलोक। जिस संसार में परमेश्वर ने उत्पन्न किया है, जिस जाति या कुटुम्ब से तुम्हारा सम्बन्ध है और जिस देश में तुम हो, उसे सहज सरल प्रेम करो, अपने परम पिता परम गुरु परम पूज्य परमात्मा प्रियतम को प्रेम में ढूँढ़ो। बस और कोई साधन नहीं है। अन्य भक्तिकालीन कवियों की तरह भारतेन्दु ने भी 'रामहि केवल प्रेम पियारा जान लेहु जो जाननिहारा' की ध्वनि में अपनी स्वीकृत दे दी है।

धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार वे पूर्ण रूप से चाहते थे। जनसाधारण में आने के लिए जन-भाषा का स्वरूप भी अंगीकार करना आवश्यक हो जाता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है।[1] जब तक धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार प्रचलित भाषा में न होगा तब तक वर्ग की विशिष्ट चेतना उन सिद्धान्तों को तो ग्रहण कर लेगी परन्तु जन-चेतना उसको ग्रहण करने में समर्थ न होगी, अतएव आवश्यक हो जाता है कि धर्म को सुलभ करने के लिए उसके सिद्धान्तों का प्रचार जन-भाषा में किया जाय। 'धर्म तत्व के मूल ग्रन्थों का प्रचार भाषा में नहीं है' यहाँ भाषा शब्द का तात्पर्य जन-साधारण की भाषा है। भारतेन्दु ने जन-भाषा पर ही जोर अधिक दिया है। धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार भी तभी बहुतायत से हो पायेगा, जब उसका वास्तविक स्वरूप जन-समूह के बीच बिखर जाय, उसकी महत्ता को समाज पहिचान करके अंगीकार कर ले।

'तदीय सर्वस्व' शीर्षक लेख भारतेन्दु की परिमार्जन एवम् जन-चेतना जागरण की प्रवृत्ति का द्योतक है। भक्ति और धर्म के क्षेत्र में संघर्ष तो चल ही रहा था, भक्ति को अपने अपने रूप में देखे जाने का प्रयास हो रहा था, लेखक ने श्री नारद कृत भक्ति का बृहत भाष्य प्रस्तुत करके हिन्दी भाषी लोगों के समक्ष भक्ति का वास्तविक रूप रखना चाहा है। उनकी इच्छा केवल एक विशिष्ट धर्मावलम्बी को ही संदेश देने की न थी, उनको तो समस्त मानवता की चेतना को व्याप्त करना था। अपने उपक्रम में ही इन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि ग्रन्थ वैष्णवों की शैली पर लिखा गया है परमेश्वर के सभी भक्तों को संदेश देना उनका इष्ट था।[2]

---

१. हम आर्य लोगों में धर्म तत्व के मूल ग्रन्थों का भाषा में प्रचार नहीं। यही कारण है कि भिन्नता स्थान-स्थान फैली हुई है।

—उपक्रम (तदीय सर्वस्व)
पृष्ठ ५८३

२. इसमें मुक्त कण्ठ से कहा गया है कि केवल प्रेम परमेश्वर का दिव्य मार्ग है। यद्यपि यह ग्रन्थ वैष्णवों की शैली पर लिखा गया है किन्तु परमेश्वर के भक्त मात्र के हेतु यह उद्योग है। क्रिस्तान आदि विदेशी धर्म प्रेमी

अनुवाद करने की भावना के पीछे ही उनका उद्देश्य था धर्म के वास्तविक उद्देश्यों के प्रचार का। इस प्रकार से लेखक के दृष्टिकोण को हम एक रूपक प्रयोग के रूप में मानते हैं, जिसके द्वारा सामूहिक जनता में एक जागरण हो सके। ईश्वर की भावना और उसके प्रति विश्वास तो जनता में, चाहे वह किसी भी जाति की हो अथवा ईश्वर के किसी भी रूप को पूजती हो, एक उन्नति का और Self realisation का मार्ग प्रस्तुत करता चलता है। भारतेन्दु इसी के सहधर्मी रहे हैं। इसीलिये 'तदीय सर्वस्व' के उपक्रम में उन्होंने भक्ति की इस व्याख्या को तथा ईश्वर के इस रूप को किसी एक विशेष सम्प्रदाय का दृष्टिकोण न मान करके सभी सम्प्रदायों का माना है। भक्ति तो एक व्यापक शब्द है और उसका रूप भी व्यापक है, कोई भी धर्मावलम्बी, कोई धर्म का मानने वाला उसे अपने ही धार्मिक स्वरूप में न पूज करके एक व्यापक प्रेरणात्मक रूप में अङ्गीकार करता है। अतएव लेखक की यह कामना कि 'विष्णु' को शिव का रूप, ब्रह्म का रूप अथवा गुरु का रूप दिया जा सकता है, एक *Universal God* की भावना ही का संदेशवाहक है। परमात्म सत्ता के प्रति यह विचार सभी संगठनों और धार्मिक सम्प्रदायों को एकता के सूत्र में गूथ देता है।

वैष्णवता और भारतवर्ष

दूसरा धार्मिक उल्लेखनीय निबन्ध है 'वैष्णवता और भारतवर्ष'। वैष्णव धर्म की वैज्ञानिक मीमांसा करते हुए लेखक ने इसी धर्म को भारत का आदि धर्म माना है और सभी सम्प्रदायों को इसके आधीन माना गया है। विष्णु का रूप सर्वव्यापक है और सभी देवताओं के रूपों में भी इस रूप की छाया लेखक को दृष्टिगोचर होती है। वही धर्म दीन हो करके नाना मतमतान्तरों में बँट गया है। धार्मिक पतन की बात लेखक ने इस लेख में स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त लेखक

जन समझे कि कृष्ण उनके निर्गुण परमेश्वर का नाम है, वैष्णव की तो कुछ बात ही नहीं, शैव कहें कि विष्णु शिव का ही नामान्तर है, ब्रह्म समझे कि हरि ब्रह्म ही को कहते हैं, उपासना और आर्य समाज इसे अपना ही तत्व मानें, सिक्ख इसमें गुरु का पथ देखें और ऐसे ही भक्ति मार्ग का वे मात्र सब लोग इसको अपनी निज सम्पत्ति समझें। इसमें कोरे कर्ममार्गी व ब्रह्मज्ञ या स्वयं ब्रह्म लोग यदि मुझको गाली भी देंगे तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

वही—उपक्रम
पृष्ठ ५८४

ने सामाजिक दुर्व्यावस्था, अंग्रेजी पराधीनता, और उससे उत्पन्न भावनाओं का चित्रण किया है। इस लेख के द्वारा लेखक ने सामाजिक चेतना को जागृत करने की चेष्टा की है। कहीं कहीं उनके अपने व्यंग बड़े ही मार्मिक हो गए हैं। सुधारवादी दृष्टिकोण को उन्होने सर्वथा अपनाया है। सिविल सर्विस में भाग लेना, विलायत की यात्रा, तथा स्त्री शिक्षा पर मुख्य रूप से प्रकाश डाला गया है। हिन्दुओं ने धर्म की आंड़ में इन सभी शिक्षाओं तथा समुद्र पर्यटन को अधार्मिक घोषित कर दिया था, उस युग में ये सभी बातें धर्माचरण के विरुद्ध मानी जाती थीं, युग की आवश्यकता को देखते हुये यह आवश्यक था इन सभी रूढ़िग्रस्त बातों को समाप्त किया जाय। भारतेन्दु ने इन सभी की ओर सङ्केत किया है।[1] एकता की ओर भी उन्होंने जोर दिया है, धार्मिक झगड़ों के कारण सभी भारतीय पृथक हुये जा रहे थे और वे सामूहिक शक्ति एकत्रित नहीं कर पाते थे इसका स्पष्ट आभास उन्हें हुआ था। इन ऐतिहासिक कमजोरियों की ओर उन्होंने हिन्दू जनता का ध्यान आकर्षित कराया है।[2] यह लेखक की रूपक मनोवृत्ति है और साहित्य के क्षेत्र में भी व्यापक

---

१. जिस भाव से हिन्दू मत अब चलता है, उस भाव से आगे नहीं चलेगा। हम लोगों के शरीर का बल अब न्यून हो गया है। विदेशी शिक्षाओं से मनोवृत्ति अब बदल गई है, जीविका और धनोपार्जन के हेतु अब हम लोगों को पांच पांच छः छः पहर पसीना चुआना पड़ेगा, रेल पर इधर से उधर कलकत्ते से लाहौर और बम्बई से शिमला दौड़ना पड़ेगा, सिविल सर्विस का, बैरिस्टरी का, इन्जीनियरी का इम्तहान देने विलायत जाना होगा, बिना यह सब किए काम नहीं चलेगा, क्योंकि देखिए क्रस्तान, मुसलमान, फारसी यही हाकिम हुए जाते हैं, हम लोगों की दशा दिन दिन दीन हुई जाती है।

वही—वैष्णवता और भारतवर्ष

२. वैष्णव, शैव, ब्राह्म, आर्य समाजी सब अलग अलग पतली पतली डोरी हो रहे हैं। इसी से ऐश्वर्य रूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बँधता। इन सब डोरों को एक में बांध कर एक मोटा रस्सा बनाओ, तब यह हाथी, दिग् दिगंत भागने से रुकैगा। अर्थात् अब वह काल नहीं है जब हम लोग भिन्न भिन्न अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकाया करें अब महाघोर काल उपस्थित है।

—वही. पृष्ठ ८०१

चेतना का बीजांकुर भारतेन्दु ने ही किया है। लेखक की प्रगति का यह उल्लेखनीय चरण है।

जातिगत और धर्मगत विषमताओं से बहुत ऊपर लेखक ने राष्ट्रीय एकता का संदेश दिया है। इतिहास के पृष्ठ हमें बताते हैं कि हमारी अवनति का मुख्य कारण हमारी आपस की फूट है, इसी फूट को दूर करने के लिए लेखक प्रयत्नशील रहा है। चाहे आन्तरिक भावनाएँ अलग-अलग हों, पर वाह्य कलेवर भारतीय का एक सा ही होना आवश्यक था। इसीलिए आर्य समाजी अथवा ब्रह्म समाजी कोई भी हों सभी को एकता के सूत्र में बाँधना तो उनका इष्ट था।

लेखक का वाह्य कलेवर तो सरल भाषा का ही द्योतन करता है परन्तु ऐसे लेखों का प्रारम्भ भारतेन्दु ने ही किया। सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय हित का ध्यान अब तक के साहित्यकों का उद्देश्य नहीं हुआ करता था, इन्होंने धर्म के मामले को ले करके, सामाजिक समस्याओं को ले करके तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों का भी विस्तृत उल्लेख किया है। वैष्णवता और भारत वर्ष जैसा कि इस लेख से स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु ने शुद्ध वैष्णवता का प्रतिपादन तो अवश्य किया है परन्तु किसी भी धर्म अथवा किसी भी जाति के ऊपर इनका हस्तक्षेप नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक का सन्देश और दृष्टिकोण अनेकांश में हिन्दू की हित भावना का सम्पादन कर रहा है परन्तु इसके मध्य में यह भी उनकी प्रगतिशील दृष्टि का परिचायक है कि उन्होंने धर्म के सूत्र मे केवल हिन्दू ही नहीं, अथवा भारतीय ही नहीं, समस्त मानवता को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा की है। उनके भक्ति की व्याख्या और धर्म का विश्लेषण एक विशिष्ट मतावलम्बियों के लिए नहीं है। समस्त मानव जाति के लिए है। उन्होंने मुसलमानों को भी सबके साथ मिलकर और देशहित करने का संकेत दिया है। प्रगति की अपनी सीमायें होती हैं उस युग की चेतना में भारतेन्दु का यह विचार बहुत ही प्रगतिशील है। हिन्दू मुसलमान की एकता का स्वर तथा दोनों संस्कृतियों को अभिन्न न बताने का ढंग, इनका अलग था यद्यपि स्वभाव से लेखक वैष्णव है, शुद्ध वैष्णव, परन्तु तार्किक होने के नाते वह कहीं भी राष्ट्रीय भावना से च्युत नहीं दिखलाई पड़ते। 'वैष्णव और भारतवर्ष' शीर्षक लेख इस दृष्टि से एक नया प्रयास है। धर्म की स्वस्थ मनोभूमि पर सम्पूर्ण मानवता को बाँध लेने का प्रयास सर्वथा अभिनन्दनीय है।

भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है

यह एक व्याख्यान है जो कि ददरी के मेले के समय एक नाटक के पूर्व आर्य देशोपकारिणी सभा के तत्वावधान मे दिया गया था। इसका प्रकाशन भी नवोदित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में तीन दिसम्बर १८८५ में हो चुका था। व्याख्यान को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं, पहले भाग में भारत की उन्नति के उपाय सुझाये गये हैं और दूसरे के अन्तर्गत कुछ तीखे व्यंग भी आते हैं जो कि भारतीय राजा महाराजाओं के तथा यहाँ के अधिकारी वर्ग पर किए गए हैं।

भारत की सारी उन्नति का कार्य भारत के राजे और ब्राह्मणों पर ही भारतेन्दु ने छोड़ा हुआ माना है। आर्यों के समय का उदाहरण देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि वह समय भी ऐसा था जब भारत के ब्राह्मण और राजाओं ने भारत में नाना प्रकार की नीति और विद्याओं को बढ़ाया था, वही कार्य (उस समय भी) ब्राह्मण और राजाओं के द्वारा सम्पूर्ण कराने का विचार प्रकट किया गया है। भारतेन्दु जी ने अतीत को घातक बताया है, और तब जबकि कोई यंत्रों का इतना वैज्ञानिक और तारतम्यतापूर्वक विकास नहीं हुआ था उस समय भी ब्राह्मणों तथा ऋषियों ने ताराओं की गतिविधि एवम् कालच्छेद को पहिचाना, भविष्य वाणियाँ कीं जो कि कालान्तर में जाकर सत्य निकलीं तो उस समय जबकि अपेक्षाकृत भौतिक विज्ञान काफी उन्नति पर है तब भी ब्राह्मणों और राजाओं ने अपने कर्त्तव्य को नहीं पहिचाना है।

दूसरी समस्या जिससे आज भी निराकरण हो जाता है वह है मेहनत मजदूरी करके पेट पालने वालों का शिक्षा ग्रहण करना। आज भी वही प्रश्न हमारे समक्ष है मजदूरी करने वाला वर्ग जो अपने बच्चों तथा औरत के साथ मजदूरी करता है और उसे जीविकोपार्जन के लिए यह अवश्यक भी हो जाता है, उनके लिए शिक्षा जीविकोपार्जन को नष्ट करके लेना, आर्थिक हानि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, इस विधि की शिक्षा ग्रहण करने से अच्छा उनका जीवनोपार्जन करना ही है। भारतेन्दु ने इग्लैंड और पाश्चात्य देशों का उदाहरण दे करके यह सिद्ध कर दिया है कि यहाँ सबसे बड़ी बात है उत्साह का मन्द पड़ना, और शोध-प्रवृत्ति का न होना है।[1]

---

१. इगलैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा दूसरे हाथ से अपनी उन्नति की राह के काँटों को साफ किया क्या इगलैंड में किसान, खेतवाले, गाड़ीवान, मजदूर, कोचवान आदि नहीं हैं। किसी देश के भी सभी पेट भरे हुए नहीं होते। किन्तु वे लोग जहाँ खेत जोतते बोते थे वहीं उसके साथ यह भी सोचते हैं कि ऐसी और कौन नई कल या मसाला बनावैं जिससे इस खेती में आगे से दूना अन्न उपजे।

पृष्ठ ८९७—भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो ?

लेख के मध्य-भाग में धार्मिक मत मतान्तरों की चर्चा की गई है। धार्मिकता की आड़ में तथा अपने सुख की आड़ में लोग अपने हित की पूर्ति कर रहे हैं, वास्तविकता इस बात की है और इस ओर भारतेन्दु ने संकेत भी किया है कि धन और मान का बलिदान करके देश के हित का कार्य करना चाहिए। आपसी मत भेद की ओर इन्होंने अपने इस कारनामे में भी संकेत किया है, राष्ट्रोन्नति केवल संगठन पर ही निर्भर है, और सौ दो सौ मनुष्यों का बलिदान, उनके इच्छाओं और स्वार्थों का बलिदान भी आवश्यक है। सभी उन्नति के मूल को धर्म ही माना गया है।[1]

व्याख्यान के अन्त में बहु विवाह प्रथा, कुलीन प्रथा, लड़कियों को न पढ़ाने की प्रथा को दूर करने की अपील किया है। पढ़ाने का अर्थ उन्होंने शिक्षा के व्यापक स्वरूप से लिया है, वे ऐसी पढ़ाई नहीं चाहते जिससे केवल वाह्याडम्बर की वृद्धि हो तथा व्यक्ति अपने में ही सीमित रहे उन्होंने मस्तिष्क और शरीर की शिक्षा के साथ ही साथ संस्कारों को शिक्षित करने को कहा है। स्वदेश की भावना, राष्ट्र प्रेम तथा जातीय संस्कार ही शिक्षा का व्यापक उद्देश्य होना चाहिए, इन्होंने अपने इस मत को प्रकट भी किया है। सभी की एकता, तथा सभी जातियों के हित की भावना ही सर्वस्व है। छोटी जाति के मनुष्यों का अपमान जाति के लिए कलंक है, इसीलिए छोटी जाति उच्च जाति के लोगों के प्रति साहस नहीं कर पाते। अन्त में हिन्दू और मुसलमान की एकता की बात भी भारतेन्दु ने कहा है और मुसलमान धर्म में जाति भेद का न होना, 'खाने पीने में चौका चूल्हा का न होना तथा विलायत जाने में रोक थाम का न होना' भारतेन्दु को अच्छा लगा है। अतएव हिन्दुओं के साथ कंधा में कंधा मिला कर चलने की आवश्यकता है और यही एकता की भावना ही राष्ट्र की प्रगति कर सकेगी। अपनी कविता की पंक्ति 'पर धन जात विदेश यही अति ख्वारी' भी यहां वे भूल नहीं पाये हैं, उन्होंने भारतवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि मलमल तथा अन्य विलायती वस्त्रों के उपयोग से हिन्दुस्तान का पैसा बाहर जाता है, अतएव आवश्यक यह है कि सभी अपने देश के रोजगार और घरेलू धंधों को फिर अपनाओ। अपने युग की आवश्यकता को पूर्ण करने में भारतेन्दु कितने प्रयत्नशील थे, इसका स्पष्टीकरण इनके इस व्याख्यान से हो जाता है। संक्षेप में इन्होंने जाति-पांति का विरोध, वाद-विवाद का विरोध एवम् बाहरी कपड़ों का

---

१. सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सबसे पहिले धर्म की ही उन्नति करना उचित है। देखो, अंग्रेजों की धर्म नीति और राजनीति परस्पर मिली है, इससे उनकी दिन दिन कितनी उन्नति है। उनको जाने दो। अपने ही यहां देखो, तुम्हारे यहाँ धर्म की आड़ में नाना प्रकार की नीति, समाज गठन, वैधक आदि भरे हुए हैं।

—वही. भारत की उन्नति कैसे हो सकती है। पृष्ठ ९००

भी विरोध किया, भारतेन्दु अपने विचारों में राष्ट्रोन्नति के परिचायक प्रतीत हुए हैं। उनकी यह दृष्टि प्रगतिशील दृष्टि है। इसका ऊपर उल्लेख पूर्ण रूपेण हो चुका है।

इस प्रकार से इन धार्मिक एवम् सांस्कृतिक निबन्धों की सामान्य विशेषतायें निम्न हैं—

(१) लेखक ने प्राचीन रूढ़ियों और कुरीतियों से जनता को सचेत किया है। यद्यपि इन लेखों में कहीं भी प्राचीनता पर प्राचीनता के नाम पर आरोप लगाकर उसे त्याग देने की बात नहीं कही गई है, फिर भी एक बौद्धिक आधार प्रस्तुत करके और उसकी उपयोगिताओं अथवा अभावों को दिखलाते हुए उन्हीं अभावों के आधार पर प्राचीनता एवं रूढ़ियों को छोड़ देने का संदेश दिया है।

(२) देश वासियों के समक्ष प्राचीनता के गौरवशील अंगों का स्पष्टीकरण करना। वर्तमान को अतीत से जोड़ने का प्रयास भी किया गया है, इसके पीछे भारत के गौरवशाली अतीत की प्रशंसा करके और उसके धनाढ्य होने की ऐतिहासिक पुष्टि करके अतीत के गौरव के प्रति सहज अनुराग प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार से वर्तमान को अपने अतीत के गौरवों द्वारा सहज ही प्रेरणा मिली है।

(३) स्थान स्थान पर उन्होंने विदेशी सभ्यता एवम् संस्कृति को तथा उनके कुप्रभावों को बतला कर, उन्हें अग्राह्य बतलाया है। कोई भी वाह्य संस्कृति को उन्होंने इसीलिए हेम नहीं समझा कि वह वाह्य है, बल्कि अपने देश की संस्कृति एवम् सभ्यता में उन वाह्य कलेवरों का आत्मसात न होना बतला कर ही, उन्हें त्याज्य माना है। एक देश की सभ्यता और संस्कृति दूसरे देश की सांस्कृतिक रुचि से सम्मिलित नहीं कर सकती, उसके आधारभूत सिद्धान्तों का विपरीत होना ही मिल न सकने के लिए बाध्य कर देते हैं।

(४) देश की विभिन्न जातियों एवम् धर्मों में परस्पर एकता स्थापित करना, उनका उद्देश्य रहा है। यद्यपि सभी धर्मों के सिद्धान्त गत विभिन्नताओं की ओर भी उन्होंने प्रकाश डाला है परन्तु राष्ट्रीय हित के लिए, जहां पर राष्ट्र का प्रश्न हो वहाँ सभी धर्मों को एक स्वर से राष्ट्र हित की कामना करने के लिये भी संदेश दिया है।

इन्हीं विशेषताओं के कारण हमें भारतेन्दु के निबन्धों में विचारों की प्रगति का दर्शन होता है। तत्कालीन परिस्थितियों में क्या ग्राह्य है अथवा क्या अग्राह्य यह भारतेन्दु को स्पष्ट विदित होता चलता है, अतएव उनके साहित्य में भी हमें एक शाश्वत चेतना का होना प्रतीत होता है। साहित्यिक प्रगति का यह प्रधान लक्षण है कि सामाजिक एवम् राष्ट्रीय चेतना को साहित्य के द्वारा अनुशासित किया जाय जहाँ ये तत्व साहित्य से दूर जाते हैं वहीं पर साहित्य का विकास रुक जाता है अतएव ये निबन्ध वाह्य एवम् आन्तरिक कलेवरों में प्रगति का द्योतन करते हैं।

कुरुक्षेत्र का सन्देश

कुरुक्षेत्र श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की कृति है। इस कृति में कवि का ध्यान युद्ध की समस्या की ओर आकर्षित हुआ है। आदि से अब तक केवल एक ही स्वर इस प्रबन्ध से गूंजता हुआ सुनाई पड़ता है 'युद्ध होता क्यों है? क्या युद्ध को रोकने का कोई सफल प्रयास है?' इन्हीं का उत्तर देते हुए कवि ने एक प्रबन्ध की सृष्टि कर दी है। इसके अतिरिक्त यह भी समस्या रही है कि युद्ध का दायित्व हो किस पर? पुस्तक के 'निवेदन' में ही यह स्पष्ट किया गया है।

"युद्ध एक निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है? या उस पर, जो इस जाल को छिन्न विछिन्न कर देने के लिए आतुर है?" 'कुरुक्षेत्र' का महत्व आज भी वैसा है। भारत उन परिस्थितियों में होकर जा रहा है जब अहिंसा की तथा शान्ति की नीति अपनाने के बाद भी उसे पड़ोसी राष्ट्रों के द्वारा छेड़ा जा रहा है। इस समस्या का उत्तर 'कुरुक्षेत्र' देता है। कवि ने यह संकेत किया है प्रत्येक युद्ध के पहिले द्विधा उमड़ते हुए क्रोध से लड़ती है। मानव रुककर सोचता है कि केवल क्या यही उपचार है, क्या युद्ध के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है? जब वह कोई और उपाय नहीं पाता तब लड़ने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। कवि के वाचक भीष्म यह संकेत देते हैं कि आत्मा का युद्ध आत्मा से और देह का युद्ध देह से जीता जाता है। अतएव प्रधान रूप से इन समस्याओं को कवि ने लिया है—

(१) युद्ध के अतिरिक्त क्या न्याय पाने का कोई और साधन नहीं है।

(२) वर्तमान जगत की फैली हुई विभीषिकायें किस प्रकार से शान्त की जा सकती हैं? भीष्म वैरागी युधिष्ठिर को संदेश देते हैं—वह संदेश आज के युद्ध के लिए भी एक समाधान प्रस्तुत करता चलता है।

(३) सम्पूर्ण समाज कैसे सुव्यवस्था और शान्ति की प्राप्ति कर सकता है? 'कुरुक्षेत्र' का प्रारम्भ ही कवि की चिन्तनधारा में सिक्त है। कवि सोचता है कि युद्ध में राजा स्वयं क्यों नहीं आगे बढ़कर लड़ता, किशोरों को कटवा कर, उनका शोणित धरती में प्रवाहित करा करके वह सोचता है कि हमारे देश की लज्जा बच गई—

'जो आप तो लड़ता नहीं,
कटवा किशोरों को मगर,

आश्वस्त होकर सोचता,

'शोणित बहा लेकिन गई बच लाज सारे देश की !'

इसके पश्चात, प्रथम सर्ग में ही युद्ध के लिए आतुर मानव यह सोचता हुआ दिखलाया गया है कि रणभूमि में विजय के पश्चात भी, सत्य की प्राप्ति अथवा उस उद्देश्य की प्राप्ति जिसका एक मात्र उपाय ही सत्य को आधार बनाकर चलना था वह नहीं मिला। तब पश्चात्ताप होता है जिस सत्य की प्राप्ति के लिए युद्ध किया जाता है वह विजय के बाद मिला नहीं—शान्ति उसके चरम उद्देश्य के सूत्र में थी परन्तु वह प्राप्त हुई नहीं—और नरमेघ करने वाला व्यक्ति सोचने लगता है–

'नर का बहाया रक्त, हे भगवान ? हमने क्या किया ?'

इसी चिन्तन धारा के साथ महाभारत के युधिष्ठिर का विचार भी जोड़ दिया जाता है। यद्यपि महाभारत की सम्पूर्ण कथा जैसे की तैसे कवि ने नहीं ली है– युग की मान्यताओं तथा नवीनीकरण के साथ उस कथा को जोड़ दिया गया। युधिष्ठिर यह सोचते हुए दिखलाए गए हैं कि द्रौपदी की लज्जा हरे जाने के प्रतिकार में यह युद्ध हुआ–द्रौपदी को सान्त्वना देने के लिए इतना नरसंहार, भारत के इतने राजाओं का विनाश, अभिमन्यु की आहुति, यह सब उसके मस्तिष्क को झकझोर देता है। प्रायः पराजय हुई किसकी ? युधिष्ठिर की विजय तो डँसनेवाली हो गई–राज्य मिला परन्तु श्मशान की भूमि की तरह राज्य जिसमें अभिमन्यु का शव दफ़ना जा चुका हो। इसी दार्शनिक व्यवस्था को करते-करते प्रथम सर्ग की समाप्ति हो जाती है और युधिष्ठिर अपनी शंका का समाधान भीष्म के पास करने को चले जाते हैं। यही समस्या आज के मानव की भी तो है। इतने संघर्ष, इतनी ज्वाला और इतने संहार के पश्चात वह यदि कुछ प्राप्ति करता भी है तो उसे भोगे कौन ? संघर्ष के पश्चात उस विजयी मानव को मिलेगा क्या ? युधिष्ठिर आज के मानव-शासक का प्रतीक है। इस सर्ग के अन्त तक यही प्रश्न प्रधान रहता है—

यह महाभारत - वृथा, निष्फल हुआ,
उफ ! ज्वलित कितना गरलमय व्यंग है !
पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से,
हो गया संहार पूरे देश का।

× × × ×

रक्त से छीने हुए इस राज्य को,
वज्र हो कैसे सहूँगा भोग में ?
आदमी के खून से यह है सना,
और है इसमें लहू अभिमन्यु का।

द्वितीय सर्ग में प्रश्नों से बोझिल मस्तिष्क को लेकर युधिष्ठिर भीष्म से मिलते हैं। वह पूँछते हैं पितामह ! हार मेरी हुई है न, क्योंकि मैं नियति

के व्यंग भरे अर्थों को सुन रहा हूँ। बन्धु-बान्धवों का शव-दाह देख रहा हूँ और सुन रहा हूँ उत्तरा का करुण विलाप।[1] युधिष्ठिर हताश हो जाते हैं। कलिंग के युद्ध के पश्चात वही अशान्ति जो अशोक महान् को हुई वही अशान्ति युधिष्ठिर के मानसिक जगत में भी आई। भारत के अहिंसा का सिद्धान्त, उसका आध्यात्मिक दृष्टि-कोण-मानव को शस्त्रबल से नहीं बल्कि मनोबल से ही जीता जा सकता है—इन सभी का सामूहिक रूप 'दिनकर' का युधिष्ठिर है। भारत की आध्यामिक चिन्तन धारायें उसके व्यक्तित्व में आकर सिमट गई हैं—एक ओर आध्यात्म प्रधान भारत दूसरी ओर मानव की स्वाभाविक हिंसा, प्रतिकार लेने की भावना है। इन दो विरोधी तत्वों को निपटाया कैसे जाय। भीष्म का दार्शनिक रूप तथा व्यवहारिक पक्ष दोनों प्रधान हैं--वे उद्विग्न युधिष्ठिर को समझाने का प्रयास करते हैं। भीष्म युद्ध की उपमा रोग से करते हैं। जब रोग पास आ गया हो तो वह कड़वी औषधि से ही शान्त होगा। उसे मिष्ठान्न से तो नहीं जीता जा सकता।[2] भीष्म युधिष्ठिर को यह भी संदेश देते हैं कि जीवन में पलायन से कार्य नहीं चलता जब चारों तरफ हमारी आजादी खतरे से घिरी पड़ी हो—तब त्याग, तप और तपस्या से काम लेना कायरों की बात है।

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग, तप से काम ले, यह पाप है,
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरे तरफ जो हाथ हो!

तृतीय सर्ग में भी यही चर्चा होती रहती है। शान्ति का महल सुदृढ़ रह ही नहीं सकता, जब तक उस महल की रक्षा करने के लिए एक सुदृढ़ हाथ न हो। यदि हमें क्षमा, सहनशीलता, दया के अस्तित्व को रखना है तो शान्ति की पूजा भी आवश्यक है। एक निर्बल का कोई कार्य शोभा नहीं देता—क्योंकि उसने क्षमा, दया और सहनशीलता विवश होकर स्वीकार किया। यद्यपि भीष्म के ऐसे विचार है फिर भी

१—और बैठ मानव की रक्त सरिता के तीर,
नियति के व्यंग भरे अर्थ गुनता है कौन?
कौन देखता है शव दाह बन्धु-बान्धव का,
उत्तरा का करुण विवाद सुनता है कौन?
—कुरुक्षेत्र, द्वितीय सर्ग पृष्ठ, ९

२—रुग्ण होना चाहता कोई नहीं,
रोग लेकिन आ गया जब पास हो,
तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या?
शमित होगा वह नहीं मिष्ठान्न से।
—वही पृष्ठ १७

वह शान्ति की कामना करते हैं, वह यह सोचने का प्रयास करते हैं कि मनुष्य भाई भाई होकर कैसे जिए ? वह इसी निष्कर्ष पर आते हैं जब सभी सबके अधिकारों को पहिचान लेंगे तभी शान्ति हो सकेगी, जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के ग्रास को कपटने के लिए कटिबद्ध न हो, जब एक का स्वार्थ दूसरे के स्वार्थ का गला घोंट देने को तत्पर न हो, तभी शान्ति हो सकेगी परन्तु यह आदर्श की कल्पना है जो अभी दूर है। अभी तो केवल एक युधिष्ठिर हैं—जब सभी या अधिकांश युधिष्ठिर हो जायेंगे तभी युद्ध की समस्या का अपने आप निदान हो सकेगा। इस समाज की वास्तविक दशा देखते हुए भीष्म के स्वरों को स्वीकार कर ही लेना पड़ता है कि—

पापी कौन ! मनुज से उसका, न्याय चुराने वाला,
या कि न्याय खोजते विघ्न का, सीस उड़ाने वाला !

इसी प्रकार से इस कथा का सूत्र आगे बढ़ता है। युद्ध की समस्या का विश्लेषण एवम् निदान ही कवि का इष्ट रहा है। षष्ठ सर्ग में विज्ञान की प्रगति और मानव पर एक नए सिरे से विचार कर लिया गया है। आज का संसार द्वापर से बहुत आगे आ चुका है—द्वापर के मानव की समस्याओं से बहुत आगे, उन समस्याओं का नया रूप बल्कि, और उलझा रूप, हमारे समक्ष में आ गया है। हमने विज्ञान की प्रगति भी अपने साथ बाँध ली है—हमारा वायु, वारि, विद्युत और भाप पर अधिकार हो चुका है, इस प्रकार से मस्तिष्क बढ़ता गया है और 'हृदय का देश' पीछे छूट गया है।

'यह प्रगति निस्सीम, नर का यह अपूर्व विकास,
चरण तल भूगोल, मुट्ठी में निखिल आकाश।'

इन दो पंक्तियों में ही समस्त प्रगति की रूपरेखा प्रस्तुत कर दी गई है। एक ओर तो ऐसी प्रगति है—मानव के जय का इतिहास है और उसके प्रत्यक्ष उदाहरण भी हैं परन्तु इस सम्पूर्ण विजय और अधिकारों को प्राप्त करने के बाद भी मिल क्या रहा है ? आज के मानव की विशेषताएँ कवि के ही सशक्त शब्दों में देखिये—

यह मनुज ज्ञानी, शृगालों कुक्कुरों से हीन—
हो किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन,
देह ही लड़ती नहीं, है जूझते मन प्राण,
साथ होते ध्वंस में इसके कला विज्ञान,
इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,
वज्र होकर छूटते शुभ धर्म अपना भूल !!

इस प्रकार से हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि कुरुक्षेत्र में आज की समस्याओं को लेकर विचार किया गया है। एक ओर युधिष्ठिर का अहिंसावाद है और दूसरी ओर भीष्म का संदेश जो इसी जीवन को महान् बनाना चाहता है—वह युद्ध

नहीं चाहते, अन्याय नहीं चाहते परन्तु अन्याय का पोषण करना भी तो उनका ध्येय नहीं है। भीष्म के व्यक्ति की महानता यही है कि उनमें वही पलायन नहीं है। जीवन को आँख गड़ा कर देखा है, उसे समझा है और शान्ति चेष्टा, आत्म समर्पण करके कहीं भी वे नहीं करते।

कुरुक्षत्र का सप्तम सर्ग तो दार्शनिकता से ओत-प्रोत है। वह दर्शन भी practical philosophy है, दर्शन के लिए दर्शन नही—वह दर्शन जो सम्भव हो सके यथार्थ और आदर्श का एक सफल प्रयोग है। आज के मनुष्यों को युधिष्ठिर के वहाने संदेश है कि मिट्टी से भगो नहीं, इसके भार को सम्हालो[१] व्योम प्रवासी रह करके मनुष्य कुछ पा नहीं सकता है। माना यहाँ संघर्ष है, ज्वाला है, प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की भट्ठियाँ सुलग रही है परन्तु इसी ज्वाला में तप-तप करके मृतक को अपने व्यक्तित्व को सुलझाना है। जाते-जाते 'दिनकर' के भीष्म युधिष्ठिर को समझा ही देते हैं अपर, स्वर्ग की वात इस धरती के लिए उतनी सार्थक नहीं जितनी कि इस धरती की चिन्ता। इस मिट्टी और यहाँ के जीवन में सव कुछ है।[२] इसी धरा को तो हमें स्वर्ग बनाना है। एक ओर भारत का अहिंसावादी दर्शन जो गांधी जी के द्वारा हमारे धमनियों में रक्त के साथ प्रवाहित कर रहा है और दूसरी ओर कर्म का सिद्धान्त, इन दोनों का निर्वाह युधिष्ठिर और भीष्म के रूप में हुआ है। जिन्हें कर्म पर विश्वास है, जो जीवन मे स्वस्थ भावनाओं को लेकर संघर्ष करना जानते हैं, वह ही जीवन के अधिकारी हैं। विज्ञान ने हमें सब कुछ दिया परन्तु उसका प्रयोग, उस संचित शक्ति का सदुपयोग, हमारी निष्ठा और सद्‌बुद्धि ही हमें सिखा सकती है। जिस दिन मानव इस सत्य को पहिचान लेगा उसी दिन इस धरती की कुछ समस्यायें तो कम हो ही जायेंगी। संक्षेप में कुरुक्षेत्र का यही आज की विषम परिस्थियो में पलते हुए मानव को सन्देश है।

समाप्त

१—मिट्टी का यह भार सम्हालो, बन कर्मठ सन्यासी,
पा सकता कुछ नहीं मनुज, बन केवल व्योम प्रवासी!

२—ऊपर सब कुछ शून्य शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में,
धर्म राज ! जो कुछ है, वह है, मिट्टी में, जीवन में! !
भोगो तुम इस भाँति मृत्ति को, दाग नहीं लग पाये,
मिट्टी में तुम नहीं, वही तुम में विलीन हो जाये ! !